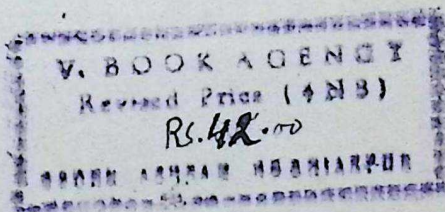


AJANTA BOOKS INTERNATIONAL
1, Indraprastha Ganga Mutt, Melkote, Tamil Nadu.

विश्वेश्वरानन्द-संस्थान-प्रकाशनम्- ४३५

विश्वेश्वरानन्द-भारतभारती-ग्रन्थमाला—४३

Vishveshvaranand Indological Series—41



VISHVESHWARANAND INSTITUTE PUBLICATION—435

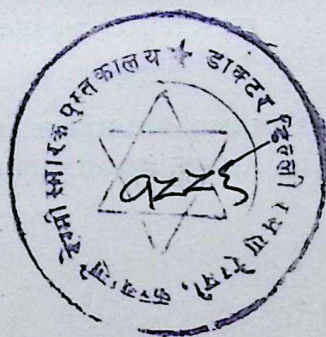
**ORIGIN AND DEVELOPMENT
OF
THE HARIYANVI DIALECT**

NANAK CHAND SHARMA, M.A., Ph. D.,
District Language Officer
Rohtak, Haryana

H O S H I A R P U R
VISHVESHVARANAND VEDIC RESEARCH INSTITUTE
1968

हरियाणवी भाषा का उद्गम तथा विकास

नानक चन्द शर्मा, एम. ए., पीएच. डी.
जिला भाषा अधिकारी
रोहतक, हरियाणा



होशिआरपुरम्
विश्वेश्वरानन्द-वैदिक-शोध-संस्थानम्

१९६८

संपादक (Editor):

विश्वबन्धु: (VISHVA BANDHU)

सर्वेधिकाराः सुरक्षिताः

प्रथमं संस्करणम् , १९६८

प्रकाशकृत्—विश्वेश्वरानन्द-वैदिक-शोध-संस्थानम्

(पत्रगृहम्) साधु आश्रमः, होशियारपुरम् , (पं., भारतम्)

*Thesis approved for the degree of Doctor of Philosophy
in Linguistics by the University of Panjab in 1964*

All Rights Reserved

FIRST EDITION, 1968

Publishers :

VISHVESHVARANAND VEDIC RESEARCH INSTITUTE,
P. O. Sadhu Ashram, HOSHIARPUR (Pb., India)

भारते होशियारपुरे, वि. वै. शो. सं. मुद्रागृहे ।

शास्त्रिणा देवदत्तेन मुद्राप्येदं प्रकाश्यते ॥

Printed and published by DEVA DATTA, Shastri
at the V. V. R. I. PRESS, Hoshiarpur (Pb., India)

हरियाणा-प्रदेश के बन्ध-प्रतिष्ठ विद्वान्
पं० स्थाणुदत्त शर्मा जी
के करकमलों में सादर समर्पित

सर्वज्ञ ब्रह्मदेवः सर्वभूतेश्वरः

सर्वज्ञः सर्वभूतेश्वरः

सर्वज्ञः सर्वभूतेश्वरः

विषय-सूची

परिचय	... xv—xxi
संकेत पत्र	... xxii—xxiv
विषय-प्रवेश	... १—४२
१. भाषा का नामकरण	... १—१०
२. हरियाणवी का क्षेत्र विस्तार	... १०—११
३. हरियाणवी की विशेषताएं	... ११—१५
४. हरियाणवी : हिन्दी-उर्दू तथा पंजाबी	... १५—२८
५. हरियाणवी का महत्त्व	... २८—३०
६. हरियाणवी के अध्ययन की आधारभूत सामग्री	... ३०—३३
७. हरियाणवी की विभाषाएं या बोलियां	... ३३—३७
८. हरियाणवी का शब्द-कोष	... ३७—४२

प्रथम खण्ड

(ध्वनि-तत्त्व)

पहला अध्याय

हरियाणवी के ध्वनिग्राम	... ४४—५५
अतिखंडीय ध्वनिग्राम	... ४४
खंडीय : व्यंजन	... ४५
: स्वर	... ४५
ध्वनिग्रामों का विवरण : अतिखंडीय	... ४५—४६
: खंडीय-व्यंजन	... ४७—४८
” स्वर	... ४८—४९
हरियाणवी ध्वनिग्रामों के सम्बन्ध में अन्य ज्ञातव्य बातें	... ४९—५०
खंडीय ध्वनि-ग्रामों का वितरण	... ५०—५१
हरियाणवी के संयुक्त व्यंजन : पद के आदि तथा अन्त में	... ५१—५२
: पद के मध्य में	... ५२
स्वर-परम्परा : पद के मध्य स्वर-परम्परा	... ५२—५३
: पदान्त में स्वर-परम्परा	... ५३—५५
: स्वर-परम्परा की तालिकाएं	... ५५

दूसरा अध्याय

प्रा० तथा म० भा० आ० भा० के स्वरों का	
हरि० में परिवर्तन : अन्त्य स्वर	... ५६—६०

तीसरा अध्याय	
आदि स्वर	... ६१—६५
चौथा अध्याय	
शब्द के आभ्यन्तरिक स्वर	... ६६—६७
पांचवां अध्याय	
हरियाणवी में आभ्यन्तरिक स्वरों का अक्षरण रहना	... ६८—६९
छठा अध्याय	
सम्पर्की स्वर	... ७०—७६
सामान्य बातें	... ७०—७१
सम्पर्की (उद्धृत्त) स्वरों का संयोग	... ७२
प्र० भा० आ० भा० के ऋ का परिवर्तन	... ७३—७६
म० तथा आ० भा० आ० भा० में अनुस्वार	... ७६—७६
सातवां अध्याय	
स्वरागम, स्वर भक्ति या विप्रकर्ष	... ८०—८१
आठवां अध्याय	
हरि० स्वरों की उत्पत्ति	... ८२—८८
नौवां अध्याय	
हरि० में प्रा० भा० आ० भा० के व्यंजनों के परिवर्तन सम्बन्धी सामान्य नियम	... ८९—१०६
म० भा० आ० भा० में व्यंजन परिवर्तन की सामान्यस्थिति	... ८९
हरि० में परिवर्तन : आदि एक व्यंजन :	... ८९—९१
स्पर्श व्यंजन	... ८९—९०
अनुनासिक	... ९०
अर्धस्वर य्, व्	... ९०
र् तथा ल्	... ९१
शिन् ध्वनि	... ९१
स्वर मध्यवर्ती व्यंजन : एक व्यंजन	... ९१—९७
प्रा० भा० आ० भा० के संयुक्त व्यंजन :	
दो व्यंजन :	... ९७—१०४
दो से अधिक व्यंजनों का समूह :	... १०४

व्यंजनों का पारस्परिक व्यत्यय	... १०४—१०५
मध्य वर्णागम	... १०५
हरि० में वर्णसमुच्चय	... १०५—१०६
हकार का आगम तथा लोप	... १०६—१०७
घोषत्व तथा अघोषत्व	... १०७
वर्ण-विपर्यय	... १०७
ध्वनि-लोप	... १०७—१०८
सम्पर्की व्यंजन	... १०८
समीकरण	... १०८
विषमीकरण	... १०८
सामासिक तथा प्रतिध्वनित शब्द	... १०८—१०९

दसवां अध्याय

हरि० व्यंजनों की उत्पत्ति	... ११०—१११
स्पर्श	... ११०—११६
अनुनासिक	... ११६—११७
अर्धस्वर : य्, व्	... ११७—११८
: र्, ल्	... ११८—११९
शिन् ध्वनियां	... ११९—१२०
घोष तथा अघोष 'ह'	... १२०—१२१

द्वितीय खण्ड

(रूप-तत्त्व)

पहला अध्याय

प्रत्यय तथा उपसर्ग	... १२४—१२६
संज्ञा-पद निर्माण में सहायक प्रत्यय	... १२४—१२७
लघ्वर्थक प्रत्यय	... १२७—१२८
उपसर्ग	... १२८—१२९
विशेषण बनाने वाले प्रत्यय	... १२९—१३०
क्रिया-विशेषण बनाने वाले प्रत्यय	... १३०—१३१

दूसरा अध्याय

समास	... १३७—१४४
समासों की रचना और उनका महत्त्व	... १३७—१३८
समासों का वर्गीकरण	... १३८—१३९
समुच्चय-मूलक (द्वंद्व समास)	... १३९—१४०

हरियाणवी का उद्गम तथा विकास

आश्रय मूलक : तत्पुरुष	... १८०—१८१
कर्मधारय	... १८१—१८३
द्विगु	... १८३
बहुव्रीहि	... १८३—१८४

तीसरा अध्याय

संज्ञा के रूप	... १८५—२०५
सामान्य बातें	... १८५—१८६
लिंग	... १८६—१८०
संज्ञाओं के रूप	... १८०—१८१
वचन	... १८१—१८४
कारक	... १८४—२०२
परसर्गीय शब्दावली	... २०२—२०५

चौथा अध्याय

विशेषण	... २०६—२२२
सामान्य बातें	... २०६
विशेषण के रूप	... २०६—२०७
विशेषणों की संरचना	... २०७—२०८
तुलनात्मक श्रेणियाँ	... २०८—२०९
विशेषणों के भेद	... २०९—२१०
गुणवाचक विशेषण	... २१०
सम्बन्ध द्योतक विशेषण	... २१०
संख्या बोधक विशेषण	... २१०—२२१
गणनात्मक	... २१०—२१६
क्रमात्मक	... २१६—२१७
गुणात्मक	... २१७—२१८
समूह-वाचक	... २१६
समानुपाती	... २१६—२२०
भिन्नात्मक	... २२०
ऋणात्मक	... २२०
प्रत्येक वाची	... २२०
निश्चित संख्यावाचक	... २२०
अनिश्चित संख्या-वाचक	... २२०—२२१
सर्वनाम-जात-विशेषण	... २२१—२२२

विषय-सूची

पांचवां अध्याय

सर्वनाम	...	२२३—२३८
सामान्य वातें	...	२२३
पुरुष वाचक	...	२२३—२२९
उत्तम पुरुष	...	२२३—२२७
मध्यम पुरुष	...	२२७—२२६
संकेत वाचक, सम्बन्ध वाचक आदि सर्वनामों के रूप—	...	२२९—२३१
दूरवर्ती संकेत वाचक	...	२३०
निकटवर्ती संकेत वाचक	...	२३०
प्रश्न बोधक	...	२३०—२३१
सम्बन्ध वाचक	...	२३१
संगति मूलक	...	२३१
संकेत वाचक, सम्बन्ध वाचक आदि सर्वनामों की व्युत्पत्ति—	...	२३१—२३६
मूल पदग्रामों की व्युत्पत्ति	...	२३२—२३३
कर्तृरूपों की व्युत्पत्ति	...	२३३—२३५
विकारी रूपों की व्युत्पत्ति	...	२३५—२३६
अनिश्चय वाचक सर्वनामों के रूप	...	२३६
अनिश्चय वाचक सर्वनामों की व्युत्पत्ति	...	२३६
निज वाचक तथा आत्म वाचक सर्वनाम	...	२३७
आदर सूचक सर्वनाम	...	२३७
मिश्र तथा यौगिक सर्वनाम	...	२३८
सर्वनाम-जात विशेषण तथा क्रियाविशेषण	...	२३८

छठा अध्याय

क्रिया-पद	...	२३६—२७८
क्रियाओं के विकास का संक्षिप्त इतिहास	...	२३६—२४०
धातुएं : वर्गीकरण	...	२४०—२४१
सिद्ध धातुएं : साधारण धातुएं	...	२४१—२४७
तद्भव सिद्ध धातुएं : साधारण	...	२४१—२४३
: सोपसर्ग	...	२४३—२४५
सं० णिजन्त से उद्भूत सिद्ध धातुएं	...	२४५—२४६
तत्सम तथा अर्ध-तत्सम धातुएं	...	२४६
नाम धातुएं	...	२४६
योगज धातुएं	...	२४७

साधित धातुएं :	...	२४७—२५१
कर्म-सापेक्ष धातुएं	...	२४७
प्रेरणार्थक धातुएं	...	२४८—२४९
नाम धातुएं	...	२४९
मिश्रित धातुएं	..	२५०
ध्वन्यात्मक तथा अनुकरणज धातुएं	...	२५०—२५१
देसी तथा संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली धातुएं	...	२५१—२५२
अकर्मक तथा सकर्मक धातुएं	...	२५२
धातु रूप-प्रक्रिया	...	२५२—२५३
प्रकार	...	२५३—२५४
वाच्य	...	२५४
काल रचना	...	२५५—२५६
कालों का वर्गीकरण	...	२५६—२५७
सरल या मौलिक रूपों वाला काल समूह	...	२५६—२६२
तिङन्त या प्रत्यय संयोगी	...	२५७—२६१
वर्तमान इच्छार्थक	...	२५७—२५८
वर्तमान आज्ञार्थक	...	२५८—२६१
कृदन्तीय	...	२६१—२६२
भविष्यत् आज्ञार्थक	...	२६१
साधारण अतीत	...	२६१—२६२
कारणात्मक अतीत	...	२६२
यौगिक रूपों वाला काल समूह	...	२६२—२७०
सहायक क्रियाएं	...	२६३—२६५
तिङन्त रूपों के साथ सहायक क्रियाएं लगा कर	...	२६५—२६७
घटमान वर्तमान (कर्तृ वाच्य)	...	२६५—२६६
घटमान भूत (कर्तृ वाच्य)	...	२६६
सामान्य भविष्यत् (कर्तृ वाच्य)	...	२६६—२६७
संदिग्ध भविष्यत् (आसन्न भविष्यत्)	...	२६७
(कर्तृ वाच्य) कर्मवाच्य के रूप	...	२६७
कृदन्त रूपों से बनने वाला काल समूह	...	२६८—२७०
पूर्वकालिक वर्तमान, भूत, भविष्यत्	...	२६८
घटमान संभाव्य वर्तमान	...	२६८

घटमान भविष्यत्	... २६८—२६९
घटमान संभाव्य अतीत	... २६९
पुराघटित वर्तमान	... २६९
पुराघटित भूत	... २६९
पुराघटित संभाव्य वर्तमान	... २६९—२७०
पुराघटित भविष्यत्	... २७०
पुराघटित संभाव्य अतीत	... २७०
समस्त अथवा संयुक्त क्रिया पद	... २७०—२७८
दो धातुओं वाली संयुक्त क्रियाएं	... २७२—२७६
दो से अधिक धातुओं वाली संयुक्त क्रियाएं	... २७६—२७८
धातुओं की आवृत्ति	... २७८

सातवां अध्याय

क्रिया-विशेषण	... २७९—२८४
संज्ञा आदि से निर्मित क्रिया-विशेषण	... २७९
सर्वनाम-जात क्रिया-विशेषण	... २७९—२८४
क्रियाविशेषणों की व्युत्पत्तियां	... २८०
क्रिया-विशेषणों में निश्चय और अनिश्चय की ध्वनि	... २८१
क्रिया-विशेषणों के साथ परसर्गों का प्रयोग	... २८१—२८२
क्रिया-विशेषणों की आवृत्ति	... २८२
क्रिया-विशेषणों के रूप में प्रयुक्त होने वाले अव्यय—	... २८२—२८४
काल वाचक	... २८२
स्थान वाचक	... २८३
रीति वाचक	... २८३
परिमाण वाचक	... २८३
निषेध तथा स्वीकृति सूचक अव्यय	... २८४
वाक्य खंडात्मक क्रिया विशेषण	... २८४

आठवां अध्याय

संयोजक	... २८५—२८७
संयोजक अव्यय और उनका वर्गीकरण	... २८५—२८६
समान-वाक्य-संयोजक अव्यय	... २८६—२८७
समुच्चय बोधक	... २८६
प्रतिषेधक	... २८६
विभाजक	... २८६—२८७
अनुधारणात्मक	... २८७

असमान पद संयोजक अव्यय

... २८७

नौवां अध्याय

विस्मयादि बोधक अव्यय

... २८८—२९४

सामान्य बातें

... २८८—२९०

विस्मयादिबोधक अव्ययों का वर्गीकरण

संरचना की दृष्टि से :

... २८९—२९०

मूल

... २८९

यौगिक

... २९०

आवृत्तिमूलक

... २९०

अर्थ विचार की दृष्टि से :

सम्प्रति सूचक

... २९०

नकारात्मक

... २९१

अनुमोदन सूचक

... २९१

घृणा तथा विरक्ति सूचक

... २९१—२९२

विस्मय बोधक

... २९२

प्रश्न सूचक

... २९२

भय-यंत्रणा तथा मनः-कष्ट द्योतक

... २९२—२९३

हर्ष सूचक

... २९३

करुणा द्योतक

... २९३

संबोधन के लिए प्रयुक्त होने वाले अव्यय

... २९३—२९४

आदर सूचक तथा आशीर्वाद के लिए प्रयुक्त अव्यय

... २९४

परिशिष्ट

१. हरियाणवी में फारसी ध्वनियों का विकास ... २९६—३०१

२. आधुनिक हरियाणवी के उदाहरण : ... ३०२—३१६

(१) ठेठ हरि० के उदाहरण ... ३०२—३१६

(२) बांगरू के नमूने ... ३१६—३१८

(३) अहीरवाटी के नमूने ... ३१८—३१९

३. सहायक सामग्री ... ३२०—३२३

हिन्दी-उर्दू पुस्तकों की सूची ... ३२०—३२१

अंग्रेजी पुस्तकों की सूची ... ३२२—३२३

परिचय

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥
(भर्तृहरि)

शब्द-ब्रह्म की महिमा अत्यन्त विचित्र है। भाषा परम्परागत सम्पत्ति होने के नाते शब्द-ब्रह्म को अज और अनन्त निःसंकोच कहा जा सकता है परन्तु विकास-शील होने के नाते उसे अव्यय मानने में संदेह होने लगता है। कुछ भी हो, ज्ञानी लोग जैसे ब्रह्मसत्ता की खोज में, उसके स्वरूप को पहचानने में, तन-मन की चित्त-वृत्तियों को एकाग्र करके लगे रहते हैं वैसे ही भाषा-विज्ञानी लोग अपने शब्दब्रह्म की सत्ता पहचानने में लगे रहते हैं। प्रस्तुत निबन्ध शब्द-ब्रह्म के एक जिज्ञासु का अपनी जिज्ञासा शान्ति के निमित्त किया गया बाल-प्रयत्न है।

हिन्दी का वर्तमान स्वरूप संस्कृत गर्भित शब्दावली से इतना प्रच्छन्न हो गया है कि इसने अपनी वास्तविक सत्ता को, अपने असली स्वरूप को, भुला दिया है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हिन्दी के वास्तविक स्वरूप का ह्रास हो चुका है अथवा वह स्वरूप आज विद्यमान ही नहीं है। इसकी वास्तविक शक्ति अपने तद्भव शब्दों में निहित है और वह आज भी उत्तर भारत के करोड़ों लोगों के मुखारविंद में छिपी बैठी है। हिन्दी की इस तद्भव शब्द-शक्ति को पहचानने के लिए इन करोड़ों लोगों की बोलियों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है, इसके बिना इसके स्वरूप का सही ज्ञान संभव नहीं है।

आधुनिक खड़ी बोली, हिन्दुस्तानी अथवा हिन्दी का आविर्भाव दिल्ली और आगरे के आस-पास के इलाके की कई एक बोलियों के सहयोग से हुआ है। इसमें हरियाणा प्रदेश की बोली का योगदान सर्वप्रमुख रहा है। प्रारंभिक हिंदी अथवा हिंदवी के प्राचीनतम नमूने दक्खिनी हिंदी में पाए जाते हैं। इस भाषा में हरियाणवी के पर्याप्त तत्त्व आ गए हैं^१। अतः हिन्दी के स्वरूप को समझने के लिए इसकी आधार-भूत उपभाषा हरियाणवी का अध्ययन बहुत आवश्यक है।

हरियाणवी स्थूल रूप से जिला रोहतक, जिला हिसार के पूर्वी भाग और दिल्ली के समीपवर्ती इलाके की भाषा है। इसका परिचय सर जार्ज ग्रियर्सन के 'लिग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया' में बांगरू, हरियाणी अथवा जाटू नाम से मिलता है। यहां इसकी प्रमुख विशेषताओं का ज्ञान तो दूर रहा, अपितु इसमें हरियाणी अथवा बांगरू सम्बन्धी, परस्पर विरोधी विभिन्न मतों को पढ़ कर मनुष्य भ्रांति में पड़ जाता है^२। सर्वे के कार्य को सुगम बनाने के लिए जिला रोहतक के तात्कालिक डी० सी० महोदय श्री ई० जोसफ ने

१. विषय प्रवेश में 'हरि० का महत्त्व' शीर्ष के अन्तर्गत दक्खिनी के कुछ नमूनों की चर्चा की गई है।

२. विषय-प्रवेश में 'हरियाणवी, उर्दू-हिन्दी और पंजाबी' उपशीर्ष के अन्तर्गत हमने सर जार्ज ग्रियर्सन के विभिन्न मतों का उल्लेख करके वास्तविक स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

जाटू ग्लासरी बनाई और उसके साथ भाषा का संक्षिप्त व्याकरण भी लिखा। 'सर्वे' के परिचय का आधार जाटू ग्लासरी और इसका संक्षिप्त व्याकरण है। हरियाणवी भाषा के देशी शब्दों के सर्वप्रथम अध्ययन के नाते इस पुस्तक का ऐतिहासिक मूल्य अवश्य है अन्यथा एक विदेशी होने के नाते जोसफ महोदय कई एक शब्दों के शुद्ध उच्चारण तक को और इसी प्रकार उनके सही अर्थ को नहीं समझ सकते हैं।¹ इसी प्रकार व्याकरण में 'साहब नै मन्नै मार्या' का उदाहरण इस बात का द्योतक है कि वे भाषा की प्रवृत्ति अथवा प्रकृति से परिचित नहीं हो पाए थे। व्याकरण के विचार से यह वाक्य शुद्ध होते हुए भी भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से अस्पष्ट है। साहब ने मारा या मैंने साहब को मारा जैसी अस्पष्ट अभिव्यक्ति जन मानस में नहीं ठहर सकती और उपभाषा मूलतः जनमानस की बहु-मूल्य निधि होने के कारण ऐसे छोटे सिक्कों को नहीं रख सकती। संक्षेप में उक्त दोनों विद्वानों ने भागीरथ प्रयत्न किया फिर भी हमें हरियाणवी के स्वरूप का सही-सही परिचय नहीं मिलता।

'हरियाणवी' पर 'बांगरू का संरचनात्मक अध्ययन' के नाम से डा० जगदेव सिंह ने अमरीकी पद्धति पर बहुत सारा काम किया है। इस ग्रन्थ की विश्लेष्य भाषा सामग्री के लिए डाक्टर महोदय स्वयं ही सूचक (informant) हैं और उनके कथनानुसार उनकी भाषा भगवतीपुर ग्राम (जिला रोहतक) की प्रतिनिधि भाषा है। डा० साहब का ग्रन्थ हरियाणवी का सर्वप्रथम वैज्ञानिक अध्ययन है। यह भाषा का विश्लेषणात्मक अध्ययन है, पर हमारे विचार में विश्लेषणात्मक अध्ययन के साथ-साथ भाषा के विकास का ऐतिहासिक अध्ययन भी नितान्त आवश्यक है। यह ठीक है कि विश्लेषण से पूर्व हम उसके प्राचीन इतिहास क्रम की ओर भाँकने में असमर्थ रहते हैं, परन्तु यह भी एक कठोर सत्य है कि विश्लेषण करते समय शब्द के प्राचीन विकास-क्रम पर दृष्टिपात कर लेने से विश्लेषण में रहने वाली सामान्य सी भूल सहज ही पकड़ में आ जाती है और उसका स्वयं ही निराकरण हो जाता है।

हरियाणवी के प्रस्तुत अध्ययन में दो बातों का विशेष ध्यान रखा गया है :—

पहले इस बात का कि इसके अन्तर्गत हरियाणा प्रदेश में प्रचलित सभी रूपों का समावेश हो सके जैसे 'कहां' के लिए इस इलाके में 'कित्', 'कड़े', 'कठे', 'कीधे', 'काँहूँ', 'कां' आदि रूप प्रचलित हैं। इस दृष्टि से स्थान-स्थान पर घूम कर हमने विभिन्न प्रचलित रूपों को एकत्रित करने का प्रयत्न किया है और उन्हें अपनी पुस्तक में शामिल कर लिया है।

दूसरे यह कि भाषा-संरचना का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए इस के अन्तर्गत शब्दों के विकास-क्रम पर भी दृष्टिपात कर लिया जाए ताकि प्रस्तुत अध्ययन एक ओर तो यथा-संभव स्वतः पूर्ण बन सके और उसके पदग्रामों के अध्ययन में कोई त्रुटि न रह जाए, तथा

१. जोसफ महोदय ने 'दूंदी' का अर्थ 'मूर्ख' दिया है। उन्होंने इसके प्रयोग का उदाहरण भी दिया है परन्तु संदर्भ से इसका अर्थ 'पेटू' निकलता है। 'दूंद' का अर्थ तोंद होने से यह अर्थ ठीक भी है। जाटू ग्लासरी के निम्नलिखित शब्दों से पता चलता है कि वे इनका शुद्ध उच्चारण नहीं समझ पाए हैं (शुद्ध उच्चारण कोष्ठों में दिया जा रहा है) : दल्या (दलिया), देऔता (घोहूता), दोली (घोहूती) ने-ओत्ना (न्योत्णां) आदि।

दूसरी ओर इस भाषा के प्राचीन रूप इसकी अर्थ-विकास-पद्धति का कुछ दिग्दर्शन करवा सकें जिस से भविष्य के शोध-कर्ताओं को इस ओर ध्यान देने की प्रेरणा मिल सके। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए दो एक उदाहरण प्रस्तुत करना असंगत न होगा। हरियाणवी के 'बिग्', 'बिग् जा' और 'गली बगों से' आदि का अध्ययन संस्कृत ✓वल्ग् के ज्ञान पर अधिक रोचक बन जाता है। फिर ✓वल्ग् के मूल अर्थ पर ध्यान जाते ही 'गली बगों से' की रचना कितनी विचित्र प्रतीत होती है और इसी प्रकार 'बिग्जा' में 'बिग्' का स्वतंत्र अस्तित्व विलीन हुआ दिखाई देता है। इसी प्रकार 'गूदड़िआ मरकोल् हुर्मत् मरें जडाई' लोकोक्ति का सही अर्थ 'मरकोल्' का इतिहास समझे बिना नहीं लगाया जा सकता। अतः किसी जन-भाषा को पूरी तरह समझने के लिए इसका ऐतिहासिक अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

उपर्युक्त दोनों उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए इन पंक्तियों के लेखक ने हरियाणवी के अध्ययन के लिए अपेक्षित सामग्री जुटाने का प्रयत्न किया है। हरियाणवी में लिखित साहित्य का अभाव रहा है, फिर भी प्राचीन हरियाणवी के नमूने इकट्ठे करने के लिए इधर-उधर पर्याप्त दौड़-धूप की गई परन्तु इसमें सफलता नहीं मिल सकी। डा० मसऊद हुसैन ने अपनी पुस्तक 'तारीख जवाने उर्दू' में कुछ प्राचीन हरियाणवी भाषा के लेखकों का उल्लेख किया है और उनकी रचनाओं से कुछ उद्धरण भी दिए हैं। इन उद्धरणों की भाषा से पता चलता है कि वे लोग विशुद्ध हरियाणवी के लेखक नहीं हैं। उनकी भाषा धीरे धीरे पनपने वाली साहित्यिक भाषा है जिसमें प्रादेशिक भाषा के शब्द मिल जाते हैं। इन रचनाओं की अपेक्षा परम्परागत लोक-गीतों में विशेषतः ऐसे लोक गीतों में जो देवी-देवताओं के पूजने के निमित्त गाए जाते हैं, पर्याप्त प्राचीनता के दर्शन होते हैं।^१ डा० मसऊद हुसैन ने जिन लेखकों का उल्लेख किया है, उनकी भाषा गलत ढंग के परिणाम पर पहुँचाएगी, उदाहरणार्थ डाक्टर साहब इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि हरियाणवी की 'सूँ', 'सां' आदि सहायक क्रियाएं बाद में पंजाबी के प्रभाव से आई हैं (तारीख जवाने उर्दू पृष्ठ २४८)। ध्यान रहे कि पंजाबी में 'सां', 'सो' आदि सहायक क्रियाएं भूतकाल में प्रयुक्त होती हैं जब कि हरियाणवी में इनका प्रयोग वर्तमान काल में होता है। चूँकि 'सूँ', 'सां' आदि सहायक क्रियाओं का प्रयोग इन लेखकों की शहरी और अर्धसाहित्यिक भाषा में नहीं मिलता अतः डाक्टर साहब ने उपर्युक्त निष्कर्ष निकाल डाला। इन लेखकों की रचनाओं में मिलने वाले 'लाय कर', 'खाय कर' आदि रूपों की अपेक्षा परम्परागत लोक गीतों में मिलने वाला रूप 'खपाए के'^२ इन रूपों के विकास क्रम पर अधिक प्रकाश डालता है।

प्राचीन साहित्य की खोज के पश्चात् आधुनिक मुद्रित साहित्य पर दृष्टि गई, परन्तु इसे भी किसी वैज्ञानिक अध्ययन का आधार नहीं बनाया जा सकता।^३ अतः दैनिक जीवन प्रवाह के महानद

१. गूदड़ों वाला अर्थात् मोटे और फटे पुराने कपड़े पहनने वाला व्यक्ति मजे में रहता है और शर्मदार जड़ाया मरता है। मरकोल वस्तुतः माकूल (उपयुक्त) का ही विकसित रूप है।

२. परिशिष्ट दो में कुछ ऐसे गीत दिए गए हैं।

३. दे० परिशिष्ट २, गीत सं० १२।

४. विशेष चर्चा के लिए देखिए; हरि० के अध्ययन का आधार (विषय प्रवेश)।

से शब्द रत्नों को एकत्रित करने का उपक्रम किया गया। बारह-बारह कोस पर पानी और बोली में फरक पड़ जाता है, इसलिए केन्द्रीय हरियाणा, (हांसा, महम), की भाषा को आधार मान कर वैज्ञानिक ढंग से अपेक्षित भाषा सामग्री जुटाई गई। इसके पश्चात् ठेठ हरियाणवी से अत्यन्त समानता रखने वाली बोलियों के नमूने इकट्ठे किए गए और फिर 'पाइअ सद् महणवो' के आधार पर शब्दों के प्राकृत तथा संस्कृत रूप स्थिर किए गए। अन्त में इसी उपलब्ध सामग्री को आधार मान कर भाषा की संरचना का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया तथा प्रत्येक रूप के विकास के इतिहास-क्रम पर दृष्टि डाली गई।

इस पुस्तक के विषय प्रवेश में सात आठ समस्याओं पर विचार किया गया है। भाषा के नामकरण पर विचार करते हुए हमने 'हरियाणा' शब्द की व्युत्पत्ति पर और उसकी सीमाओं पर प्रकाश डाला है। इस प्रदेश का नाम हरियाणा चिरकाल से प्रचलित है पर कई एक विद्वानों से बातचीत करने पर भी इस नामकरण के सम्बन्ध में जिज्ञासा बनी ही रहती थी। प्रस्तुत निबंध लिखने का अवसर मिलने पर यह जिज्ञासा और बढ़ गई और इसे पूरी तरह शान्त करने के लिए अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थों, गजटियरों आदि का अध्ययन किया गया। इनसे जो सामग्री उपलब्ध हुई उसे भाषा-वैज्ञानिक कसौटी पर कसते हुए हम 'आर्याणक' (आर्यों का भू भाग) शब्द तक पहुंचे हैं। इसी प्रकार सीमा सम्बन्धी 'जिज्ञासा इम्पीरियल गजटियर आफ इण्डिया' में निर्दिष्ट सीमा के साथ कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के प्रो० पं० स्थाणुदत्त शर्मा जी के निबंध 'हरियाणे की भाषा'^१ में निर्दिष्ट जनश्रुति के आधार पर दी गई सीमाओं के साथ कुछ सीमा तक मिल जाने पर शान्त हो गई। हरियाणवी-भाषा की सीमाएं निर्धारित करने के लिए हमने अपने भ्रमण द्वारा प्राप्त अनुभव से काम लिया है जिसका सामान्य आधार हरियाणे की उपभाषाओं में मिलने वाली अत्यधिक समानता ही रहा है। जहां अथवा जिस क्षेत्र से असमानता के अत्यधिक लक्षण मिलने आरंभ हो गए, हमने वहीं से हरियाणवी की सीमा-रेखाएं निर्धारित की हैं।

विषय प्रवेश के अंतर्गत हरियाणवी की विशेषताओं, हिन्दी तथा पंजाबी के साथ इसका सम्बन्ध, इसकी शब्दावली आदि अनेक बातों पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त इसी संदर्भ में हमने हरियाणवी की उपभाषाओं पर तुलनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत किया है। हमारा मूलोद्देश्य भाषाओं अथवा उपभाषाओं या बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन नहीं था। इसलिए इस विषय को अत्यन्त संक्षेप से रखा गया है। इस सम्बन्ध में एक बात विशेष उल्लेखनीय है कि हमने ऐतिहासिक दृष्टि से केवल ठेठ हरियाणवी पर ही विचार किया है। इसकी उपभाषाओं के शब्दों को इसलिए छोड़ दिया गया कि उनके अधिकांश रूपों का समावेश ठेठ हरियाणवी के रूपों में ही हो जाता था।

भाषा का अध्ययन करने के लिए सामान्यतः दो ही आधार हैं—एक उसका ध्वनि-तत्त्व और दूसरा रूप-तत्त्व। अतः हमने अपने निबंध को दो खंडों में विभाजित किया है। पहले खंड के अन्तर्गत हरियाणवी की ध्वनियों पर विचार किया गया है और दूसरे खंड में उसके रूप-तत्त्व पर।

१. पंजाब भाषा विभाग की वर्ष १९५८, ५९ की लेखक-गोष्ठी में पढ़ा गया निबंध।

ध्वनि-खंड के अन्तर्गत सबसे पहले ध्वनि-ग्रामों को निर्धारित किया गया। ध्वनि-ग्राम निर्धारित करते समय कई-एक समस्याएं सामने आईं। पहले तो प्रत्येक व्यक्ति के उच्चारण में ही कुछ न कुछ भिन्नता रहा करती है, फिर जातिगत अथवा वर्गगत भिन्नताएं भी होती हैं। तिस पर भी हमने अनुभव किया कि 'महम' के कहीं आठ मील पर और कहीं छः मील पर ध्वनि में मामूली अन्तर पड़ जाता है। इधर जुलाने में जो 'महम' से उत्तर की ओर लगभग ६-१० मील दूर है, हरियाणवी की सहज स्वाभाविक तालव्यीकरण की प्रवृत्ति नहीं मिलती (महम में 'न्यू' हि० 'यों' बोलते हैं तो वहाँ 'नू' बोलते हैं, इधर 'खा गया' बोलते हैं तो उधर 'खा गा' सुनाई देने लगता है)। इसी प्रकार 'महम' के दक्षिण-पूर्व में लगभग ६ मील के फासले पर 'खरक कलां' स्थित है। वहाँ पर 'इ' की ध्वनि कुछ भिन्न प्रकार की सुनाई देने लगती है जो 'महम' के निकटवर्ती इलाके में नहीं मिलती। हमारा काम केवल भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन से ही संबन्धित था, इसी विचार से हमने इस कार्य को अर्थात् ध्वनियों के इतने सूक्ष्म अन्तर को—भाषाई भूगोल तैयार करने वाले किसी अन्य शोध-कर्ता के लिए—छोड़ दिया है और हम हरियाणवी के केन्द्रीय स्थान 'महम' की बोली को ही आधार मान कर चले हैं। इस कार्य में मूल सूचक का कार्य इन पंक्तियों के लेखक ने स्वयं किया है। परन्तु यदा-कदा अपने उच्चारण की यथार्थता जांचने के लिए हमने अपने परिवार के अन्य सदस्यों तथा सगे-संबन्धियों की भाषा पर भी ध्यान दिया है, तथा तदनुसार ठेठ हरियाणवी के ध्वनिग्रामों को निर्धारित करने का प्रयत्न किया है।

ध्वनिग्रामों का निश्चय होने के बाद प्रत्येक स्वर और व्यंजन के उद्गम और विकास पर विचार किया गया है। इसके साथ साथ आधुनिक हरियाणवी में प्रा० भा० आ० भा० के मध्य तथा अन्त्य स्वरों की स्थिति को समझने का प्रयत्न हुआ है। तदनन्तर अन्त के एक अध्याय में आ० भा० आ० भा० के व्यंजनों के हरियाणवी में परिवर्तनों के सामान्य नियमों पर भी विचार किया गया है। कितनी रोचक बात है कि हरियाणवी ने प्राचीन 'य्', 'व्' को तो 'ज्', 'व्' का रूप दिया (संभवतः यजुर्वेदीय माध्यान्दिन शाखा के प्रभाव से?) और फिर अपभ्रंश काल के अन्तिम चरण में सम्पर्की स्वरों के बीच नई 'य्', 'व्' की श्रुतियों का समावेश किया—जैसा कि 'जावें', 'खावें', आदि कुछ पदों से प्रकट होता है। परन्तु अन्त में इसने इन 'य्' 'व्' की ध्वनियों का पुनः त्याग कर दिया, संभवतः इसलिए कि ये ध्वनियां इसकी प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं। इस प्रकार ध्वनियों का समग्र इतिहास अत्यन्त विचित्र, अनोखा एवं रोचक है। संस्कृत वाली अनुस्वार तथा अनुनासिक में भेद करने की प्रथा आज भी हरियाणवी में ज्यों की त्यों विद्यमान है। यह बात दूसरी है कि आज के लेखक इस प्रथा का पालन करने में समर्थ नहीं रहे अथवा उन्हें टाइप यंत्र या मुद्रणालयों के चक्कर में पड़ कर यह भेद भुलाना पड़ गया है।

निबंध के दूसरे खण्ड में हरियाणवी के रूप-तत्त्व पर विचार किया गया है। संज्ञा, सर्वनाम आदि पर विचार करते समय सामान्यतः लिंग, वचन आदि अन्य प्रत्ययों पर भी विचार कर लिया जाता है। इसी प्रकार क्रियापदों के अन्तर्गत प्रेरणार्थक रूप तथा क्रियारूपों के निर्माण में सहायक होने वाले अन्य प्रत्ययों पर विचार कर लिया जाया करता है, परन्तु पद-निर्माण में सहायक होने वाले प्रत्यय और उपसर्गों पर विचार करने के लिए वहाँ गुंजाइश न देख कर हमने प्रारंभ में ही इन प्रत्ययों तथा उपसर्गों पर विचार कर लिया है। सुविधा के विचार

हरियाणवी का उद्गम तथा विकास

से इन्हें वर्णक्रम से रखा गया है और संज्ञा, विशेषण तथा क्रिया-विशेषणों के निर्माण में प्रत्ययों तथा उपसर्गों पर अलग-अलग विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्ययों को पहले तथा उपसर्गों को बाद में रखा गया है। इनमें देशी तथा विदेशी सभी प्रत्यय तथा उपसर्ग आ गए हैं जिन की संख्या १५० से ऊपर हो गई है। परन्तु लिंग, वचन आदि के प्रत्ययों पर यथा-स्थान ही विचार किया गया है।

समास प्राचीन भारतीय आर्यभाषा की अमूल्य निधि थे। आज की भाषा का स्वरूप विश्लेषणात्मक है परन्तु समासों के अंश अभी तक आधुनिक भाषाओं में विद्यमान हैं। अतः हमने इस खंड के दूसरे अध्याय में समासों पर विचार किया है। इस संदर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि विश्लेषण-विशेष्य का कर्मधारय समास जैसा संस्कृत के 'कृष्णसर्पः' में विद्यमान था, वैसा आज के 'लाल किला' पद में नहीं है। हमने इसी प्रकार की कुछ धारणाओं पर विचार करके अपना स्वतंत्र मत व्यक्त किया है।

संज्ञाओं के लिंग तथा वचन के प्रत्यय प्रामाणिक हिन्दी से पर्याप्त भिन्न हैं। यही स्थिति सर्वनाम तथा विशेषण के रूपों की है। हमने सब पर अलग-अलग विवेचन किया है जिसमें प्रत्येक पद का विकास-क्रम दिखाया गया है। जब संस्कृत की शब्द-रचना-पद्धति मिटने लगी तब कारक-परसर्ग-पद्धति उसका स्थान लेने लगी थी जिसके फलस्वरूप आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में अनेक परसर्ग दिखाई देते हैं जिनका साधारण ज्ञान केवल साहित्यिक हिन्दी से नहीं हो सकता हमने यहां हरियाणवी में उपलब्ध सभी कारक परसर्गों पर स्वतंत्र रूप से विचार किया है।

हिन्दी की क्रियापद-निर्माण-पद्धति हरियाणवी क्रियापद-निर्माण-पद्धति से बहुत मिलती जुलती है परन्तु हरियाणवी क्रियाओं के रूप हिन्दी के रूपों से अत्यन्त भिन्न हैं। हमने इन सब पर अपने ढंग से विचार किया है। जहां तक आधुनिक क्रियापद-निर्माण-पद्धति का सम्बन्ध है, वह लगभग समस्त आ० भा० आ० भा० में समान है। वस्तुतः बात यह है कि संस्कृत लकारों की समाप्ति पर क्रियारूपों के निर्माण की जिस शैली का आरम्भ हुआ वह अपने आप एक नई चीज है। क्रियाएं आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की नई उपज हैं जो आवश्यकता की देन हैं। अभिव्यक्ति का मार्ग बंद हुआ तो दूसरा खुल गया और आज की भाषाओं में संयुक्त क्रियाओं की एक मुहावरे-दार शैली का आविर्भाव हुआ ताकि अपेक्षित भाव व्यक्त किया जा सके। इन क्रियाओं के संयुक्त होने की भी एक विशेष प्रक्रिया है और उससे अर्थ में कुछ विशेषता आ जाती है। क्रियापदों के अध्याय में इन सभी बातों पर विस्तार सहित विचार किया गया है।

क्रिया-विशेषण, संयोजक अव्यय तथा विस्मयादि बोधक अव्यय देखने में तो मामूली से दिखाई देते हैं परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि प्रत्येक भाषा किस प्रकार इनके विशिष्ट चयन से अपना ढांचा, अपना अस्तित्व अलग बनाए रखती है। उप-भाषाओं में विस्मयादि बोधक अव्ययों की अधिकता हुआ करती है। हमने इस पुस्तक के अन्तर्गत यथासंभव प्रत्येक ऐसे अव्यय पर विचार करने का प्रयत्न किया है।

गहराई तक पहुंचे बिना इस बात का सही-सही अनुमान करना कठिन है कि आ० भा० आ० भा० में अरबी-फारसी का कितना तत्व विद्यमान है। अतः आधुनिक काल की किसी भी भाषा का अध्ययन करने के लिए फारसी ध्वनियों पर भली भांति विचार करना आवश्यक है। हमने

इसी विचार से अरबी-फारसी की ध्वनियों का हरियाणवी में विकसित रूप खोजने का प्रयत्न किया है और अपनी इस खोज को पहले परिशिष्ट में स्थान दिया है। दूसरे परिशिष्ट में हमने आधुनिक हरियाणवी के लोक-गीतों और कुछ-एक कहानियों के नमूने दिए हैं ताकि पाठकों को इस भाषा का सम्यक् ज्ञान हो सके। इनका अर्थ देना पिष्टपेषण-मात्र होता। अतः हमने केवल कठिन शब्दों के अर्थ पादटिप्पणी के रूप में दिए हैं।

उक्त सारा कार्य भाषा-विज्ञान-मार्तण्ड डा० उदयनारायण जी तिवारी के पर्यवेक्षण में हुआ है। उनके ही प्रोत्साहन से मैंने यह कठिन कार्य हाथ में लिया और उनके प्रदर्शित मार्ग पर चल कर मैं इस कार्य को सम्पन्न कर सका हूँ।

इस पुस्तक के निर्माण में अनेक ग्रन्थों से सहायता ली गई है। सहायक पुस्तकों की सूची अन्त में दी जा रही है तथापि डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी, डा० बाबुराम सक्सेना, डा० धीरेन्द्र वर्मा और श्री गोविन्द वासुदेव तगरे आदि धुरंधर भाषा-विज्ञानियों के अमूल्य ग्रन्थों ने मेरे कठिन मार्ग को बहुत सुगम बनाया है। डा० रामचन्द्र नारायण वले की 'भारतीय आर्य-भाषाओं के क्रियापद' शीर्षक पुस्तक ने हरियाणवी क्रियाओं को समझने में पर्याप्त सहायता प्रदान की है। डा० जगदेव सिंह जी ने अपने अप्रकाशित ग्रन्थ 'वांगरू का संरचनात्मक अध्ययन' की टाइप प्रति दिखा कर मुझे अत्यन्त अनुगृहीत किया है। वस्तुतः उनका ग्रन्थ देखने के पश्चात् ही मैं अपने कार्य की गुरुता का अनुमान लगा सका था। इनके अतिरिक्त मैं अनेक अन्य विद्वानों तथा 'पाइअ सद्महणवो' के संकलनकर्ता का आभारी हूँ। इन सबके प्रति धन्यवाद करता हूँ।

लेखक समुदाय की सहायता के अतिरिक्त कई-एक प्रकार की अन्य सहायताओं के अभाव में भी इस शोध-कार्य का संपूर्ण होना असंभव था। इसके लिए मैं भाषा विभाग के व्यवस्थापकों का कृतज्ञ हूँ। उन्होंने ही मुझे समग्र हरियाणे में घूम-फिर कर सामग्री जुटाने का अवसर प्रदान किया। इस सामग्री के अभाव में इस शोध विषय पर कार्य कर सकना असंभव था। उस सामग्री का कुछ अंश ही यहां प्रयोग में लाया गया है। यह सामग्री भाषा विभाग द्वारा 'हरियाणवी कोष' के रूप में शीघ्र ही प्रकाशित की जा रही है। परन्तु इस सामग्री को एकत्र करने के लिए किये गये भ्रमण से मुझे विभिन्न बोलियों के सुनने का अवसर अवश्य मिला है जिससे मुझे निबंध लिखने में पर्याप्त सुगमता हुई है। इसी प्रकार भाषा विभाग के पुस्तकालयाध्यक्ष का व्यवहार और सहयोग कभी भुलाया नहीं जा सकता। संक्षेप में अन्य असंख्य मित्रों और विद्वानों के कृपा-प्रसाद से मैं इस शोध-कार्य को संपूर्ण करने में सफल हुआ हूँ। इसके लिए मैं अपने सच्चे अन्तःकरण से उन सब का कृतज्ञ हूँ। भले ही उनका नामोल्लेख नहीं किया जा सका है।

करनाल

नानक चन्द शर्मा

दिनांक २१-५-१९६८

संकेत पत्र

धारा संख्या का चिह्न

इस पुस्तक की धाराओं का निर्देश दो प्रकार से किया गया है। चालू अध्याय की धारा के लिए केवल धारा की संख्या दे दी गई है और दूसरे अध्याय की धारा के लिए पहले खंड-संख्या, फिर अध्याय-संख्या और बाद में धारा-संख्या रखी गई है। उदाहरणार्थ : २.१.५ का अभिप्राय होगा दूसरा खंड पहला अध्याय और पांचवीं धारा। केवल ५ का अर्थ होगा उसी अध्याय की ५ वीं धारा।

→	उत्पन्न करता है या बनाता है
←	उत्पन्न हुआ या बना है
=	बराबर है
[]	ध्वनि-ग्राम को प्रकट करती है
˘	दीर्घ स्वरों का ह्रस्व उच्चारण
×	ह्र पर लगाया गया × चिह्न 'ह' की $\frac{1}{8}$ ध्वनि को प्रकट करता है
ऐ	man के 'a' की ध्वनि, विवृत अग्रस्वर
कै	व्यंजनों पर लगा यह चिह्न उपरिलिखित 'ऐ' ध्वनि की लगमात है।
आँ	बांगरू उपभाषा का विवृत पश्च स्वर
ौ	उपरिध्वनि की लगमात
ˋ	व्यंजन के नीचे हलन्त रेखा
ल	मूर्धन्य पार्श्विक व्यंजन 'ल'
क	अर० फा० के व्यंजनों के नीचे बिन्दु उनके ऊष्म उच्चारण को प्रकट करता है
	वैदिक स्वरों पर इस प्रकार की रेखा उदात्त स्वर प्रकट करती है
,	व्यंजन के ऊपर लगा इस प्रकार का चिह्न प्रकट करता है कि इससे पूर्व कोई स्वर था जो ६६% उड़ चुका है, केवल उसका आभास मात्र विद्यमान है।
✓	धातु

※	कल्पित रूप
-	अक्षरों की पूर्व, मध्य अथवा अन्त की स्थिति, को प्रकट करती है ।
अ०	अंग्रेजी
अ० पु०	अन्य पुरुष
अप०	अपभ्रंश
अर०	अरबी
अहीर०	अहीरवाटी
आ० भा० आ० भा०	आधुनिक भारतीय आर्य भाषा
उ० ना० ति०	उदय नारायण तिवारी
उ० पु०	उत्तम पुरुष
ए० अ०	एवोल्यूशन आफ अवधी
एक० व०	एक वचन
के०	केन्द्रीय ठेठ हरियाणवी
खड़ी०	खड़ी बोली
ग० वा० त०	गणेश वासुदेव तगरे
ग्रे०	ग्रेमेटिक—पिशल कृत प्राकृत व्याकरण-हिंदी अनुवाद
द्वि० परि०	द्वितीय परिच्छेद
धी० व०	धीरेन्द्र वर्मा
ने० डि०	नेपाली डिक्शनरी
पं०	पंजाबी
पा०	पालि
पा० स० म०	पाइअ सह महर्षणवो
पुं० लि०	पुंल्लिंग
प्रा०, प्राकृ०	प्राकृत
प्रा० भा० आ० भा०	प्राचीन भारतीय आर्य भाषा
प्रा० प्र०	प्राकृत प्रकाश
प्रा० मं०	प्राकृत मंजरी
प्रा० वि०	प्राकृत विमर्श
प्रा० व्या०	प्राकृत व्याकरण
प्रा० सर्व०	प्राकृत सर्वस्व
फा०	फारसी

ब० लै०	ओरिजिन एंड डिवैलपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज
बहु व०	बहु वचन
बा०	बांगरू
बा० र० सा०	डा० बाबूराम सक्सेना
भो० भा० सा०	भोजपुरी भाषा और साहित्य
म० पु०	मध्यम पुरुष
म० भा० आ० भा०	मध्य भारतीय आर्य भाषा
मे०	मेवाती
व० कं० इ० ए०	वर्वल कम्पोजिशन इन इंडोएरियन
वि०	विकारी
वै०	वैदिक
व्यु०	व्युत्पत्ति
सर्व०	सर्वनाम
स० प्र० अ०	डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल
सर्वे०	लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया
सु० कु० चै०	डा० सुनीति कुमार चैटर्जी
स्त्री०	स्त्रीलिंग
स्था. द. श.	स्थाणुदत्त शर्मा
हरि०	हरियाणवी
हिं०	हिन्दी
हिं० उ० वि०	हिन्दी का उद्गम और विकास
हिं० ग्रा०	ग्रामर आफ हिन्दी लैंग्वेज
हिं० ग्रा० अप०	हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश
हिं० ग्रा० आफ इंस० ग्रा०	हिस्टारिकल ग्रामर आफ- इंस्क्रिप्शनल प्राकृतस्
हिं० भा० इ०	हिन्दी भाषा का इतिहास
हिन्दु०	हिन्दुस्तानी

विषय प्रवेश

१—भाषा का नामकरण

“हरियाणा” तथा फारसी के विशेषणबोधक सामान्य प्रत्यय “वी” के संयोग से निर्मित “हरियाणवी” पद हरियाणा प्रदेश के निवासियों और उक्त प्रदेश की भाषा का बोधक है।

हरियाणवी पश्चिमी हिन्दी की प्रमुख उपभाषा मानी जाती है। आज तक इसे सामान्यतः “बांगरू” या “वांगडू” के नाम से अभिहित किया जाता रहा है। इसका कारण संभवतः डा० ग्रियर्सन हैं, जिन्होंने इस प्रदेश की भाषा को ‘बांगरू’ या “बांगडू” की संज्ञा प्रदान की है^१। हम ने इसे “हरियाणवी” नाम देना अधिक संगत समझा है^२।

चूँकि भाषा के नामकरण का आधार प्रदेश विशेष का नाम है, अतः आगे बढ़ने से पहले उक्त प्रदेश की भौगोलिक सीमाओं और नाम की व्युत्पत्ति पर विचार कर लेना असंगत न होगा।

हरियाणा : व्युत्पत्ति और भौगोलिक परिचय

व्युत्पत्ति—वस्तुतः “हरियाणा” क्या है?—इस प्रश्न का उत्तर असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। दूसरे शब्दों में “हरियाणा” शब्द का उद्गम, उसका क्रमिक विकास तथा क्षेत्र विशेष की सीमाएँ आदि अंकित करने का काम उलभन भरा है। इस शब्द की कई एक व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं :

सर्वश्री एम० एस० रंधावा और देवीशंकर प्रभाकर के मतानुसार “हरियाणा” हरि+अरण्य से बना है। महाभारत काल में अम्बाला से लेकर मथुरा तक एक बहुत भारी जंगल था। उन का विचार है कि यह धरती भगवान् श्रीकृष्ण का क्रीडास्थल रही और इस लिए हरियाणा कहलाई^३।

गौडपादाचार्य श्री परमेश्वराचार्य ने अपनी छोटी सी पुस्तिका गौडोत्पत्ति में इस प्रदेश को “ह्यारण्य” कहा है^४। यह पुस्तिका अधिक से अधिक ४० वर्ष प्राचीन प्रतीत होती है।

१. The best general name for it is Bangru—Ling. Survey. of India, Vol. IX, Part I, P. 67.

२. विशेष विवेचन के लिए देखिए—भाषा के विभिन्न नाम : हरियाणवी के प्रति आग्रह पृष्ठ ६।

३. हरियाणा के लोक-गीत पृष्ठ ४।

४. गोड़ ब्रह्म ऋषि देश में, ह्यारण्य प्रधान

स्वामीपुर सो ब्रह्मपुर, साल्हावास स्थान—(गौडोत्पत्ति पृष्ठ ७२)।

इस सम्बन्ध में प्रो० पं० स्थाणुदत्त शर्मा लिखते हैं—

“कोई विद्वान् “हरि” और “यान” शब्दों के मेल से “हरियाणा” बनाते हैं, कोई “हिरण्यारण्य” से बनाते हैं और कोई “हर्यरण्य” से। कुछ लोगों का विचार है कि अकाल के समय राजस्थान से भाग कर आए हुए लोगों को यहीं आकर हरियाली के दर्शन हुआ करते थे, इस लिए उन लोगों ने इस प्रदेश को पहले “हरियाला” और फिर शनैः शनैः “हरियाणा” कहना प्रारम्भ कर दिया। एक अन्य मत यह भी है कि इस प्रदेश में जंगल बहुत अधिक थे तथा इसके दक्षिण और पश्चिम की ओर वाले प्रदेशों में बरसात की प्रायः कमी होती रहती थी। उन प्रदेशों के रहने वाले लोग अनावृष्टि के दिनों में अपने पशुओं को लेकर इस ओर आ जाया करते थे। यहां आकर उनकी गौएं “हरया” हो जाती थीं। “हरया” शब्द का अर्थ है—हरियाली से प्रेम करने वाली, हरियाली की ओर लपक कर जाने वाली एवं उहण्ड। यहां आकर उनकी गौएं “हरया” हो जाती थीं, इसी से वे लोग इसे “हरयाणा” या “हरियाणा” कहने लग पड़े। इसी प्रकार से लोगों ने और भी कई प्रकार की कल्पनाएं की हैं। पर उन में से कोई भी आज सर्वमान्य न बन सकी^१।

उपर्युक्त विद्वानों से हमें “हरि+आरण्य”, “हर्यारण्य” “हिरण्यारण्य”, “हरियाला” और “हरयाणा” शब्द मिलते हैं। ये सब अनुमान अथवा वैयक्तिक विचार मात्र कहे जा सकते हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति के लिए गहराई में उतरना अथवा इस के विकास की शृंखलाएं प्रस्तुत करना इस लिए भी कठिन है कि हमारा प्राचीन इतिहास अधिकांशतः तिमिराच्छन्न है और वह हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकता। अस्तु जो कुछ भी ऐतिहासिक सामग्री आज प्राप्त है उस से पता चलता है कि “हरियाणा” इतिहास के किसी भी काल में एक राजनैतिक इकाई के रूप में हमारे सामने नहीं आता। जहां तक सरकारी कागजों का सम्बन्ध है, सब से पहले सन् १८६३ की बन्दोबस्त रिपोर्ट में इस का उल्लेख मिलता है। उक्त रिपोर्ट के लेखक श्री मुन्शी अमीनचन्द ने “हरियावन” से “हरियाणा” बनने की सम्भावना को अधिक मान्यता प्रदान की है^२। इस के बाद जिला हिसार के

३. हरियाणे की भाषा पृष्ठ २, ३,—भाषा-विभाग की ५८-५९ वार्षिक गोष्ठी में पं० स्थाणुदत्त शर्मा जी द्वारा पढ़ा गया लेख।

२. It is not positively known why it is called Hariana, but three reasons are assigned. 1st: There is a village (and tank of the same name) called Ramridh, 4 Kos west of Jind where Paras Ram (an incarnate of Harri) had on 21 different occasions assembled and slain Chattris. “Harri” in Shastri, means slain and “ana” assembly. Hence the name Harriana. 2nd: That a Raja Hari Chand having come from Oudh and peopled this country which at the time was a wild waste, the place was called after his name, 3rd: That prior to the formations of villages and towns

गजटियर में “हरा” शब्द से “हरियाणा” शब्द बनने की सम्भावना व्यक्त की गई है^१। और इम्पीरियल गजटियर आफ इण्डिया (प्राविंशियल सीरीज) पंजाब, प्रथम खण्ड (१९०८) में उक्त कथन की पुष्टि की गई है^२।

“हरा” शब्द से “हरियाणा” की उद्भावना करते हुए हमारा ध्यान यौधेयों के इतिहास की ओर बरबस आकृष्ट हो जाता है। कैप्टन कटले द्वारा प्राप्त सिक्के यौधेयों की बहुधान्यक टकसाल के सिक्के हैं। प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार ने भारतीय अनुशीलन ग्रन्थ में नकुल दिग्विजय का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि रोहतक (रोहितक) और सिरसा (शैरीषक) के मध्यवर्ती भूभाग में उसे मरू और बहुधान्यक प्रदेश मिले^३। नकुल ने पश्चिमी दिग्विजय करते समय मत्तमयूरो से युद्ध किया और उन से बहुधान्यक प्रदेश जीता। प्रो० विद्यालंकार के मतानुसार बहुधान्यक प्रदेश रोहतक राज्य का भाग था। इसी प्रदेश का दूसरा नाम “हरिधान्यक” भी मिलता है। महापण्डित राहुल जी का सुझाव है कि इस “हरिधान्यक” शब्द से “हरियाणा” शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार हुई है। हरिधान्यक → हरिहानक → हरिआनक → हरिआनअ → हरिआन → हरियान → हरियाना आदि^४। परन्तु डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि हरियाणा “आभीरायण”

in this wild country, there used to grow a kind of wild wood called Harriaban from which the name Harriana has derived its origin. This last is the generally believed and accepted idea.

—Settlement Report, Hissar Distt., 1863-64, Page 15

1. A more probable derivation is from hara (green) in allusion to the expanse of brushwood which once covered the part of the district and even now covered large portion of it growing at certain seasons of the year—an aspect of greenness to the whole country.

—Hissar Distt. Gazetteer, 1883-84, P. 8

2. The name is most probably derived from Hari (green) and is reminiscent of a time when this was a rich and fertile tract. Archeological remains show that the country watered by the saraswati was once the scene of a flourishing Hindu civilization and the records of Timur's invasion mention the sugar-cane jungles of Tohana, a proof that at any rate the valley of Ghaggar was at that time of high fertility, though the country near Hissar seems already to have been dry and arid. Gazetteer Series, Pb., (1908), Vol. I p. 222-23.

३. राहुल : हिन्दी काव्यधारा पृष्ठ 190.

४. श्री महापण्डित राहुल जी ने उक्त सुझाव “हरियाना प्रदेश का लोकसाहित्य” नामक पुस्तक के लेखक डा० शंकरलाल यादव को पत्र द्वारा प्रेषित किया था (देखिए हरि० प्र० का लो० सा० पृष्ठ ५९)

४. वही पृष्ठ ५९।

(आभीरों—अहीरों का घर) से बना है और इस का विकास-क्रम इस प्रकार है :
हीरावन→हरियान→हरियाना^१ ।

उपर्युक्त विवेचन से तत्त्वतः इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इस शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वान लोग अभी तक किसी एक निर्णय पर स्थिर नहीं हो पाए हैं। यौधेयों का वर्णन अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त के यौधेय भूमि वर्णन में मिलता है। इन का समय १०वीं या ११वीं शताब्दी माना जाता है परन्तु यौधेयों का उल्लेख पाणिनि की (समय ४-५वीं शती) अष्टाध्यायी के सूत्रों में भी मिलता है^२। अस्तु, इस के आधार पर महापण्डित राहुल जी के “हरिधान्यकः” पद को विचारान्तर्गत रखा जा सकता है।

इतिहास की पुस्तकों में “हरियाणा” का सर्वप्रथम परिचय राजपूतों के इतिहास में मिलता है। “भारत का वंशानुक्रम इतिहास” (पूर्वमध्यकाल) के लेखक श्री एच० सी० राय उक्त पुस्तक के द्वितीय खण्ड में दिल्ली म्यूजियम के एक शिला लेख के आधार पर लिखते हैं :

“There is a country Hariana a very heaven on earth : there lies the city called Dhillika built by Tomars”

यह शिलालेख सुलतान मुहम्मद बिन तुगलक (१३२५-५१ ई०) के समय का है और दिल्ली के म्यूजियम वी ६ में रखा हुआ है। इस पर कुल १६ श्लोक लिखे हुए हैं और इस पर दिनांक सम्वत् १३८४-८५ वि० फाल्गुन शुक्ला ५ मंगलवार अंकित है। इस का तृतीय श्लोक द्रष्टव्य है (जिस के आधार पर श्री रायने उपर्युक्त शब्द लिखे हैं) :

देशोऽस्ति हरियानाख्यः पृथिव्यां स्वर्ग-सन्निभः ।

दिल्लिकाख्या पुरी तत्र तोमरैरस्ति निर्मिता ॥

तोमरानन्तरं तस्यां राज्यं निहतकंटकम् ।

बाहमानाः नृपाश्चक्रुः प्रजापालन-तत्पराः ॥

इस शिलालेख के अनुसार तोमरों ने दिल्ली नगर बसाया और स्वर्ग सन्निभ “हरियाना” प्रदेश पर पहले तोमरों का और फिर चौहानों का राज्य रहा। इस से भी ४७ वर्ष प्राचीन एक अन्य शिलालेख मिलता है जिस में “हरियाना” के स्थान पर “हरियानक” शब्द का प्रयोग हुआ है। यह बलगन (१२६६-८७ ई०) के राजत्व काल, अर्थात् सम्वत् वि० १३३७ (१२८० ई०) का शिलालेख बताया जाता है। यह पालम की बावड़ी से मिला है। एपीग्राफिका इंडो मुस्लिमिका के पृष्ठ ३५ पर उस का पाठ इस प्रकार है :

अमोजि तोमरैरादौ चौहानैस्तदनन्तरम् ।

हरियानकभूरेषा शकेन्द्रैः शास्यतेऽधुना ॥

१. हरि० प्र० का लो० सा० पृ० ५६.

२. “न प्राच्यभर्गादि यौधेयादिभ्यः”—अष्टाध्यायी-४. १. १७८ ।

इन शिलालेखों पर मिलने वाले “हरियाना” और “हरियानक” शब्दों से किसी मूल शब्द का क्रमिक विकास होता जान पड़ता है। इसी खोज में एक कदम और आगे बढ़ने पर श्रीयुत मोनियर विलियम के संस्कृत-अंग्रेजी कोष में “आर्याणक”^१ (आर्यों का देश) शब्द मिल जाता है। इस शब्द से “हरियाणा” शब्द की उत्पत्ति का अनुमान लगाते हुए इस का विकास-क्रम इस प्रकार दिखाया जा सकता है :

आर्याणक → अर्याणक → अरियाणक → हरियाणक, हरियानक → हरियाणा, हरियाना—

आदि “आ” के ‘हा’ में बदलने के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। देशवाची शब्दों में आसिक → हांसी^२, शब्द द्रष्टव्य है। आज भी बहुत से अनपढ़ देहाती लोग इस का उच्चारण “आस्सी” करते हैं।

यदि “हरियाणा” शब्द की व्युत्पत्ति “आर्याणक” से मान ली जाए तो इस की प्राचीनता स्वयं सिद्ध है। दूसरे शब्दों में जब आर्य लोग इधर आ बसे और उन्होंने अपनी वस्तियों को आर्यावर्त आदि नाम देने आरम्भ किए, लगभग उसी समय इस प्रदेश को “आर्याणक” की संज्ञा मिली होगी। परन्तु स्वाभाविक रूप से जिज्ञासा होती है कि जब आर्यावर्त नाम आज तक प्रचलित है और इस का उल्लेख भी स्थान-स्थान पर मिलता है तब प्राचीन ग्रन्थों में “आर्याणक” शब्द का उल्लेख क्यों नहीं हुआ। प्रस्तुत समस्या वस्तुतः कठिन है, फिर भी इस के उत्तर में इतना तो कहा ही जा सकता है कि आर्य लोगों को “आर्य” और ‘ब्रह्म’ शब्द अत्यन्त प्रिय थे। (भाषा वैज्ञानिकों का विचार है कि “ईरान” भी “आर्य—” से ही विकसित हुआ है)। “आर्य” से जहाँ उन्होंने सारे देश का नाम “आर्यावर्त” रखा वैसे ही अपने छोटे भूभाग का नाम “आर्याणक” रख लिया, पर साथ ही “आवर्त” शब्द की आवृत्ति करते हुए उन्होंने इस छोटे भूभाग का नाम ‘ब्रह्मावर्त’ भी रख लिया और बड़े-बड़े ग्रन्थों में यथास्थान ब्रह्मावर्त का ही निर्देश किया गया। “हरियाणा” नाम-अर्थात् “आर्याणक” संज्ञा कदाचित् जनता-जनार्दन में ही प्रचलित रही और “ब्रह्मावर्त” शब्द ग्रन्थकारों में प्रचलित हो गया। मनुस्मृति में दी गई ब्रह्मावर्त की सीमाएं हो संभवतः इस के लिए कोई समाधान प्रस्तुत कर सकें :

सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्दन्तरम् ।

तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥ २. १७

अर्थात् सरस्वती और दृषद्वती नदियों के मध्यवर्ती देवनिर्मित प्रदेश को ब्रह्मावर्त कहा जाता है। एक अन्य श्लोक के अनुसार “ब्रह्मावर्त प्रदेश” कुरुक्षेत्र,

१. मोनियर विलियम : संस्कृत-अंग्रेजी कोष ।

२. डिनेस्टिक हिस्ट्री आफ इण्डिया के लेखक पृष्ठ १०७७-७८ पर लिखते हैं कि भण्डारकर महोदय ने “आसिक” के हांसी होने की पुष्टि की है ।

पंचाल आदि प्रदेशों से अलग प्रदेश है^१। इस से स्पष्ट विदित होता है कि कुरुक्षेत्र के साथ लगने वाला (कुरुक्षेत्र की सीमाएं जींद के पास वाले “रामहृद” ग्राम तक मानी जाती हैं) यही भूभाग ब्रह्मावर्त प्रदेश कहलाता होगा। इसकी पश्चिमी सीमा पर आज भी घग्गर नदी (हृषद्वती) विद्यमान है और विलुप्त सरस्वती के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जा सकता है कि यह अवश्य इस की पूर्वी सीमाओं के आस-पास बहती होगी^२। अतः ग्रन्थों में “आर्याणक” शब्द का न मिलना विशेष आश्चर्य-कर नहीं है। क्योंकि आज भी सरकारी रिकार्ड में अथवा भारत के किसी मानचित्र पर “हरियाणा” का विशेष उल्लेख नहीं मिलेगा परन्तु “हरियाणा” शब्द आज भी उस क्षेत्र के निवासियों की अमूल्य पैतृक सम्पत्ति है।

भौगोलिक सीमाएं—हरियाणे की भौगोलिक सीमाओं के सम्बन्ध में भी विद्वानों के विभिन्न मत हैं। सर्वश्री एम० एस० रंधावा और देवीशंकर प्रभाकर ने रोहतक, करनाल, गुडगांव, दिल्ली राज्य और मेरठ डिवीजन तथा भूतपूर्व पैम्सू के नरवाणा, दादरी, महेन्द्रगढ़, जींद आदि को सांस्कृतिक तथा सामाजिक परम्पराओं के आधार पर हरियाणा माना है^३। डा० शंकरलाल यादव ने इलाके के परिभ्रमण के आधार पर अपनी स्थापना इस प्रकार व्यक्त की है—“हरियाने की पूर्वी सीमा पालम, भज्जूर, बहादुरगढ़ और दिल्ली को छूती है। फिर यह रेखा दुजाना को छूती हुई दादरी पहुँचती है। वहाँ से सीधी भिवानी, हांसी, हिसार होकर और सिरसा की ओर आगे बढ़ कर अग्रोहा होती हुई दुहाना पहुँच जाती है। वहाँ से कैथल, करनाल, पानीपत होती हुई दिल्ली आ मिलती है^४।” जिला हिसार का गजटियर मुन्शी अमीनचन्द की बन्दोबस्त रिपोर्ट के आधार पर अग्रोहा से बहादुरगढ़ और जींद से दादरी तक के लम्बे-चौड़े प्रदेश को हरियाणा मानता है^५। पं० स्थाणुदत्त शर्मा ने लोकमत का आश्रय लिया है और इस प्रकार उन्होंने प्राचीन तथा वर्तमान-काल के मतों का उल्लेख करते हुए दोनों मतों का समन्वय भी प्रस्तुत किया है। यहाँ केवल प्राचीन-काल से चली आती हुई धारणा का उल्लेख पर्याप्त रहेगा^६।

१. ब्रह्मावर्त से भिन्न ब्रह्मर्षि देश इस प्रकार गिनाए गए हैं :

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।

एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तदिनन्तरः ॥ २. १६

२. जनश्रुति के अनुसार रोहतक के पास बहने वाली “बदरौ” ही विलुप्त सरस्वती है।

३. हरियाणा के लोक-गीत, पृष्ठ ३।

४. हरियाणा प्रदेश का लोक साहित्य पृष्ठ ६१-६२।

५. The boundaries are on the North Jhind and south Dadri, East Bahadurgarh in Rohtak and west Agroha. The length from East to West is 81 miles and breadth from North to south is 45 miles.

६. पं० स्थाणुदत्त शर्मा द्वारा व्यक्त किए गए दोनों प्रकार के लोकमत और उन के बीच स्थापित किए गए सामञ्जस्य के लिए देखिए :—“हरियाणे की भाषा” पृष्ठ ५-८।

“एक मत के अनुसार जिला रोहतक केन्द्र है तथा इसके सब ओर स्थित जिलों के, कहीं कम और कहीं अधिक, भागों को इसके साथ मिला कर हरियाणा प्रदेश बनता है। इसके पूर्व में खादर, दक्षिण में अहीर-वाटी, दक्षिण पश्चिम में शेखावाटी, पश्चिम-उत्तर में पछाधा और उत्तर तथा पूर्व में बांगर का इलाका है। सर्वसाधारण के लिए अहीरवाटी, शेखावाटी तथा खादर, बांगर शब्द ऐसे हैं, जो स्वयं भी विशेष परिभाषा अथवा विवरण की अपेक्षा रखते हैं। इस लिए आधुनिक नामों का प्रयोग करना अधिक उचित होगा।

यमुनानदी के पश्चिमी तट के साथ-साथ बसा हुआ प्रदेश “हरियाणा” की पूर्वी सीमा है। दक्षिणी सीमा दिल्ली नगर के बिल्कुल पास तक जा पहुँची है और फिर गुड़गांव जिले में अहीरों की बस्तियों से इधर-उधर रहती हुई पश्चिम की ओर जिला हिसार के अन्दर तक चली जाती है। इस प्रकार से दिल्ली राज्य के बादली और नरेला तो हरियाणा में हैं ही, साथ ही दिल्ली से उस और बसी हुई नांगलोई भी हरियाणा के अन्तर्गत है। यही नहीं, नजफगढ़ के रहने वाले भी अपने आप को हरियाणा के वासी मानते हैं। पश्चिम में दादरी हरियाणा के अन्तर्गत है पर भिवानी नगर हरियाणा की सीमा पर स्थित है। भिवानी के पश्चिम की ओर वाले ग्राम अपने को शेखावाटी में मानते हैं और पूर्व वाले हरियाणा में। इससे आगे हांसी और हिसार, दोनों ही, हरियाणा के अन्तर्गत हैं। टोहाना और जाखल सीमा पर हैं। फिर यह सीमा कैथल और पेहोवा के पास से होती हुई तथा करनाल के निकटवर्ती ग्रामों को छूती हुई जिला रोहतक के पूर्वोत्तर कोण पर आ पहुँचती है।

करनाल के आस-पास का इलाका बांगर कहलाता है। यमुना के साथ-साथ वाले प्रदेश को खादर कहते हैं पर यमुना के पास वाला वह निम्न भाग जिसमें बरसात समाप्त होने के अनन्तर भी बहुत दिनों तक बरसाती जल खड़ा रहता है, “डाब्बर” कहलाता है।”

डा० जार्ज ग्रियर्सन ने अपने लिंग्विस्टिक सर्वे में बांगर भाषा की सीमाओं पर विवेचन प्रस्तुत किया है। अतः उसकी समीक्षा यथास्थान की जाएगी। वस्तुतः उन का ध्यान ‘हरियाणा’ की अपेक्षा ‘बांगर’ पर अधिक केन्द्रित था अतः ‘हरियाणा’ की सीमाओं के सम्बन्ध में उन्होंने कोई विशेष और स्थिर विचार प्रस्तुत नहीं किए हैं। कहीं वे केवल हिसार के कतिपय भूभाग¹ को ही हरियाणा मानते हैं तो आगे

1. “That portion of the tract which consists of the East of the district of Hissar and the country immediately adjoining is known to natives as Haryana. The rest is known there as Bangar or Khadir.”

चलकर लिखते हैं कि जींद के निवासी भी अपनी बोली को हरियानी मानते हैं।^१ इस प्रकार के फुटकर विचार ही उन के 'सर्वे' में देखने को मिलते हैं।

उपर्युक्त विचारों के सम्बन्ध में हमारा मत यह है कि—

(१) सर्वश्री रंधावा और देवीशंकर प्रभाकर द्वारा निर्दिष्ट किए गए भूभाग में सामाजिक एवं सांस्कृतिक एकता हो सकती है पर भौगोलिक सीमाओं से इस का कोई संबंध नहीं है। किसी विशिष्ट प्रदेश के निवासी विभिन्न कारणों से समीपवर्ती प्रदेश में जा कर बस सकते हैं और उनकी सांस्कृतिक एकता का आधार यही है।

(२) डा० यादव द्वारा प्रस्तुत की गई सीमाएं उन के परिभ्रमण के आधार पर निर्धारित की गई हैं। अतः परिभ्रमण से भाषा-गत सीमाओं का ही अनुमान लगाया जा सकता है। भौगोलिक तथा राजनैतिक सीमाएं भाषागत सीमाओं से भिन्न हो सकती हैं, क्योंकि भाषा को किसी घेरे में बांध कर रखना असंभव है। विभिन्न भाषाओं-उपभाषाओं में पारस्परिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया चलती रहती है और इसी लिए किन्हीं दो भाषाओं के बीच विभाजक रेखा खींचना प्रायः कठिन होता है।

(३) पं० स्थाणुदत्त शर्मा और डा० शंकर लाल यादव द्वारा निर्दिष्ट सीमाएं लगभग समान हैं। यदि जींद व नरवाणा आदि के भूभाग को इस परिधि में समेट लिया जाए तो कुरुक्षेत्र की सीमाओं^२ का अतिक्रमण हो जाता है। हमारे विचार में किसी प्रकार के लोकमत पर निर्भर करने की अपेक्षा इम्पीरियल गजटियर आफ इण्डिया (प्राविश्यल सीरीज) पंजाब प्रथमखंड में 'हरियाणा' की निर्दिष्ट सीमाएं मान्य समझनी चाहिए। वहां इन सीमाओं का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

हरियाणा पंजाब में २८°—३०° और ३०° उत्तर तथा ७५°—४५° और ७७°—३०° पूर्व के मध्य स्थित प्रदेश है जिस में प्रमुखतः जिला हिसार का पूर्वार्द्ध, जिले रोहतक का कुछ भाग तथा जींद और पटियाला की रियास्तों के कतिपय

१. "To return to Hariani. The north-eastern portion of the Dadri Nizamats of the Jind state and the adjoining portions of the state of Dujana are also parts of Hariana and the Bangru spoken here is called Hariani in the Jhind Nizamats of Jind, although this is certainly true Bangar country, the local form of speech is also known as Hariani. Natives profess to distinguish between Hariani and Bangru and say that the former and not Bangru is heard in the Jat and Ror villages of Karnal..." Ibid p. 67-68.

२. विभिन्न विचारकों ने कुरुक्षेत्र की सीमाएं जींद के समीपवर्ती ग्राम रामहृद (रामराय) तक मानी हैं। विशेष जानकारी के लिए देखिए इम्पीरियल गजटियर आफ इण्डिया (नया संस्करण) खण्ड १६ पृष्ठ ५४।

भाग सम्मिलित हैं। यह विषम अंडाकृति के आकार का है तथा इस की धुरी उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पूर्व में स्थित है। उत्तर-पश्चिम में इस की अन्तिम सीमा 'घग्घर' है, पश्चिम, दक्षिण पश्चिम और दक्षिण में 'बागड' और 'हुंडोती' का रेतीला क्षेत्र है जो कि बीकानेर से चलता आ रहा है। पूर्व में जमना नदी है और इस के उत्तर-पूर्व में नर्दक प्रदेश है। (पृष्ठ २२२)।

भाषा के विभिन्न नाम : हरियाणवी के प्रति आग्रह

भाषा के विभिन्न नाम—हरियाणो का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेने के पश्चात् हम भाषा के नामकरण सम्बन्धी मूल समस्या की ओर अग्रसर होते हैं। विद्वानों ने इस प्रदेश की भाषा को कई नामों से अभिहित किया है। डा० जार्ज ग्रियर्सन ने अपने 'लिंग्विस्टिक सर्वे' में इस का 'वांगरू' नाम स्थिर किया है, पर साथ ही उन्होंने हरियानी, देसड़ी, जाटू और चमरवा आदि स्थानीय नामों का उल्लेख भी किया है। उनका कहना है कि जिला हिसार में इस भाषा को हरियानी या देसड़ी कहते हैं। जिला हिसार कई बोलियों का संगम स्थल है परन्तु वहां के 'देसी' जाटों की भाषा बागड़ी जाटों की भाषा से भिन्न होने पर 'बागड़ी' के साम्य पर इन की भाषा को 'देसड़ी' की संज्ञा दे दी गई है। जिला रोहतक में इसे 'जाटू' बोली के नाम से पुकारा जाता है। इस का कारण भी संभवतः यही रहा है कि इस जिले में जाटों की संख्या अधिक रही है। अन्ततः दिल्ली में जा कर इस का नाम चमरवा—अर्थात् चमारों की भाषा—हो जाता है। डा० सुनीति कुमार चैटर्जी ने इस प्रदेश की भाषा को बांगड़ और हरियानी नामों से अभिहित किया है। डा० धीरेन्द्र वर्मा ने बांगरू, जाटू और हरियानी के अतिरिक्त इसे 'सरहदी' नाम भी दिया है। डा० मसूद हुसैन ने भी इस के उपर्युक्त तीन नाम दिये हैं, पर उन्होंने इस के हरियानी नाम को अधिक मान्यता प्रदान की है। पं० स्थाणु दत्त शर्मा जी ने इसे 'हरियाणई' नाम दिया है।

संक्षेप में हमारे सामने इस भाषा के लिए मुख्यतः प्रयुक्त होने वाले नाम ये हैं—'हरियानी', 'हरियाणई', 'देसड़ी', 'जाटू', 'चमरवा', 'बांगरू' और अन्तिम नाम 'हरियाणवी'। 'चमरवा' नाम का उल्लेख केवल 'सर्वे' में ही मिलता है। वस्तुतः यह जातिपरक नाम सर्वथा अप्रचलित है। जातिपरक नामों में 'जाटू' अवश्य प्रचलित है, यहां तक कि जिला रोहतक के तात्कालिक डिप्टी कमिश्नर श्री जोज़फ ने इस इलाके की शब्दावली को 'जाटू ग्लासरी' का नाम दिया है। परन्तु आज के संवर्धनशील युग में किसी भाषा का जातिपरक नाम हास्यास्पद ही प्रतीत होता है, विशेषतः ऐसी अवस्था में जब कि उक्त प्रदेश में अन्य जातियों की भाषा भी वही है, और अन्य जातियों की संख्या भी नगण्य नहीं है। शेष नाम अर्थात् हरियाणवी, हरियाणई और बांगड़ देशपरक नाम हैं। डा० ग्रियर्सन ने जिला रोहतक, हिसार आदि के प्रदेश का धरातल ऊंचा देख कर इसे 'बांगर' की संज्ञा प्रदान कर दी है, अन्यथा 'बांगर' एक अलग प्रदेश है जिस की भाषा हरियाणवी से बहुत साम्य रखती है। इस लिए इस छोटे से टुकड़े की भाषा को वस्तुतः सारे हरियाणो की भाषा का नाम देना हरियाणवी—२

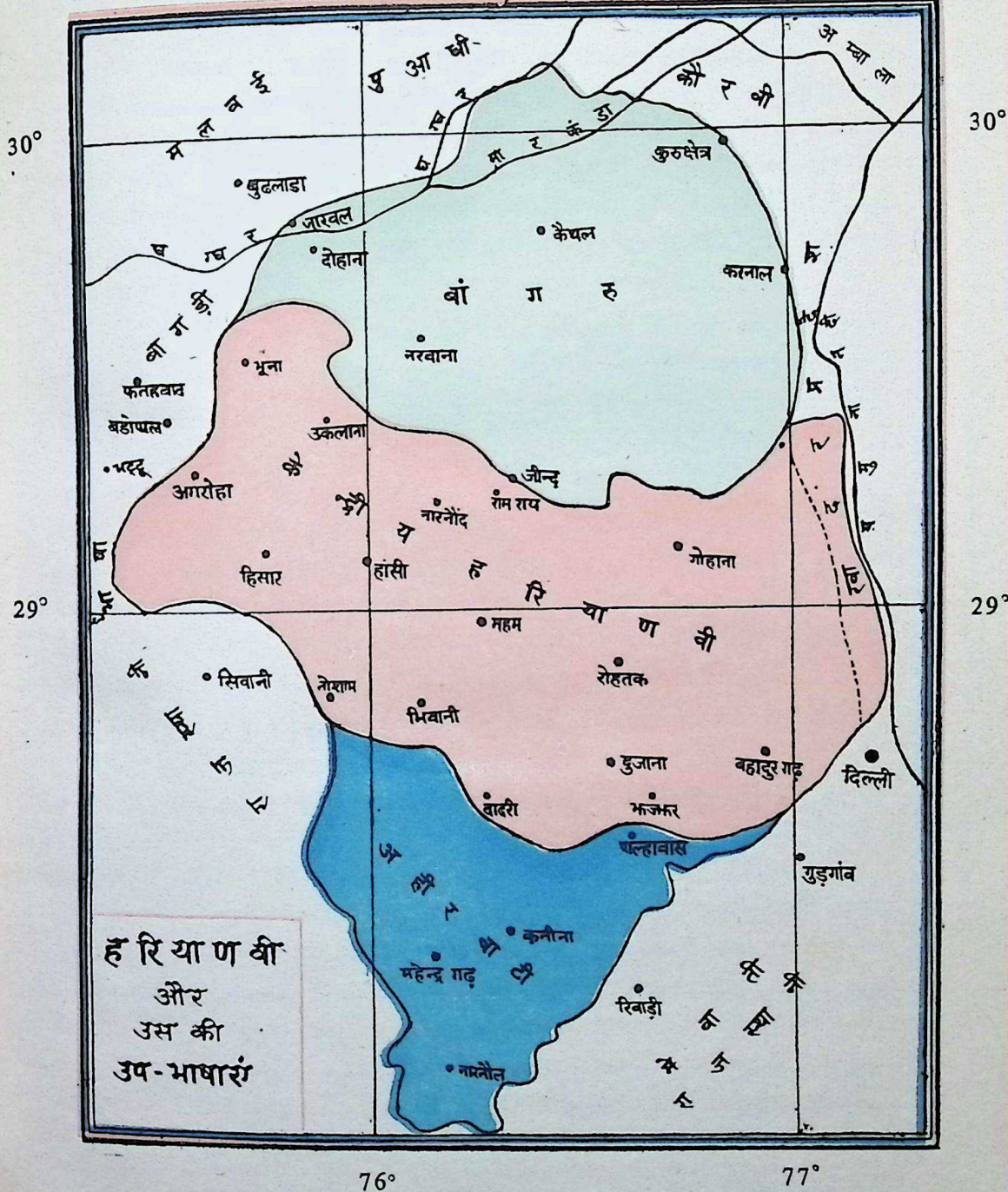
युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। तथापि 'बांगरू' को हरियाणवी की उप-भाषा कहा जा सकता है। 'हरियाणई' या 'हरियानी' पद 'हरियाणा' के साथ विशेषण बोधक प्रत्यय 'ई' के संयोग से बनाए गए हैं और उसी प्रकार 'हरियाणवी' पद 'हरियाणा' के साथ विशेषण बोधक प्रत्यय 'वी' के संयोग से बना है। अन्तर केवल इतना ही है कि 'ई' प्रत्यय संस्कृत उद्गम का प्रत्यय है जबकि 'वी' फारसी उद्गम का प्रत्यय है। हमने संस्कृत अथवा फारसी के प्रति किसी प्रकार के पक्षपात का ख्याल न करते हुए आजकल सामान्यतः प्रचलित नाम 'हरियाणवी' चुनना पसन्द किया है।

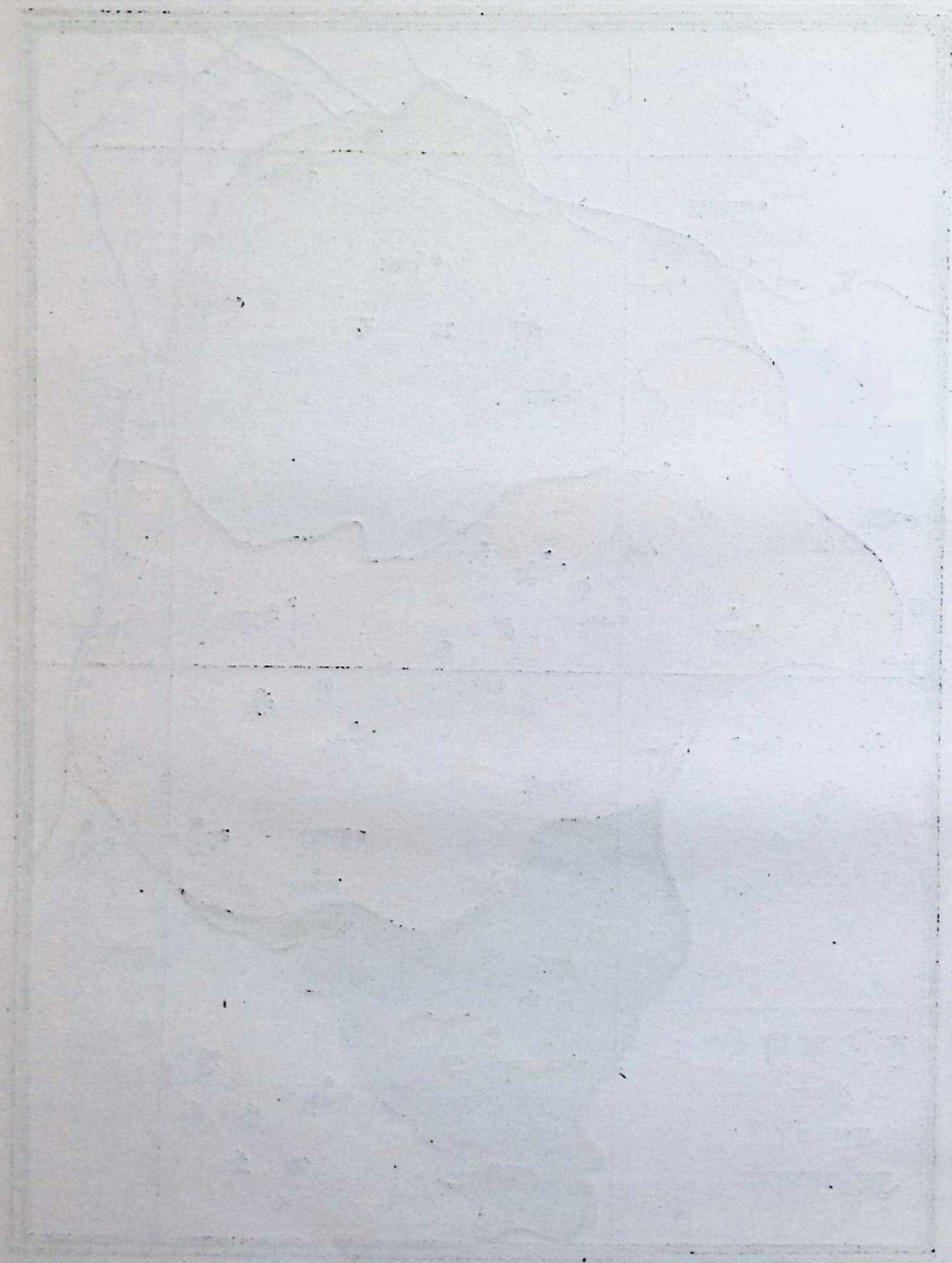
२. हरियाणवी का क्षेत्र-विस्तार

ऊपर 'हरियाणा' प्रदेश की सीमाओं पर विचार किया गया है। परन्तु किसी प्रदेश की भाषा उस प्रदेश की सीमाओं तक ही चिपकी नहीं रह सकती, वह फैलती हुई आगे-से-आगे बढ़ कर दूर-दूर तक अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया करती है^१। यह ठीक है कि पानी और बोली प्रत्येक बारह कोस पर बदल जाते हैं, तथापि यह अन्तर इतना गौण रहा करता है कि उसके आधार पर हम उस बोली को मूल अथवा आदर्श प्रादेशिक भाषा से विलग नहीं कर सकते। आदर्श हरियाणवी की मूल प्रवृत्तियाँ समूचे हरियाणे में भी नहीं मिलेंगी, यथा हरियाणवी की तालव्यीकरण की मूल प्रवृत्ति जुलाना और इस के आस-पास के देहातों में नहीं मिलती, जबकि जुलाना हरियाणे के केन्द्र (महम) से केवल नौ कोस उत्तर की ओर स्थित है। केवल इस आधार पर जुलाने की बोली को 'हरियाणवी' से विलग नहीं किया जा सकता। अतः हम यहां हरियाणवी के क्षेत्र-विस्तार पर विचार करेंगे।

हरियाणे की सीमाओं पर समीपवर्ती भाषाओं अथवा उपभाषाओं के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगते हैं। फिर भी समूचे हरियाणे को केन्द्रीय हरियाणवी के क्षेत्र में ही रखा गया है। इसके पश्चिम में राजस्थानी की उपभाषा बागड़ी है, परन्तु दक्षिण तथा दक्षिण पूर्व में अहीरवाटी ऐसी भाषा है जिस पर मेवाती का प्रभाव कम और हरियाणवी का प्रभाव अधिक है। अतः हम इस इलाके को हरियाणवी के अन्तर्गत रख रहे हैं। 'अहीरवाटी' के इस क्षेत्र को रिवाड़ी तक सीमित समझना चाहिए। उसके पश्चात् विशुद्ध मेवाती हो जाती है। पूर्व में यमुना का खादर है। 'खादर' की भाषा केन्द्रीय हरियाणवी ही है, अतः इस ओर यमुना नदी तक हरियाणवी की सीमाएँ स्थिर करना समीचीन प्रतीत होता है। यमुना के दूसरी ओर खड़ी बोली का साम्राज्य है। पानीपत से ऊपर का मैदान जो उत्तर में लगभग अम्बाले जिले को छू गया है और पश्चिम में जींद, जाखल-नरवाना और टोहाने की लाइन के साथ-साथ होता हुआ लगभग घग्घर नदी तक चला गया है, बांगर कहलाता है। इस प्रदेश की

१. आजकल हरियाणवी मेरठ डिवीजन में जाटों के सम्पर्क अथवा संसर्ग से फैलती जा रही है और हो सकता है कि अगली शताब्दी में अथवा उससे कुछ पहले वहां हरियाणवी का प्राधिपत्य जम जाय।





बांगरू ठेठ हरियाणो और खादर की भाषा से बहुत समानता रखती है। अतः इसे भी हरियाणवी के सीमाक्षेत्र में रखना न्याय-संगत प्रतीत होता है। कुरुक्षेत्र से आगे कौरवी का साम्राज्य स्थापित होने लग जाता है। इस प्रकार हरियाणवी की लगभग वही सीमाएँ समझनी चाहिए जो 'सर्वे' में बांगरू की दिखाई गई हैं। 'सर्वे' के मानचित्र में गुड़गांव के फरीदाबाद और बल्लभगढ़ को भी बांगरू की सीमाओं में सम्मिलित किया गया है। परन्तु यहां ब्रज और मेवाती की खिचड़ी भाषा ही देखने को मिली है। अतः हमने इस इलाके को 'हरियाणवी' की सीमाओं से निकाल दिया है और अहीरवाटी का वह भाग जिसकी भाषा हरियाणवी के अन्तर्गत रखी गई है अपने मानचित्र में ले लिया है।

इस विवेचन से हरियाणवी की सीमाएँ सुस्पष्ट हैं। मुख्यरूप से रोहतक, महम और हांसी के आस-पास के भूभाग को ही केन्द्रीय हरियाणा माना जाता है और इस केन्द्रीय हरियाणो की भाषा को ही ठेठ हरियाणवी कहा जा सकता है। डा. मसरूद हुसैन जैसे अन्य विचारकों ने भी महम और हांसी के आस-पास की भाषा को स्टैंडर्ड माना है।^१

हरियाणवी बोलने वालों की संख्या १६३१ की जनगणना के अनुसार लगभग २२ लाख थी। पंजाब-विभाजन के पश्चात् इस प्रदेश में पुष्पाधिक्य की बहुत बड़ी संख्या आ जाने के कारण केवल 'हरियाणवी' बोलने वालों की संख्या का ठीक-ठीक अनुमान नहीं हो सकता, तथापि अब यह संख्या ७० लाख से भी ऊपर आंकी जाती है।

३. हरियाणवी की विशेषताएँ

इस शीर्षक के अन्तर्गत हम हरियाणवी की कतिपय प्रमुख विशेषताओं का ही उल्लेख करेंगे जिससे भाषा का स्थूल परिचय मिल सके।

(१) हरियाणवी के स्वरों का उच्चारण विवृत एवं अपेक्षाकृत विलंबित है। इस के 'आ', 'ई', 'ऊ', 'ए', और 'ओ' में प्रत्येक स्वर के ह्रस्व और दीर्घ दो-दो उच्चारण हैं क्योंकि इस भाषा में दीर्घ स्वरों को ह्रस्व करने की और साथ ही ह्रस्वीकृत स्वर से अगले व्यंजन को द्वित्व करने की प्राकृत भाषाओं वाली प्राचीन प्रवृत्ति आज भी ज्यों की त्यों विद्यमान है उदाहरण के लिए देखिए :—

दीर्घ स्वर—आला, जाला, ताला, रीस्, जीत्, मीत्, रूख्, भूल्, मूली, भेस्, देस्, ल्होस्, खोस्।

ह्रस्वीकृत दीर्घ स्वर—आँद्, गाँद्, चाँद्, काँक्कर्, ढाँक्खर्, टाँक्कड्, ऊँक्खल्, ल्हूक्खा, गूहड्, बैल्ला, धैल्ला, चैल्ला, चौक्कस्, चौव्वर्, कौट्ठा, लौट्ठा।

(२) उच्चारण के दृष्टिकोण से हरियाणवी की दूसरी प्रमुख विशेषता है, ताल-व्यंकरण की प्रवृत्ति, जो केन्द्रीय हरियाणवी को बांगरू उपभाषा से पृथक् करती है।

भाषा को लिपिबद्ध करते हुए इसे सामान्यतः 'य' द्वारा ही प्रकट किया गया है, यथा च्यार, ग्याँब्भण (गर्भवती), घोड्यां (घोड़ों) गध्यां आदि। यहां श्→स् हो जाता है परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि तालव्यीकरण की प्रवृत्ति क्षति की पूर्ति सी कर रही है, यथा शान→स्यान, शाही→स्याही।

(३) हकार ध्वनि : 'हरियाणा' प्रदेश की शक्ति-सम्पन्न जातियों का बलिष्ठ उच्चारण उनकी वाणी के प्रत्येक स्वर और व्यंजन से फूट पड़ता है जो अपनी कर्कशता में भी आकर्षक एवं दीर्घता में भी मधुर है।^१ यह एक स्थूल सा विचार है। हमारे विचार में किसी भाषा के बलिष्ठ अथवा गरिष्ठ उच्चारण का कारण सामान्यतः उस भाषा में हकार ध्वनि और मूर्धन्य वर्णों का बाहुल्य हुआ करता है। हकार ध्वनि (aspiration) के सम्बन्ध में स्थूल रूप से इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि हरियाणवी में हकार ध्वनि की बहुलता ही नहीं, प्रत्युत बहुलता की चरम सीमा विद्यमान है। यहां तक कि इसके लगभग सभी स्वरों का औरस्यीकरण हो जाता है। कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं— (यहां संबन्धित स्वर से आगे 'ह' लगा कर औरस्यीकरण प्रकट किया जा रहा है) :—

(क) हकार के आगम से स्वरों का औरस्यीकरण, यथा : साँह्मी बाँह्सड़ा। इन शब्दों में पहले 'ह' की ध्वनि नहीं थी।

(ख) पहले से विद्यमान हकार के कारण स्वरों का औरस्यीकरण—बाहर→बाँहर, दोहरा→दूँहरा।

(ग) वर्णविपर्यय के कारण 'हकार' की ध्वनि का अपने स्थान से निपात और इसके फलस्वरूप पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती स्वर का औरस्यीकरण, यथा : ग्यारहवीं→ग्यारह्मी, बारहवीं→वोरह्मी।

(घ) परवर्ती वर्ण में विद्यमान 'ह' की ध्वनि अपने स्थान पर रहती हुई भी पूर्ववर्ती स्वर को प्रभावित करके उसका औरस्यीकरण करती है, यथा : साँह्धी (शोध)।

(४) मूर्धन्य वर्ण : पहले कहा जा चुका है कि हरियाणवी की कर्कशता का एक कारण मूर्धन्य वर्णों का बाहुल्य है। इनमें भी एकार हरियाणवी की पुरानी और इतनी प्रिय ध्वनि है कि इसने यत्र-तत्र अथ च लगभग सर्वत्र विदेशी नकार को भी 'एकार' में बदल कर ही ग्रहण किया है, यथा : टेस्सण, लालटण, बटण, दाम्मण, (दामन), फोरण, (फौरन), हाण (आन) (थोड़ा समय, देर)।

(५) उपर्युक्त स्थिति 'ल्' पर भी लागू होती है। उसका भी मूर्धन्य रूप 'ल्व' बन जाता है। यद्यपि पद के आदि में 'ल' नहीं मिलता तथापि मध्य तथा अन्त में इसकी बहुलता है।

१. हरियाणा प्रदेश का लोकसाहित्य—डा. शंकरलाल यादव, पृष्ठ ८३।

(६) यकारादि शब्दों को जकारादि में बदल कर बोलने की प्रथा यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा से प्रारम्भ हुई थी।^१ इसके फलस्वरूप हरियाणवी में 'यकार' के दर्शन कहीं-कहीं होंगे। इसी प्रकार संस्कृत का 'व्' हरियाणवी में सर्वत्र 'व्' में बदल गया है क्योंकि यह भी उसी शाखा के सिद्धान्तानुसार—अर्थात् पद का आदि व् → व्व् बोले जाने से, 'व्' में बदल गया है।^२

(७) कारक चिह्न : (क) संस्कृत के कारकों अथवा विभक्तियों की स्थिरता प्राकृत काल में ही समाप्त हो चुकी थी। इससे प्रतीत होता है कि साधारण लोगों की भाषा सरलीकरण की ओर अग्रसर हो चुकी थी। यह प्रवृत्ति इतनी अधिक प्रबल हो उठी कि कर्म-सम्प्रदान अथवा करण-अपादान या कर्त्ता-कर्म-सम्प्रदान इत्यादि का विचार तो दूर रहा, कर्म के स्थान पर अधिकरण और अधिकरण के स्थान पर कर्म का प्रयोग भी उसी काल में होने लगा। 'शेषे षष्ठी' के विचार से सम्बन्ध कारक की गति सर्वथा निर्बाध हो गई। हरियाणवी 'नाई का' कहने से 'नाई का लड़का', 'नाई की' से 'नाई की लड़की' 'मेरे' से 'मेरे घर' आदि ध्वनि निकल आती है। इस प्रकार हरियाणवी अभिव्यक्ति में संबन्ध कारक के विस्तृत प्रयोग से एक विचित्र प्रकार की संक्षिप्तता आ गई है। इसके अतिरिक्त हरियाणवी में संबन्ध कारक के इलावा केवल तीन चिह्न अर्थात् 'ने', 'ते' या 'तै', तथा 'मे', 'मे' से समस्त कारकों की रचना संभव है।

(ख) हरियाणवी में एक ही समय में एक से अधिक कारक चिह्नों का प्रयोग भी होता है, यथा :

१. टांड् पे ते जेली तार् ल्या ।

२. नाई के नें बुलौंदा ल्याइए ।

३. बहू के कमीज के कपड़े में ते आध् गज् चौक्कस् बाच्चंगा, छौहरी के में ते कित्णां बाच्चंगा ।

(ग) पूर्वकालिक क्रिया के अन्त में 'ने' परसर्ग का निरर्थक प्रयोग पाया जाता है, यथा :—

खा के ने सौ जा अर् मार के ने भाज् जा ।

(खा कर सौ जाओ और मार कर भाग जाओ) ।

(घ) कभी-कभी कर्त्ता की विभक्ति उससे विछुट कर अलग हुए विशेषण के साथ भी आती देखी जाती है। यह भावावेश की अवस्था में ही पाया जाता है, यथा :—

काले मूंह आली रांड् ने डाक्कण् सी ने खा लिया ।

काले कुते ने डाक्की से ने पाड् लिया ।

१. पादादौ विद्यमानस्य ह्यसंयुक्तस्य यस्य च, आदेशो हि जकारः स्याद्युक्तः सन् हरणेन तु ।

लघु माध्यन्दिनीय शिक्षा श्लोक २, ३ ।

२. गुरुर्वकारो विज्ञेयः पादादौ पठितो भवेत् । लघु माध्यन्दिनीय शिक्षा, श्लोक— ७ ।

(ङ) हरियाणवी में पंजाबी की भांति सम्बन्ध कारक के चिह्न 'का, की' आदि के बहु व०, का प्रयोग सामान्यतः नहीं पाया जाता, परन्तु निम्नलिखित स्थिति देखिए:—

उन् क्यां पे के धर्या से (उन के लड़कों के पास कुछ नहीं है) ।

उन् कीआं पे के जाइएगा ? (उनकी बातों पर क्या ध्यान देना है) ।

साधारण बोल-चाल में ऐसा वाक्य सर्वसाधारण की जिह्वा पर मिलेगा । ध्यान से देखने पर विदित होगा कि उपर्युक्त वाक्यों में प्रयुक्त 'का', 'की' के बहुवचन "क्यां और 'कीआं' से 'लड़कों' और 'बातें' का अध्याहार हो जाता है । ये संज्ञाओं की भांति प्रयुक्त हो रहे हैं । इन वाक्यों में अपेक्षित संज्ञाएँ प्रयुक्त होने पर इनका बहुवचन रूप संपन्न नहीं होगा, यथा :—

उनकी बातयां पे के जाइएगा ?

(६) ऊपर ८ (घ) के उदाहरण पर दृष्टिपात कीजिए । हरियाणवी के विशेषणों की स्थिति स्पष्ट हो जाएगी अर्थात् हरि० के विशेषण सामान्यतः विशेष्य के पहले ही रहते हैं परन्तु भावावेश में जब एक से अधिक विशेषणों का प्रयोग किया जाए तो कुछ विशेषण विशेष्य से पहले और कुछ विशेष्य के बाद भी आ सकते हैं, परन्तु बाद में आने वाले विशेषणों के साथ विशेष्य के परसर्ग की आवृत्ति भी आवश्यक हो जाती है ।

(१०) हरियाणवी के सर्वनामों के सम्बन्ध में दो बातें विशेष उल्लेखनीय हैं । एक यह कि निश्चयवाचक सर्वनाम 'यू, योह्, यो वोह्, वे' के स्त्रीलिंग रूप भी क्रमशः 'या', 'वा', होते हैं । दूसरी यह कि कतिपय सर्वनाम अपने कारक चिह्नों के साथ घुलमिल गए हैं, यथा :—

मन्नें, मनें, तन्नें, तनें, उन्नें, मत्ते, मत्ती, तत्ते तत्ती आदि ।

(११) क्रियाओं के संबन्ध में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं :—

(क) हिन्दी में जहां सहायक क्रिया के रूप में 'है' का प्रयोग होता है, वहां हरियाणवी में 'से' का प्रयोग होता है, तथापि पढ़े-लिखे लोगों के सम्पर्क के कारण 'है' भी हरियाणवी के लिए सर्वथा विदेशी नहीं है ।

(ख) वर्तमान काल में हिन्दी में जहां केवल 'है' का प्रयोग होता है, वहां निश्चयात्मकता पर बल देने के लिए हरियाणवी में 'से गा' का प्रयोग होता है; यथा :—

ओ घर में से (वह घर में है) परन्तु ओ घर में से गा (वह घर में अवश्य है) ।

(ग) इच्छा प्रकट करने के लिए हिन्दी में जहां वर्तमानकालिक कृदन्त का प्रयोग होता है, वहां हरियाणवी में इच्छार्थक गिजन्त रूप के साथ 'हे' या 'ऐ' का प्रयोग होता है, यथा :—

में बी खाऊँ हे/ऐ (मैं भी खाता), में बी कपड़ें धोऊँ हे/ऐ (मैं भी कपड़े धोता) ।

(१२) हरियाणवी में सामान्यतः कर्मवाच्य का प्रयोग नहीं होता। 'हवा द्वारा वृत्त गिराया गया' के स्थान पर 'हवा ने वृत्त गिराया' या 'वृत्त हवा से गिर गया' ही कहा जाएगा, तथापि 'हा रे मार्या गया रे' जैसी भावात्मक उक्तियों की कमी नहीं है।

४. हरियाणवी : हिन्दी-उर्दू तथा पंजाबी

हरियाणवी का संक्षिप्त परिचय पीछे दिया जा चुका है।^१ इसकी उत्तरी सीमा पर अर्थात् घग्घर नदी के दूसरी ओर पंजाबी की बोलियाँ मिलनी आरम्भ हो जाती हैं और उधर खड़ी बोली के क्षेत्र अम्बाले के पश्चिमी भाग से पंजाबी का आधिपत्य आरंभ होता है। प्रामाणिक साहित्यिक पंजाबी से सामान्यतः 'माम्हे'^२ की बोली अभिप्रेत है। इधर हिन्दी के अन्तर्गत हिन्दवी (हिन्दुई या हिन्दवी), दक्खिनी, हिन्दुस्थानी (या हिन्दुस्तानी) और खड़ी बोली का समाहार हो जाता है और हिन्दी के अन्य नाम रेख्ता, रेख्ती और उर्दू भी हैं।^३ डा. सुनीतिकुमार चटर्जी जी ने उर्दू को हिन्दी या हिन्दुस्तानी का मुसलमानी रूप माना है जो १७वीं, १८वीं शताब्दी के दौरान किसी समय अस्तित्व में आया।^४ जार्ज ग्रियर्सन भी हिन्दी और उर्दू को हिन्दुस्तानी की दो विभिन्न शैलियाँ मानते हैं।^५

यहां हम देखेंगे कि हरियाणवी का हिन्दी (शैली भिन्नता से उर्दू) और पंजाबी के साथ क्या संबंध है। वस्तुतः हरियाणवी (हरियानी, जादू अथवा बांगड़), पंजाबी और हिन्दुस्तानी के संबंध में 'सर्वे' के अन्तर्गत डा. ग्रियर्सन द्वारा व्यक्त किए गए विभिन्न मतों से ही प्रस्तुत समस्या का श्रीगणेश होता है। उनके अनुसार हरियाणवी (अर्थात् बांगड़) बर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी का वह रूप है जिसमें पंजाबी

१. देखिए पीछे 'भाषा का नामकरण' ओर हरियाणवी की विशेषताएँ। यहां हरियाणवी से केन्द्रीय हरियाणवी अभिप्रेत है।

२. अमृतसर और लाहौर के आस-पास के इलाके को 'माम्हा' कहते हैं जिसमें जिला शेखुपुरा और गुरदासपुर का कुछ भाग भी शामिल है।

३. हिन्दी की निरुक्ति और इसके विभिन्न नाम आदि के विस्तृत तथा विशद विवेचन के लिए देखिए - भा० भा० स० उपोद्घात पृष्ठ ७६-९३।

४. "........and Urdu, a compromise language given birth to by the force of circumstances, came into being during the 17th-18th century as a Musalman form of Hindi or Hindustani (Hindusthani), Indo Aryan and Hindi by S. K. Chatterjee, I Edn., 1942, p. 102.

५. "The name 'Urdu' can therefore be confined to that special variety of Hindostani in which Parsian words are of frequent occurrence and which

और राजस्थानी का पर्याप्त मिश्रण पाया जाता है^१ अथवा जिसकी शब्दावली पंजाबी भाषा की है और व्याकरण अहीरवाटी—फलस्वरूप राजस्थानी—द्वारा नियंत्रित है।^२ फिर पंजाबी ऐसी भाषा है कि जिसकी आधार-शिला लहंदा है और उसका वाह्याकार हिन्दुस्तानी ने स्थिर किया है। उनका मत है कि वर्तमान पंजाबी के क्षेत्र में मूलतः लहंदा बोली जाती थी और इधर जमना नदी के दोनों ओर पाई जाने वाली वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी ने—अर्थात् हरियाणवी और अम्बाले की खड़ी बोली ने लहंदा को धकेलते धकेलते दूर तक हटा दिया और इस संघर्ष की प्रक्रिया के फलस्वरूप लहंदा के पूर्वी भाग में पंजाबी का जन्म हुआ।^३ दूसरे शब्दों में पंजाबी को जन्म देने का श्रेय हरियाणवी तथा

hence can only be written in the Parsian character, and similarly Hindi can be confined to the form of Hindostani in which Sanskrit words abound and which hence can only be written in Deo-Nagari character.” Ling. Surv., Vol. IX, Part I, p. 47.

१. (a) “It is the vernacular Hindustani of the upper Doab much mixed with Punjabi and Rajasthani.” Ling. Survey, Vol IX, Part I, p. 252.

(b) “It is a distinct dialect of western Hindi strongly influenced by Punjabi and Rajasthani-called Bangru or Jatu.” Survey Vol. IX, Part I, p. 63.

२. “It is a form of Western Hindi influenced in its vocabulary by Punjabi and strongly affected in its grammar by Ahirwati of Gurgaon. . . .” Ling. Survey, Vol. IX, Part I, p. 66.

३. “There can be no doubt, if linguistic evidence is of any value that a language closely akin to this Lahnda was also once spoken over the entire area of which Punjab is now the vernacular. Immediately to the east of Punjab we have the Hindustani forms of Western Hindi which are spoken on both sides of the river Jamna and the upper Gangoti Doab. It is clear from the present linguistic conditions that an old form of this Hindostani has gradually spread over the whole of eastern Punjab, superseding the old Lahnda language as far at least as the upper half of the river Chenab.

...

...

...

“To change the metaphor, its substratum is a language of the outer circle akin to modern Lahnda while its substructure is a dialect of western Hindi. The superstructure is so important and has so concealed the foundation that Punjabi is rightly classed, at the present day, as a language of the central group.” Grierson on Punjabi, pp. 8-9.

क्या हरियाणवी और खड़ी बोली का जन्म ब्रजभाषा से हुआ ?

१७

खड़ी बोली को है। ग्रियर्सन का यह कथन उसके हरियाणवी संबंधी पूर्ववर्ती कथन का विरोधी है। यदि हरियाणवी और खड़ी बोली ने पंजाबी को जन्म दिया तो अकेली हरियाणवी में पंजाबी की शब्दावली कैसे चली आई ? इसके अतिरिक्त हिन्दुस्तानी के संबंध में उनका मत है कि वर्नाक्यूलर हिन्दुस्तानी^१ (और फलस्वरूप साहित्यिक हिन्दुस्तानी) पश्चिमी हिन्दी का ऐसा रूप है जिससे हमें पता चलता है कि 'ब्रजभाषा' कैसे धीरे-धीरे एक ओर पंजाबी और दूसरी ओर राजस्थानी में विलीन होती जा रही है। संक्षेप में ग्रियर्सन के अनुसार—

हरियाणवी (या बांगड़) = हिन्दुस्तानी का एक रूप : पंजाबी + राजस्थानी ।

पंजाबी = लहंदा + हिन्दुस्तानी तथा हरियाणवी ।

हिन्दुस्तानी = ब्रजभाषा का वह रूप जो धीरे-धीरे पंजाबी और राजस्थानी में विलीन होता चला जाता है ।

इस का भाव यह हुआ कि पहले ब्रजभाषा से हरियाणवी और खड़ी बोली का आविर्भाव हुआ और ब्रजभाषा के उस रूप ने लहंदा से मिल कर पंजाबी को जन्म दिया ।

क्या हरियाणवी और खड़ी बोली का जन्म ब्रजभाषा से हुआ ?

प्रारम्भ में कई एक विद्वानों को यह भ्रान्ति रही कि खड़ी बोली या हिन्दुस्तानी का उदय ब्रजभाषा से हुआ और विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की 'पड़ी बोली' को खड़ी बना दिया।^२ बाबू बालमुकुन्द गुप्त अपनी पुस्तक 'हिन्दी भाषा' में लिखते हैं—वर्तमान हिन्दी भाषा की जन्मभूमि दिल्ली है। वहीं पर ब्रजभाषा से वह उत्पन्न हुई, वहीं उस का नाम हिन्दी रखा गया।^३ गोस्वामी गौरचरण 'ब्रज' और 'खड़ी बोली' में साता और पुत्री का सम्बन्ध मानते हैं।^४ बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ब्रजभाषा तथा पंजाबी के मिश्रण के फलस्वरूप खड़ी बोली की उत्पत्ति मानते हैं।^५ इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के अनेक दिग्गजों को हिन्दुस्तानी के जन्म के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्ति-सी रही है। यही स्थिति उर्दू के

१. " ...Vernacular Hindostani (and consequently Literary Hindostani) is that form of Western Hindi which shows that Braj Bhakha dialect shading off into Punjab and Rajasthani, and such indeed is the fact."

.....Survey Vol.IX Part I. P.65.

२. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—पुरानी हिन्दी पृष्ठ १०७ ।

३. बाबू बालमुकुन्द गुप्त—हिन्दी भाषा पृष्ठ क (भूमिका) ।

४. गोस्वामी गौरचरण—हिन्दी और ब्रजभाषा—(लेख) द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की रिपोर्ट में प्रकाशित—ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली से उद्धृत पृ० ४५ ।

५. ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली से उद्धृत—पृष्ठ ४५ ।

विद्वानों की थी। श्री मुहम्मद हुसैन आजाद अपनी पुस्तक आबेहयात का श्रीगणेश ही इस वाक्य से करते हैं—“इतनी बात हर शख्स जानता है कि हमारी उर्दू ज़बान ब्रजभाषा से निकली है और ब्रजभाषा खास हिन्दुस्तानी ज़बान है।”

इन विद्वानों की यह धारणा संभवतः इसलिए रही कि खड़ी बोली का प्रचार दिल्ली और आगरा से आरम्भ हुआ। आगरा ब्रज का केन्द्र है तो दिल्ली उसके निकट है।^१ इधर हिन्दी साहित्य के पूर्व तथा उत्तर मध्यकाल में कई शताब्दियों तक ब्रजभाषा की तूती बोलती रही और खड़ी बोली के साहित्य का जन्म ब्रजभाषा-साहित्य के सिर पर पांव रख कर ही हुआ। शुरू-शुरू में अमीर खुसरो की पहेलियों में खड़ी बोली के नमूने अवश्य मिलते हैं, परन्तु बाद की कई शताब्दियों तक उस काव्य-धारा का कोई निशान न मिलने से उन्हें भी सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा। भले ही बीच-बीच में कबीर जैसे सन्त कवियों की अटपटी बाणी की सधुक्कड़ी बोली उस की प्रच्छन्न सत्ता का आभास देती रही। श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने भी यह बात अवश्य कह दी कि विदेशी मुसलमानों ने दिल्ली की ‘पड़ी’ बोली को ‘खड़ी’ बना दिया, परन्तु वे भी ‘शार्ङ्गधर-पद्धति’ में हिन्दी-संस्कृत मिश्रित भाषा का निम्नलिखित नमूना देखकर चौंक पड़े :—

नूनं बादल छाइ खेह पसरी निःश्राणशब्दः खरः,
शत्रुं पाडि लुटालि तोडि हनिसौं एवं भणंत्युद्भटाः ।
झूठे गर्व भरा मघालि सहसा रे कन्त मेरे कहे,
कंठे पाग निवेश जाह शरणं श्रीमल्लदेवं विभुम् ॥

इन अवतरणों से जान पड़ता है कि उस समय हिन्दी के दोनों रूप प्रचलित थे, खड़ा और पड़ा। ‘बादल छाइ खेह पसरी’ भी है और ‘रे कन्त मेरे कहे’ भी है।^२ यह चौदहवीं शताब्दी के अन्त की बोलचाल की भाषा का नमूना है। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि गुलेरी जी के मस्तिष्क में एक धारणा बन चुकी थी और ऐसे नमूनों के होते हुए भी वे पड़ी बोली से खड़ी बोली बनने के सिद्धान्त पर अटल रहे। ग्रियर्सन जैसे अन्य सजग महानुभावों की भी यही स्थिति दिखाई देती है। अतः वस्तुस्थिति की यथार्थ जांच के लिए ब्रज, खड़ी बोली और हरियाणवी का तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित जान पड़ता है।

ब्रजभाषा^३ : खड़ी बोली तथा हरियाणवी

ध्वनियां : ब्रजभाषा में ‘ण्’ और ‘ल्’ का प्रयोग नहीं मिलता। ये दोनों

१. डा० कपिलदेव सिंह—ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली पृष्ठ ४६।

२. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी : पुरानी हिन्दी पृष्ठ २०-२१। यह नमूने १४वीं शताब्दी की अन्त की बोल-चाल की भाषा के हैं।

३. इस अध्ययन के लिए ब्रजभाषा के नमूने निम्नलिखित पुस्तकों से लिए गए हैं :

(१) ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली। (२) भो० भा० सा०।

ध्वनियां हरियाणवी में विद्यमान हैं—विद्यमान ही नहीं अपितु हरियाणवी की अत्यन्त प्रमुख ध्वनियां हैं। खड़ी बोली की बोल-चाल की भाषा के क्षेत्र में ये दोनों ध्वनियां विद्यमान हैं, परन्तु साहित्यिक हिन्दुस्तानी में 'ल्' का पूरी तरह अभाव है। इस का एक कारण यह है कि अरबी लिपि में इस प्रकार की ध्वनियों के लिए 'न्' तथा 'ल्' से ही काम लिया जाता था। दूसरे साहित्यिक हिन्दुस्तानी के पनपते समय ब्रजभाषा इसे परोक्ष रूप से प्रभावित करती रही है। हो सकता है कि साहित्यिक हिन्दुस्तानी में 'ण्' की कमी तथा 'ल्' के अभाव का एक कारण यह भी हो। उदाहरणों के लिए देखिए:—

ब्रज	हिन्दुस्तानी	हरियाणवी
कारो	काला	काला
अपनो	अपना	अपणा
सरन	शरण	सरण

ब्रजभाषा में 'ङ्' के स्थान पर भी अधिकतर 'र्' पाया जाता है, यथा ब्रज—सरक, हिन्दु०—सड़क, हरि०—सरड़क्। ब्रजभाषा और हरियाणवी में श्→स् तथा य्→ज्, व्→व् में बदल जाते हैं। साहित्यिक हिन्दुस्तानी के तत्सम शब्दों में ये ध्वनियां ज्यों की त्यों मिलती हैं परन्तु तद्भव शब्दों में वहां भी श्→स् और य्→ज् के रूप में मिलता है। इसी प्रकार शब्द के भीतर अर्थात् स्वर-मध्यवर्ती-व्—'हरि० तथा ब्रज दोनों में -ओ-, और -य्- → -ए- में बदल जाता है।

रूप-भेद : रूप-भेद की दृष्टि से हरियाणवी और खड़ी० एक ओर तथा ब्रज-भाषा दूसरी ओर है। हरि० तथा हिन्दु० 'आकारान्त' बहुला हैं तो ब्रज ओकारान्त या औकारान्त बहुला है, यथा : ब्रज-गधो या गधौ, हिन्दु०—गधा, हरि० गधा। डा० तिवारी जी लिखते हैं—“ब्रजभाषा में हिन्दी 'आ' प्रत्यय के बदले 'औ' प्रत्यय ही प्रयुक्त होता है। पूर्व की ब्रजभाषा में, कन्नौजी के प्रभाव से, 'ओ' का 'औ' उच्चारण आरम्भ हो जाता है।”

विकारी रूपों के साथ ब्रजभाषा में 'न्', 'नि', 'नु' प्रत्ययों का प्रयोग बहु व० बनाने के लिए किया जाता है, यथा : बालकन्, कटाछनि, दगनु। हिन्दु० में बहु व० के लिए -ओं का प्रयोग होता है, यथा : बालकों, कटाछों, दगों। हरि० में इस उद्देश्य के लिए -आं, -यां का प्रयोग होता है, यथा : घोड़्यां, बालक्यां, बहुआं। परन्तु ईकारान्त शब्दों के बहुवचन के रूप बनाने के लिए ब्रज में -यां, हरि० में -आं प्रयुक्त किया जाता है, यथा : ब्रज -नंदरनियां, हरि० नंदराणिआं। अविकारी आकारान्त शब्दों के बहुवचन के रूप बनाने के लिए ब्रज में -ऐं, -ए, हिन्दु० में -ए, -एं, हरि० में -ए का प्रयोग किया जाता है, यथा : ब्रज -आंखें, हिन्दु० आंख, आंखें, हरि० आंख्, ब्रज घोड़े, हिन्दु० घोड़े, हरि० घोड़े।

ब्रज, हिन्दुस्तानी और हरियाणवी तीनों के कारक चिह्नों में पर्याप्त भिन्नता है, यथा :—

	हिन्दुस्तानी	ब्रज	हरियाणवी
कर्ता	ने (विकारी)	ने (विकारी)	नं (विकारी)
कर्म	को	को, कौ, कों, कौं, कूं, कुं, हिं, कहं	नं ते, तें, ती, तीं
करण	से	से, सों, सौं, ते, तैं	तें, तैं
सम्प्रदान	को, के लिए	को, कौ, कों, कौं, कूं, हिं,	नं, तें, ती, तीं, तें
अपादान	से	से, सों, सौं, ते, तैं	तें, तैं
सम्बन्ध	का, के, की	को, कौ, के, कें, कै, कै, की	का, के, कें, की
अधिकरण	में, पर	में, मैं, मो, पै, पर, मांहि, मांभ, मंह, मधि	में प

ब्रज, हिन्दु० तथा हरि० के सर्वनामों में भी पर्याप्त अन्तर है। सुविधा की दृष्टि से इन्हें भी विस्तार से देखिए :

१. पुरुष वाचक	ब्रज	हिन्दु०	हरि०
(क) उ० पु० एक व०			
कर्तृ	मैं, हौं, हों,	मैं	अं
विकारी	मो, मुज, मोहि, मुहि	मैं, मुझ, मेरे	अं, मेर्
सम्बन्ध	मेरो, मेर्यौ	मेरा, मेरे, मेरी	मेरा, मेरे, मेरे, मेरी
(ख) उ० पु० बहु व०			
कर्तृ	हम	हम	हम्
विकारी	हम, हमौं हमनि, हमन	हम, हमारे	हम्, म्हार
सम्बन्ध	हमारौ, हमार्यौ	हमारा, हमारे	म्हारा, म्हारे, म्हारी

(ग) उ० पु० के दोनों वचनों के रूपों में तीनों भाषाओं में जो भेद पाया जाता है वही भेद म० पु० के रूपों में भी ज्यों का त्यों विद्यमान है।

(घ) ब्रज भाषा में हिन्दु० तथा हरि० की अपेक्षा रूप भेद (अर्थात् वैकल्पिक रूप) अधिक हैं। अन्य पुरुष के रूपों में ब्रजभाषा में सो, तौन, (कर्तृ) अधिक मिलते हैं। शेष रूप तीनों भाषाओं में लगभग समान हैं। अन्य पुरुष के विकारी तथा संबंध कारक के रूप हिन्दु० तथा हरि० में एक जैसे हैं, परन्तु ब्रज में ये रूप कुछ भिन्न हैं। ब्रज में 'वह' के विकारी रूप विस, वा, वाहि और विकल्प से तिस, ता, ताहि, 'वे' (बहु व०) के

विकारी रूप उनि, उन, उन्हौं, विनि, विन, विन्हौ, तिनि, तिन, तिन्हौं हैं। हिंदु० में एकवचन उस, बहुवचन उन, हरि० में एकवचन उ-, उस्, बहुवचन उन्, उन्ह हैं।

(२) शेष सर्वनामों के रूप संक्षेप में इस प्रकार हैं :

	ब्रज	हिन्दु०	हरि०
(क) निज वाचक	आप, आपु,	आप	आप, आप्पे
(ख) सम्बन्ध वाचक	जो, जौन, जे, जिन	जो	जो, जोण्, जुण्
(ग) प्रश्न वाचक	कौन, को, का, किन	कौन, क्या	कोण, कूण, के
(घ) अनिश्चय वाचक	कोऊ, कोय, काहू, कोई	कोई	कोए
	कुछ, कछू, कछूक	कुछ	कुछ, किम्मे

तीनों भाषाओं की क्रियाओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :

पूर्वकालिक क्रिया—हिन्दी में पूर्वकालिक क्रिया के अन्त में '—ना' होता है, हरि० में सामान्यतः '—णा' होता है और ब्रज में नों, नो, नौ, नौं, न्, वो, वौ होता है, यथा :

हिन्दी : मारना, देना, होना,

हरि० : मारणां, देणां, होणां,

ब्रज : मारन्, सारनौ, मारनौं, मारनो, मारनौं, मारिवौ, मारिवौं, देना, देनौं, देनौं, देनौ, देवौं ।

वर्तमान कृदन्त के कर्तृवाच्य के रूप हिन्दी में —ता, हरि० में —दा, और ब्रज में —तु, —त लगा कर सम्पन्न होते हैं, यथा :

हिन्दी : मारता, होता,

हरि० : मारदा, होदा,

ब्रज : मारतु, मारत, होतु, होत ।

भूतकालिक कृदन्त के रूप हिन्दी में —आ, —या, हरि० में —या और ब्रज में —ओ, —औ, —यो, —यौ लगा कर सम्पन्न किए जाते हैं, यथा :

हिन्दी : मारा, किया

हरि० : मार्या, कर्या

ब्रज : कीनौ, कीनौ, कियो, कियौ, मारौ, मारौ ।

हिन्दी, हरि० तथा ब्रज में सहायक क्रिया 'होना' के रूप निम्नलिखित हैं :

हिन्दी	हरि०	ब्रज
--------	------	------

वर्तमान काल :—

	एकव०	बहुव०	एकव०	बहुव०	एकव०	बहुव०
उ० पु०	हूँ	हैं	सूँ	सां	हौं, हों	हूँ, हैं
म० पु०	हूँ	हो	सं	सो	है	हौ
अ० पु०	है	हैं	सं	सं	है, अहै,	हैं, अहैं,
					अहहि	अहहि

भूतकाल :—	हिन्दी	हरि०	ब्रज
उ० पु०	था थे	था थे	हौ, हो है, हैं
म० पु०	थी थीं	थी थी	ही हीं
अ० पु०			

विशेष :—

ब्रज भाषा में उपरिनिर्दिष्ट रूपों के अतिरिक्त हुतौ, हुतो, हुते, हुती आदि रूप भी मिलते हैं और ये रूप दोनों लिंगों में समान रूप से प्रयुक्त होते हैं।

भविष्यत् काल :—	हिन्दी	हरि०	ब्रज
उ० पु०	होऊंगा, हूँगा, होंगे, होवेंगे	हूँगा होवांगे, हूँ हौं, हूँइ हौं,	
म० पु०	होवेगा, होंगे, होवेंगे	होगा होओगे, हूँ है, हूँ हौं,	
अ० पु०	होगा होवेगा होंगे, होवेंगे	होगा होंगे, हूँ है, हूँ है	

विशेष :—

ब्रज में होइहौं, होऊँगौ आदि अन्य वैकल्पिक रूप भी चलते हैं।

उपर्युक्त विवेचन अर्थात् ब्रज, खड़ी बोली (हिन्दी) तथा हरि० का तुलनात्मक अध्ययन कुछ लम्बा अवश्य हो गया है परन्तु तीनों भाषाओं के ध्वनि-तत्त्व एवं रूप-तत्त्व का स्थूल दिग्दर्शन इस बात को स्पष्ट कर देता है कि खड़ी बोली और हरियाणवी ब्रज भाषा से नहीं निकलीं। इसके अतिरिक्त हरियाणवी तथा खड़ी बोली पर एक साथ दृष्टिपात करने के पश्चात् सहज ही विदित हो जाता है कि हरियाणवी, खड़ी बोली या हिन्दुस्तानी का एक रूप मात्र नहीं है, अपितु उसकी अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता है। इन दोनों में पर्याप्त समानता है तो विषमता की भी कमी नहीं। इस समानता के दो कारण हो सकते हैं :—

(१) एक यह कि दोनों भाषाओं में घनिष्ठ सम्पर्क रहा हो।

(२) दूसरा यह कि हिन्दुस्तानी (खड़ी बोली) का वर्तमान रूप बहुत देर की उपज है जिसके परिष्करण तथा विकास में हरि० के अतिरिक्त अन्य उपभाषाओं का योग भी रहा होगा। अतः हिन्दुस्तानी को परिष्कृत रूप प्रदान करने वाली समस्त बोलियों का विकास किसी एक प्राचीन प्रादेशिक भाषा अथवा अत्यधिक समानता रखने वाली प्रादेशिक भाषाओं से हुआ होगा।

हरियाणवी तथा पंजाबी

ब्रज, खड़ी बोली और हरियाणवी के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में स्पष्ट विचारधारा बना लेने के पश्चात्, कि इनमें से कोई भी भाषा एक दूसरी का उद्गम स्रोत नहीं रही है, हम ग्रियर्सन महोदय की दूसरी समस्या पर विचार करेंगे। दूसरे शब्दों में हम देखेंगे कि क्या हरियाणवी ने या हिन्दुस्तानी ने लहंदा से मिलकर पंजाबी को जन्म दिया है अथवा हरियाणवी हिन्दुस्तानी का वह रूप है जिसमें पंजाबी और मेवाती (राजस्थानी) का संमिश्रण है।

हरियाणवी : मेवाती और पंजाबी

श्रीयुत ग्रियर्सन महोदय के अनुसार हरियाणवी की शब्दावली पंजाबी की है और व्याकरण मेवाती अथवा राजस्थानी का। इसी बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि “हरियाणवी” एक ऐसा वर्तन है जिसकी मिट्टी “पंजाबी” की है तो उसके बाह्याकार को स्थिर करने का काम “राजस्थानी” कर रही है। यदि इसका अभिप्राय यह है कि हरियाणवी तथा पंजाबी की शब्दावली तो मिलती जुलती है परन्तु उसका (हरि० का) उच्चारण राजस्थानी के समान है तो यह कथन अक्षरशः सत्य हो सकता है। वस्तुतः देखा जाए तो समस्त उत्तर भारत की आ० भा० आ० भा० की मूलभूत शब्दावली आपस में बहुत समान है। उच्चारण-भेद ही एक ऐसा भेद है जो बहुत से शब्दों को ऐसा रूप प्रदान कर देता है कि जिसके कारण वे शब्द विशुद्ध रूप से भाषा या उपभाषा विशेष के ही जान पड़ने लगते हैं, परन्तु यह कहना कि किसी भाषा का समस्त व्याकरण किसी दूसरी भाषा के व्याकरण से पूर्णतः नियन्त्रित है—एक बड़ी भारी भूल है।

ध्वनियां : हरियाणवी, मेवाती तथा पंजाबी इन तीनों भाषाओं के ध्वनिग्राम एक समान हैं। ‘ण्’ तथा ‘ल्’ की ध्वनियां राजस्थान, हरियाणा तथा पंजाब की अत्यन्त प्रिय ध्वनियां हैं। साहित्यिक पंजाबी भी ‘ण’ तथा ‘ल्’ का पूर्णतः बहिष्कार नहीं कर पाई है। हरियाणो के समीपवर्ती इलाके ‘पुआध’ और ‘मालवे’ में इनका अत्यधिक प्रचलन है। ‘काला’, ‘माला’, ‘दाणा’, ‘राणा—’, राणो आदि तीनों भाषाओं में समान रूप से पाए जाते हैं। इसी प्रकार ‘ङ्’ भी तीनों भाषाओं की प्रकृति के अनुकूल है।

हरियाणवी तथा मेवाती दोनों में ‘श्’ के स्थान पर ‘स्’ की प्रधानता है। इसी प्रकार दोनों में सं० य् → ज् तथा सं० व् → ब् बन गया है। पंजाबी इन दोनों से बहुत साम्य रखते हुए भी ‘श्’, ‘य्’, ‘व्’ को अपनाए हुए है। पंजाबी में कहीं-कहीं ‘वेर’ और ‘वेर’ (देर) तथा विन्ह्या और ‘विन्ह्या’ (विंधा) दोनों रूप पाए जाते हैं। इसी प्रकार ‘श्’ का मनमाना व्यत्यय तो ‘पंजाबी’ के लिए साधारण सी बात है, उदाहरणार्थ—शलग्राम—सगूमल् है तो वासना → वाशना (सुगन्ध) बन गया है।

पंजाबी, हरियाणवी और राजस्थानी तीनों भाषाओं में अघोष ‘ह्’ विद्यमान है। ‘बाहर’ का उच्चारण बाह्र पंजाबी तथा हरियाणवी दोनों में एक समान है। पंजाबी के बाह्ला (बहुत), काह्ला (उतावला), तथा नेह्र् इसी श्रेणी के अन्य उदाहरण हैं। राजस्थानी का ‘बोह्लो’ (बहुत) सोह्लो आदि भी इसी श्रेणी के हैं।

हरियाणवी और राजस्थानी के ध्वनिग्राम स्थूल रूप से एक समान ध्वनि रखते हैं। पंजाबी के ‘घ्’, ‘भ्’, ‘ध्’ और ‘भ्’—जबकि ये ध्वनिग्राम पद के आरम्भ में पाए जाते हैं, हरियाणवी तथा राजस्थानी के ‘घ्’, ‘भ्’, ‘ध्’ तथा ‘भ्’ से भिन्न

ध्वनि रखते हैं। पंजाबी का 'घ' = $\frac{1}{2}$ क + $\frac{3}{4}$ ह, भ् = $\frac{1}{2}$ च + $\frac{3}{4}$ ह, ध् = $\frac{1}{2}$ त् + $\frac{3}{4}$ ह और भ् = $\frac{1}{2}$ प् + $\frac{3}{4}$ ह। प्रकारान्तर से इस तथ्य को ऐसे भी कहा जा सकता है कि क, च आदि के तुरन्त पश्चात् सघन कंठ्य हकार ध्वनि सुनाई देती है और ध्वनियों का सम्मिश्रण नीर-चीर न्याय से हुआ जान पड़ता है।

रूप-भेद : रूप-तत्त्व की दृष्टि से भी तीनों भाषाओं में एक ओर पर्याप्त समानता मिलती है तो दूसरी ओर भिन्नता की भी कमी नहीं। हरियाणवी तथा पंजाबी आकारान्त प्रधान भाषाएं हैं तो मेवाती (राजस्थानी) ओकारान्त है। दोनों भाषाओं (हरि० तथा मेवाती) की संरचना में रूपतत्त्व के इस मूलभूत अन्तर को देखकर ही जार्ज ग्रियर्सन की धारणा गलत जान पड़ने लगती है कि हरियाणवी के व्याकरण पर मेवाती का नियंत्रण रहा है। यदि ऐसी बात होती तो मेवाती सबसे पहले हरियाणवी की आकारान्त पद्धति पर ही आघात करती। हो सकता है कि हरियाणवी तथा राजस्थानी के अन्य रूपों में पाई जाने वाली समानता के आधार पर ही जार्ज ग्रियर्सन ने उपर्युक्त बात कही हो। पुरुषवाचक सर्वनामों के रूप केवल हरि० तथा राजस्थानी में ही समान नहीं हैं प्रत्युत पंजाबी के पुरुषवाचक सर्वनामों के रूप भी इन दोनों भाषाओं के रूपों से बहुत मिलते-जुलते हैं। पंजाबी में म० पु० बहु व० के रूप दोनों से भिन्न हैं तो हरि० के पुरुषवाचक सर्वनामों के केवल कर्तृ के रूप ही मेवाती से मिलते हैं, विकारी रूप वहां भी भिन्न हैं। अन्य सर्वनामों के रूपों में तो तीनों भाषाओं में ही पर्याप्त अन्तर है।

हरियाणवी तथा मेवाती के कारक चिह्न पर्याप्त सीमा तक समान हैं। पंजाबी के कारक चिह्न इन दोनों से काफी भिन्न हैं। यद्यपि तीनों भाषाओं के कृदन्त रूप लगभग समान हैं फिर भी उनका प्रयोग भिन्न प्रकार से होता है। उदाहरणार्थ वर्तमान कालिक कृदन्त का प्रयोग पंजाबी में वर्तमान तथा संभाव्य भविष्यत् आदि कई एक कालों की रूप-रचना में सहायक होता है जबकि हरियाणवी में यह रूप पंजाबी के रूप के समान होते हुए भी अधिकांशतः विशेषण का ही काम देता है या वह संयोजक प्रकार की रचना के लिए प्रयोग में लाया जाता है। हरियाणवी में संभाव्य भविष्यत् आदि के रूप इच्छार्थक अथवा आज्ञार्थक रूपों के साथ सहायक क्रिया जोड़कर बनाए जाते हैं। ऐसी स्थिति में केवल यह देखकर कि हरियाणवी तथा पंजाबी में वर्तमान कालिक कृदन्त समान है, यदि कोई हरियाणवी को पंजाबी से प्रभावित मान बैठे, तो यह उसकी भूल है। इसी प्रकार मेवाती के क्रिया-पद तथा अन्य रूप हरियाणवी तथा पंजाबी के रूपों से पर्याप्त भिन्न हैं।

नीचे तीनों भाषाओं के समानांतर रूपों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जाता है :

(१) हरियाणवी तथा पंजाबी संज्ञाओं तथा विशेषणों की प्रवृत्ति आकारांत है, तो मेवाती की ओकारांत है। हरियाणवी तथा पंजाबी में 'घोड़ा' एक वचन तथा 'घोड़े' कर्तृ बहुवचन, 'घोड़्यां' विकारी बहुवचन है। मेवाती में 'घोड़ो' एकवचन, 'घोड़ा' कर्तृ बहुवचन, 'घोड़्यां' विकारी बहुवचन के रूप हैं। पंजाबी के

विशेषण भी वचन विकार को ग्रहण करते हैं (यथा हरीआं भरीआं गुच्छीआं)। हरि० तथा मेवाती में यह विशेषता नहीं पाई जाती है।

(२) कारक :—हरियाणवी, पंजाबी तथा मेवाती में कर्ता कारक का चिह्न मिलता-जुलता है। हरियाणवी तथा मेवाती में 'ने या नें', पंजाबी में 'ने'। कर्म तथा सम्प्रदान कारकों में मेवाती तथा हरियाणवी दोनों में 'ने' बराबर मिलता है तो पंजाबी में इसका रूप 'नू' विद्यमान है। हरियाणवी में 'ने या नें' के अतिरिक्त तें, तैं, ती, तीं रूप भी कर्म तथा सम्प्रदान कारकों में साधारणतः प्रचलित हैं। अपादान कारक में पंजाबी '—ओं' प्रत्यय और 'तो' परसर्ग सं काम लेती है। हरियाणवी तथा मेवाती में 'तें' से काम लिया जाता है। पंजाबी के सम्बन्ध कारक के परसर्ग 'दा, दे, दी' हैं तो हरियाणवी के 'का, के, की' और राजस्थानी के 'को', 'का' (वहु० व०) 'को' हैं।

(३) सर्वनाम :—हरियाणवी, मेवाती तथा पंजाबी के सर्वनामों का स्थूल परिचय ऊपर दिया जा चुका है। यहां उनके रूपों की किञ्चित् विस्तृत जानकारी रोचक रहेगी :

पुरुषवाचक सर्वनाम—

(क) उत्तम पुरुष : एकवचन

	हरियाणवी	मेवाती	पंजाबी
कर्तृ	मैं	मैं	मैं
विकारी	म—, मेर—	मुज, मूं, मेर	मैं—, म— (यथा मत्थौं—मेरे से)
सम्बन्ध-कारक	मेरा आदि	मेरो आदि	मेरा आदि।

उत्तमपुरुष : बहुवचन

	हम्	हम्, हमां	असीं
कर्तृ	हम्	हम्, हमां	असीं
विकारी	हम्, म्हारें	हम्, म्हारे	सा—, असा—
सम्बन्ध-कारक	म्हारा आदि	म्हारो आदि	साड्डा, आदि

(ख) मध्यम पुरुष : एकवचन

	तैं, तोंह्, तों	तूं	तूं
कर्तृ	तैं, तोंह्, तों	तूं	तूं
विकारी	त—, तेरें	तुज्, तूं, तेरें	ते—, तेरे—
सम्बन्ध-कारक	तेरा आदि	तेरो आदि	तेरा आदि

मध्यम पुरुष : बहुवचन

	तम्, थम्	तम्, तुम्, थम्	तुसीं
कर्तृ	तम्, थम्	तम्, तुम्, थम्	तुसीं
विकारी	तम्—, थम्—, थारें—	तम्, थार	तुहा—
सम्बन्ध-कारक	थारा आदि	थारो आदि	त्वाहड्डा आदि

अन्य पुरुष के लिए संकेतवाचक सर्वनामों से ही काम लिया जाता है। इनके रूप निम्नलिखित हैं :

(ग) यह : एकवचन

	हरियाणवी	मेवाती	पंजाबी
कर्तृ	योह्, यो, यू स्त्री लिंग या,	यो, ओ, स्त्रीलिंग या	एह्, स्त्रीलिंग(०)
विकारी	इस्—, इह्—,	ऐं—	एह्—
सम्बन्ध-कारक	इसका आदि	ऐं को आदि	एह् दा आदि

यह : बहुवचन

कर्तृ	येह्, ये	ये, ये	एन्हां
विकारी	इन, इन्ह्	इन्—	एन्हां
सम्बन्ध-कारक	इन का, इन्ह् को आदि	इन् को आदि	इन्हां दा आदि

(घ) वह : एकवचन

कर्तृ	वोह्, वो, ओह्, ओ, स्त्रीलिंग वा	वो, वोह्, ओ, स्त्रीलिंग वा	ओह्, स्त्रीलिंग (०)
विकारी	उस्, उह्	वें, वेंह्	ओह्—
सम्बन्ध-कारक	उस् का, उह् का आदि	वें को, वेंह् को आदि	ओह्—दा आदि

वह : बहुवचन

कर्तृ	वेह्, वे	वे, वे, वेह्	ओन्हां
विकारी	उन्, उन्ह्	उन्	ओन्हां—
सम्बन्ध-कारक	उन् का, उन्ह् का आदि	उन् को आदि	ओन्हां—दा आदि

(ङ) अन्य सर्वनाम : संक्षिप्त विवेचन

सम्बन्ध वाचक	जो, जोण, जुण	जो, ज्यो	जो, जेह् डा
प्रश्न वाचक	(अ) कोण, कूण	कोण	कौण
	(आ) के	के	की
अनिश्चय वाचक	(अ) कोए	कोई	कोई
	(आ) किम्में	किमें	कुश, कुम्

(४) क्रिया के रूप : वस्तुतः क्रियाओं के रूप ही भाषाओं की जान होते हैं। भाषा या उपभाषा को अलग-अलग श्रेणियों में रखने वाले कारक चिह्न सर्वनाम और क्रिया के रूप ही होते हैं। हरियाणवी, मेवाती तथा पंजाबी की क्रियाएं बहुत कम समानता रखती हैं। अधिक विस्तार में न जाकर हम स्थूल दिग्दर्शन मात्र से ही इस तथ्य का सम्यग् उद्घाटन कर सकेंगे :

(क) असमापिका के रूप :

हरियाणवी में अधिकांशतः - णां लगा कर निष्पन्न होते हैं परन्तु —ङ् तथा —ल् ध्वनियों के बाद कहीं कहीं —ना भी पाया जाता है, यथा जोड़ना और जोड़णां, उजालना और उजालना । पंजाबी में भी —णा लगा कर असमापिका के रूप बनाए जाते हैं, परन्तु रकारान्त धातुओं के साथ —ना प्रत्यय ही लगाया जाता है, यथा :— करना, मरना, धरना, जरना (सहन करना) ।

मेवाती में ये रूप—वो या गू लगा कर बनाए जाते हैं, यथा : व्हवो, होवो, व्हंगू (होना) ।

(ख) कृदन्त रूप :

	हरियाणवी	मेवाती	पंजाबी
वर्तमान कालिक कृदन्त	होंहा	होतो, व्हतो	हुँदा
भूतकालिक कृदन्त	होया	हुयो	होया

टिप्पणी :

पंजाबी के भूतकालिक कृदन्त बनाते समय कुछ धातुओं में अनियमितता पाई जाती है और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यहां वर्तमान कालिक कृदन्त तथा भूतकालिक कृदन्त में कोई अन्तर नहीं रह गया है। दोनों रूपों में अन्तर केवल इतना पाया जाता है कि एक स्थान पर अनुस्वार है तो दूसरे स्थान पर अनुस्वार नहीं है और एक स्थान पर —दा है तो दूसरे स्थान पर —ता है, यथा : पींदा, सौंदा (वर्तमान कालिक कृदन्त) पीत्ता, सुत्ता आदि (भूतकालिक कृदन्त) । परन्तु ✓खा के भूतकालिक कृदन्त में —ता न आकर —दा के साथ हल्की सी हकार ध्वनि मिल जाती है, यथा : खाद्दा (खाधा—लिखित रूप) ।

(ग) सहायक क्रियाएं :

	हरि०		मेवाती		पंजाबी	
	एक व०	बहु व०	एक व०	बहु व०	एक व०	बहु व०
उ० पु०	सूँ	सां	हुँ	हों	ऐं	आं
म० पु०	से	सो	हँ, हा	हो	ऐं	ओ
अ० पु०	से	सें	हँ	हँ	ऐ	ऐहन् (लिखित)
उ० पु० : पु० लि०	था,	थे	थो, हो, हौ	हा, था	सी	सन् (लिखित रूप)
म० पु०					(लिंग तथा	
अ० पु० : स्त्री लि०	थी,	थी	ही, थी	ही, थी	वचन भेद नहीं है)	
	गा	गे	गो	गा	गा	गे
	गी	गी	गी	गी	गी	गी

टिप्पणी :—

पुत्राधी में 'सी', 'सन्' सहायक क्रियाओं के स्थान पर 'था, थी' और 'ता, ती' तथा लिंग एवं वचनभेद किए बिना 'थी, ती' का प्रयोग भी किया जाता है।

उपरिनिर्दिष्ट एक ओर हिन्दुस्तानी, हरियाणवी, ब्रज और दूसरी ओर हरियाणवी, मेवाती तथा पंजाबी के तुलनात्मक अध्ययन से यह बातें नितांत स्पष्ट हो जाती हैं कि जार्ज ग्रियर्सन की धारणा भ्रान्तिपूर्ण है, और ये सभी भाषाएं अपने-अपने क्षेत्र की उपज हैं। इनका विकास खींच-तान करके किसी अन्य भाषा के साथ जोड़ना उचित प्रतीत नहीं होता। पंजाबी तथा हरियाणवी, हरियाणवी तथा ब्रज या मेवाती में इतनी ही समानता है, जो दो पड़ोसी भाषाओं में होनी चाहिए। इनके वर्तमान रूप को देखते हुए निस्संकोच कहा जा सकता है कि इनके प्राचीन रूपों में भी इतनी ही समानता रही होगी। संक्षेप में न ब्रज ने हिन्दुस्तानी को जन्म दिया है और न ही हरियाणवी हिन्दुस्तानी का रूप मात्र है, तथा न ही हिन्दुस्तानी तथा हरियाणवी ने लहंदा को धकेल कर पंजाबी को जन्म दिया है। इसी प्रकार हरियाणवी का बाह्याकार पंजाबी का नहीं है और न ही इसका व्याकरण मेवाती द्वारा नियन्त्रित है। समीपवर्ती भाषाओं में आदान-प्रदान की प्रक्रिया होती रहती है और होती रहेगी, परन्तु इससे भाषाओं के आकार-प्रकार अथवा उनको नियन्त्रित रखने वाले व्याकरण के नियमों पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा करता। भाषा का विकास सर्वथा स्वाभाविक गति से होता रहता है।

५. हरियाणवी का महत्त्व

राष्ट्रभाषा हिन्दी एक महान् सागर है और विभिन्न क्षेत्रों की भाषाएं, विभाषाएं तथा बोलियां उसकी सहायक एवं पोषक नदियां हैं। सागर का महत्त्व, उस की विशालता तथा गम्भीरता-पोषक नदियों पर निर्भर करता है। इसी प्रकार हिन्दी का महत्त्व विभिन्न क्षेत्रों में बोली जाने वाली बोलियों पर निर्भर करता है। वैसे भी देखा जाए तो हिन्दी का सच्चा स्वरूप, उसका सच्चा व्यक्तित्व, उसकी महान् शक्ति स्थान-स्थान की प्रकृत बोलियों में निहित है, जहां परम्परागत भाषा के स्वाभाविक विकास का पता चलता है। आज की साहित्यिक भाषा में संस्कृत-गर्भित शब्दावली के आग्रह से विकासशीलता के दर्शन नहीं होते। अतः हिन्दी के सच्चे स्वरूप को समझने के लिए उसकी उपभाषाओं का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

हरियाणवी ऐसे क्षेत्र की भाषा है, जहां से आधुनिक खड़ी बोली ने पनपना आरम्भ किया। यह ठीक है कि उत्तर भारत में इसका (खड़ी बोली) प्रचलन बहुत देर में हुआ, परन्तु उत्तर भारत में पहुँचने से पहले यह दक्षिणी भारत में पर्याप्त पनप चुकी थी और अपने पांव पर खड़ा होकर भागने की शक्ति रखने वाले बच्चे का स्वरूप ग्रहण कर चुकी थी। यही कारण है कि यहां पहुँचते ही उसने उर्दू और हिन्दी की दो भिन्न-भिन्न धाराओं में विभक्त होकर आगे बढ़ना आरम्भ किया।

दक्षिण में पनपने वाली भाषा क्या थी, कैसी थी, उसका कुछ आभास अवश्य मिलता है। उत्तर भारत से वहां पहुँचने वाली जनता के प्रतिनिधि लेखकों की भाषा में जो तत्त्व विद्यमान हैं उनमें से कुछ हरियाणवी में भी मिलते हैं।

प्राचीन दक्खिनी में जिन ध्वनियों के प्रति आग्रह है, आज की हिन्दी उनका परित्याग कर चुकी है। दूसरे शब्दों में, साहित्यिक भाषा ने उन्हें अशिष्ट अथवा ग्रामीण प्रयोग समझते हुए छोड़ दिया है अथवा ध्वनि विशेष का परिष्करण कर लिया है। उदाहरणार्थ—दक्खिनी हिन्दी में छोड़→छोड, पढ़े→पढे, चढ़ना→चढना^१ का प्रयोग मिलता है। ये रूप हरियाणवी में आज भी इसी उच्चारण के साथ पाए जाते हैं। इतना ही नहीं प्रत्युत हिन्दी ‘ढ़’ ध्वनि हरियाणवी में अब तक स्थान नहीं पा सकी है।

दक्खिनी में भी नासिक्य व्यंजन का स्वर सामान्यतः अनुनासिक हो जाता है, यथा खानां (खाना), बोलनां, आनां आदि।

दक्खिनी में भी पदान्त -आ से पूर्ववर्ती व्यंजन के तालव्यीकरण की प्रवृत्ति विद्यमान थी, यथा : मार्या, रह्या, कह्या, लग्या आदि। यह प्रवृत्ति आधुनिक खड़ी बोली में नहीं पाई जाती। केन्द्रीय हरियाणवी की यह प्रमुख विशेषता है।

दक्खिनी में गुज (मुझ), गुजे (मुझे), कुच् (कुछ), वी का प्रयोग मिलता है। “वी” आज भी हरियाणवी में ज्यों का त्यों विद्यमान है। शेष का प्रयोग भी इस क्षेत्र के मुसलमानों द्वारा किया जाता था। विभाजन के पश्चात् इन शब्दों का प्रयोग इस क्षेत्र में नहीं मिलता।

हरियाणवी तथा दक्खिनी दोनों में विकारी संज्ञाओं के बहुवचन बनाने के लिए -आं प्रत्यय से काम लिया जाता है। कोठरिआं ^{کوتریاں}, बातों ^{باتاں}, औरतां ^{اورتاں} आदि इसके उदाहरण हैं। दक्खिनी में यह प्रत्यय अविकारी हलन्त संज्ञाओं के बहुवचन बनाने के लिए तथा अन्यत्र भी प्रयुक्त होता है। हो सकता है कि प्राचीन हरियाणवी में अविकारी संज्ञाओं के बहुवचन बनाने का रिवाज भी रहा हो जो आज लुप्त हो चुका है।

दक्खिनी का एक वाक्य देखिए—रक्कीव ने रू स्याह ने वेनसीब ने बोलया (सब रस पृष्ठ ७१)। यह प्रयोग ऐसे ही हैं जैसे हरियाणवी का “काले ने कुत्ते ने डोक्की से ने पाड़ लिआ।” इतना ही नहीं कारक चिह्न “ने” का प्रयोग हरियाणवी “ने” के प्रयोग से पूरी तरह मिलता है। वहां इसका प्रयोग हरियाणवी की भांति कर्ता और कर्म दोनों के लिए होता है। खड़ी बोली में यह बात नहीं है। अन्य कारक चिह्नों में हरियाणवी “त” और “सेती” भी दक्खिनी में मिलते हैं।

दक्खिनी के अधिकांश सर्वनाम हरियाणवी के साथ मिलते हैं। दक्खिनी यू, हम, तम, यू (यह), इस, ये, वे, तेरा, मेरा आदि हरियाणवी में विद्यमान हैं।

१. दक्खिनी के रूप मुल्ला वजही कृत “सब रस” और इसके अन्त में दी गई शब्दावली से लिए गए हैं।

हरियाणवी के भूतकालिक कृदन्तों की भांति ही दक्खिनी के भूतकालिक कृदन्त बनते हैं, यथा : मार्या, कर्या, धर्या आदि । हरियाणवी के इच्छार्थक प्रकार के रूप दक्खिनी में इसी “प्रकार” के रूपों से बहुत मिलते जुलते हैं ।

इस प्रकार और भी बहुत सी विशेषताएं हो सकती हैं जो दक्खिनी हिन्दी और हरियाणवी में समान रूप से विद्यमान हों । उस समय हरियाणवी की स्थिति क्या थी और विदेशी मुसलमान उस समय की हरियाणवी से तथा आसपास की अन्य बोलियों से कितना क्या कुछ लेकर वहां गए इसका सही-सही अनुमान लगाना बहुत कठिन है । उस समय की दक्खिनी के जो नमूने आज उपलब्ध हैं उनसे पता चलता है कि उस भाषा में कई एक भाषाओं की—यथा, पंजाबी, मेवाती तथा हरियाणवी की मिली-जुली विशेषताएं मौजूद हैं । दक्खिनी की पूरी पूरी विशेषताएं आज की किसी एक क्षेत्र की भाषा में पूरी तरह से नहीं मिलतीं । अतः यह कहा जा सकता है कि उस समय की दक्खिनी हिन्दी में हरियाणवी का भी पर्याप्त अंश विद्यमान है ।

संक्षेप में (यदि दक्खिनी हिन्दी को वर्तमान हिन्दी या उर्दू की अग्रजा मान लिया जाए, तो) हिन्दी को वर्तमान स्वरूप प्रदान करने में हरियाणवी का विशेष योगदान रहा है । आज भी यह भाषा हिन्दी के बहुमुखी विकास में अन्य प्रादेशिक भाषाओं का हाथ बंटा सकती है ।

(६) हरियाणवी के अध्ययन की आधारभूत सामग्री

हरियाणवी जनताजनार्दन की भाषा है, इसलिए इसमें ऊंची उड़ान लेने वाले साहित्य का अभाव है । इस इलाके में न तो कोई सन्त या महात्मा ही हुआ जो गोस्वामी तुलसीदास जी की भांति इस लोकभाषा में कोई धार्मिक ग्रन्थ ही प्रणीत कर जाता और न कोई गाँधी जैसा महान् राजनैतिक नेता ही हुआ जो जनता के निकट पहुँचने के उद्देश्य से उनकी भाषा को अपनाता और उसके भाषण लिखित रूप में उपलब्ध होते । तथापि मनोरंजन के लिए यहां सांग, नाटक और लम्बे-लम्बे वीर गीत अवश्य रचे गए जो अधिकांशतः पुश्त-दरपुश्त ज़बानी चलते रहे और सांगी, भजनी या उनके चेलों के सरने के साथ ही सर गए । आज प्राचीनतम सामग्री का नमूना उपलब्ध हो सकना अत्यन्त कठिन है । कुछ ही समय पूर्व पंजाब के हिन्दी विभाग ने किसी हस्तलिखित-पुस्तक-विक्रेता से तथा-कथित हरियाणवी में रचित एक ग्रन्थ खरीदा है और कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के विद्वान् पं० स्थाणुदत्त शर्मा जी से इसका सम्पादन करवाया है । यह ‘सांग राजा रत्नसैन का’ नामक पुस्तक हीरालाल द्वारा लाडवा नगर (जिला करनाल) में सम्बत् १९२१ में लिखी गई थी । इसकी भाषा द्वारा सांग साहित्य के अन्य रचयिताओं की भाषा का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है क्योंकि साहित्यिक भाषाएं एक विशेष रूढ़ि का पदानुसरण किया करती हैं ।

उक्त पुस्तक से दो एक नमूने नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं :

पहला उदाहरण :

साकुंभर संसा हरो, करो कंठ मैं वास ।
...कुं... ...

सरन पड़ा आगे खड़ा, कारज हों सभ रास ॥
.....

उपरिनिर्दिष्ट उदाहरण में जिन शब्दों के नीचे (—) का चिह्न लगा हुआ है उन्हें शुद्ध साहित्यिक हिन्दी के पद कहा जा सकता है और जिन पदों के नीचे (...) चिह्न लगा हुआ है वे प्रायः तद्भव हैं। उन्हें भी हिन्दी के शब्द कहा जा सकता है। उपर्युक्त दोनों प्रकार के शब्दों के अतिरिक्त 'सभ' और 'मैं' ये दो शब्द ही हरियाणवी के बाकी रह जाते हैं। केवल दो पदों के आधार पर इस पद्य को हरियाणवी की रचना कहने की अपेक्षा हिन्दुस्तानी की रचना कहना अधिक संगत रहेगा। हरियाणवी में सरन=सरण, पड़ा=पड़चा, खड़ा=खड़चा, हरो=हरिओ, हरिए, करो=करिओ, करिए होता।

दूसरा उदाहरण :

तले हमारे महल के देता कौन अवाज
.....

खड़े गली के बीच में गढ़ चित्तौड़ के राज
खड़े मोरी के तले पियारी
...

कहो इनको जा ठहर, एक चिनैं हवेली म्हारी
... ...

जा जल्दी मत देर लगावै, कर दिल में हुसियारी
.....

तुमें साल दुसाले न्याम मिलें और रही मजूरी न्यारी ।
... ..

इस पद्य में जिन शब्दों के नीचे (...) का चिह्न अंकित है वे ही हरियाणवी के या उसके निकटवर्ती कहे जा सकते हैं (तले हरियाणे में तल और आवाज, 'वाज' होता है। (...) चिह्न द्वारा अंकित क्रियाएं इस बात को सिद्ध करती हैं कि लेखक को हरियाणवी भाषा का पूरा-पूरा ज्ञान तो है, परन्तु वह शुद्ध हिन्दी के शब्दों के मोह को नहीं छोड़ता। इसका कारण कदाचित् यह है कि सांग रचयिता परिमार्जित भाषा में काव्यता करके पठित या उच्च वर्ग में सम्मान पाने के इच्छुक थे। यह बात दूसरी है कि इस प्रकार का उद्देश्य होते हुए भी उनकी रचनाओं में देशज शब्द अपने आप ही आ कर बैठ जाते थे। इस लिए इन रचनाओं की भाषा न शुद्ध हरियाणवी है और न ही शुद्ध साहित्यिक हिन्दी। हमारे विचार में सांग साहित्य की समस्त रचनाएं यदि वे सबकी सब आज उपलब्ध भी हो जाएं तो ऐसी ही भाषा के नमूने पेश करेंगी।

प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ की भाषा का नमूना देखने के पश्चात् आज की रचनाओं की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। आज हरियाणा प्रदेश में भजनी और

सांगियों तथा उन के ग्रन्थों की कमी नहीं। सस्ता साहित्य भण्डार, खारी बावली दिल्ली द्वारा प्रकाशित पुस्तकसूची में हरियाणवी में रचना करने वाले १०० से ऊपर कवियों के नाम मिलते हैं और उन सब के ग्रन्थ बहुत अधिक संख्या में प्राप्य हैं। परन्तु इन सब की स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। सर्वप्रथम तो ये ग्रन्थ इतने अशुद्ध छपे हैं कि इन्हें पढ़ कर भाषा और भाव का सम्यक् ज्ञान ही नहीं हो सकता। दूसरे ये पुस्तकें जिन लेखकों के नाम से छपी हैं, उन की रचनाएं नहीं बताई जातीं। कुछ एक विद्वान् तथा अनुसन्धान कर्ता इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि यह सस्ता प्रकाशन कतिपय प्रसिद्ध सांगियों के नाम मात्र की छाप लिए हुए है और संभव है कि इन में कुछ पुस्तकें उन लोगों की रचनायें न भी हों। इसलिए हमें इन में विशुद्ध हरियाणवी के दर्शन नहीं हो पाते। वस्तुतः यह समग्र साहित्य न होने के समान है। इन पंक्तियों के लेखक ने भी इन्हें देखा है और वह भी इन्हें भाषाविज्ञान संबंधी खोज के लिए उपयुक्त सामग्री नहीं समझता। यदि इन पुस्तकों को मूल लेखक की कृतियां मान लिया जाए तो भी इन की भाषा उर्दू बहुल होने के कारण कृत्रिम सी बन गई है। यहां इन मुद्रित पुस्तकों की बजाए किसी आधुनिक लेखक की हस्तलिखित प्रति से उस की भाषा का नमूना प्रस्तुत किया है। इस नमूने से इस श्रेणी के लेखकों की भाषा का अनुमान लगाया जा सकता है।

उदाहरण :

प्यार महबूबत बैठना गया तेरी जुबां की गैल
तेरी जबां बिष की भरी या रहन नी देती मेल
या रहन नी देत मेल, वाट तक रहे महाराज खड़ी होले ।
तेरे (?) मारे मान जवानी के, ढाले मिजाज खड़ी होले
सब राज खजाने जीत लिए हो गए मोहताज खड़ी हो ले
अब तुझ पे रगड़ा भगड़ा है, आई नहीं बाज खड़ी हो ले ।
+ + +
वह नखरे तो जल लिए उड़ के तन के जोस
राज खजाना असप गज सब कुछ लीना खोस
सब कुछ लीना खोस, वली तज के स्थान अब निकलेंगे
तंगदस्ती और गरीबी के बन के महमान अब निकलेंगे
देखू कमान से अर्जन की कितने वान अब निकलेंगे
कह सिरि राम तज राजधाम तेरे जवान जब निकलेंगे ।^१

हम ने ऊपर का उदाहरण लेखक की अपनी कापी में से “ज्यों का त्यों अक्षरशः नकल” किया है। इससे स्पष्ट है कि हरियाणवी का आधुनिक मुद्रित साहित्य उस

१. इस उदाहरण के शब्द-जोड़ लेखक की मूल कृति के अनुसार हैं।

हरिपुर (करनाल) निवासी चौ० श्री राम सैणी कृत द्रौपदी चीरहरण से उद्धृत)

भाषा का शुद्ध नमूना प्रस्तुत करने में असमर्थ है। अतः इन्हें 'हरियाणवी' के अध्ययन का आधार नहीं बनाया जा सकता।

हरियाणवी के अध्ययन के निमित्त उपयुक्त सामग्री की खोज करते समय श्री ई० जोसफ कृत जाटू ग्लासरी पर ध्यान अवश्य जाता है। यह 'ग्लासरी' जार्ज ग्रियर्सन के लिग्विस्टिक सर्वे के लिए ही तैयार की गई थी। यद्यपि इसकी शब्द-संख्या प्रस्तुत अध्ययन के विचार से पर्याप्त कही जा सकती है परन्तु शब्दों के रूप सर्वथा विश्वसनीय नहीं हैं। इस का कारण कदाचित् यही है कि शब्दावली संग्रहकर्ता विदेशी होने के नाते कई एक शब्दों के उच्चारण को ठीक प्रकार से सुन नहीं पाया है और न ही उन्हें ठीक प्रकार से लिख पाया है। ऐसे शब्दों के कुछ उदाहरण और उन के शुद्ध रूप नीचे दिए जा रहे हैं :—

दल्या=दलिआ। दे औता=द्यौता या द्यौह्ता।

दोत्यी=द्योती या द्योह्ती। ने ओत्ना=न्योत्णा।

पिपया=पपइआ (यहां 'इ' का औरस्योकरण होता है परन्तु 'ह्' लगा कर लिखा गया रूप यहां भ्रामक हो सकता है।)

प्राई=पराई। विआज=व्याज। वे औरा=व्योरा।

माओश=मोस्। कतूया=कतूरिआ। गौहल्था=गोह्लिआ।

“जाटू ग्लासरी” में इस प्रकार की भूलें हैं फिर भी सामग्री के अभाव में यह पुस्तक हरियाणवी का ज्ञान प्राप्त करने के लिए एक अच्छी खासी सामग्री प्रस्तुत करती है। वस्तुतः हरियाणवी का अध्ययन इसके लोकगीतों के माध्यम से, लोगों के मुख से शब्द सुनकर, उनसे घंटों बात-चीत करके और उनके उच्चारण की ओर पूर्ण सजग रह कर ही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अभी तक इसके अध्ययन के लिए अन्य कोई सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है।

हम ने परिशिष्ट २ के अन्तर्गत हरियाणवी गीत और कहानी आदि के कुछ नमूने दिए हैं। ये संख्या में थोड़े होने के कारण भाषा का परिचय मात्र दे पाएंगे।

(७) हरियाणवी की विभाषाएं या बोलियां

भाषा का क्षेत्रविस्तार बड़ा हुआ करता है और उस क्षेत्र में पारस्परिक समानता रखने वाली कई एक बोलियां अथवा विभाषाएं हो सकती हैं। यह पारस्परिक समानता ही उनको केन्द्रीय अथवा ठेठ बोली की परिधि के साथ आवद्ध रखती है। उन में कुछ अन्तर अवश्य रहता है और उसी अन्तर के आधार पर हम उसे ठेठ बोली से पृथक् बोली का नाम दिया करते हैं। जहां यह अन्तर अधिक हो जाता है, वहां की भाषा स्वाभाविक रूप से अपना स्वतन्त्र सिक्का जमा बैठती है।

हरियाणवी क्षेत्र में मुख्यतः तीन बोलियां पाई जाती हैं। ठेठ हरियाणवी केन्द्रीय हरियाणा की भाषा है जो केन्द्र से इधर-उधर सरकती हुई अपना स्वरूप धीरे-धीरे और छिपे-छिपे बदलती जाती है। केन्द्रीय अथवा ठेठ हरियाणवी के स्वरूप

में उत्तर पश्चिम की ओर जींद के आस-पास और दक्षिण पूर्व में “भुम्भर” से निकल कर पाल्हावास के निकट भिन्न-भिन्न बोलियों के चिह्न नमूदाएँ होने लगते हैं। इन चिह्नों के आधार पर ही हम ने इन दोनों स्थानों को विभाषाओं अथवा बोलियों के संगम स्थल पर रखा है। अस्तु, केन्द्रीय हरियाणवी के उत्तर पश्चिम में बांगरू बोली है तो दक्षिण पूर्व में “अहीरवाटी” बोली है^१। “बांगरू” के लिए कंथल और आस-पास की बोली प्रामाणिक मानी जा सकती है और “अहीरवाटी” का केन्द्र “कनीणा” है^२।

प्रस्तुत अध्ययन में हम “बांगरू” तथा “अहीरवाटी” का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करेंगे जिस से ठेठ हरियाणवी के मुकाबले में उनका स्वरूप आङ्कित हो सके।

“बांगरू” — “बांगरू” और केन्द्रीय हरियाणवी में मुख्यतः ध्वन्यात्मक अन्तर पाया जाता है। ध्वनियों में स्थूल रूप से तीन बातें हैं :

(१) हकार का उच्चारण विशेष भटके के साथ होता है जिससे वह केन्द्रीय हरियाणवी के हकार के समान न पूरी तरह घोष ही है न पूरी तरह अघोष। इतना ही नहीं प्रत्युत हकार ध्वनियुक्त व्यंजनों का उच्चारण भी उसी प्रकार के भटके के साथ होता है।

(२) “बांगरू” में ठेठ हरियाणवी की अपेक्षा “ओ” स्वर अधिक पाया जाता है। इसे “विवृत पञ्च” स्वर कहा जा सकता है। यह भी “ऐ” की भांति मूल स्वर है, संधि स्वर नहीं।

(३) “बांगरू” में “ल्” तथा “ण्” ध्वनिग्राम पाए अवश्य जाते हैं परन्तु इन का प्रयोग इतना अधिक नहीं पाया जाता।

(४) बांगरू में हरियाणवी की सी तालव्यीकरण की प्रवृत्ति का अभाव है जो परिशिष्ट २ में बांगरू के नमूनों से (संख्या १, ३, ४, ५) से प्रकट हो रही है। नमूना संख्या २ जींद के आस पास की बोली का नमूना है जहाँ यह प्रवृत्ति व्यों की व्यों कायम है। इस नमूने में केवल “ह्” की ध्वनि तथा एक-आध अन्य रूप ही विचित्र दिखाई देते हैं।

ध्वनि सम्बन्धी इन मुख्य बातों के अतिरिक्त कुछ सामान्य से भेद भी देखे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, कंथल के आस-पास शब्द के आभ्यन्तरिक हकार ध्वनि युक्त

१. हमने हरियाणवी में “अहीरवाटी” का केवल इतना भाग शामिल किया है जो ठेठ हरियाणवी के साथ अत्यधिक समानता रखता है। इस सीमा से बाहिर “अहीरवाटी” क्षेत्र में ऐसे नमूने मिलने लग जाते हैं जो राजस्थानी की उपभाषा मेवाती से अधिक समानता रखते हैं। इसी प्रकार “बांगरू” के क्षेत्र से वह इलाका भी निकाल दिया गया है जहाँ ध्वन्यात्मक भिन्नता के इलावा पर्याप्त भिन्नता भी मिलने लगती है।

२. “बांगरू” तथा अहीरवाटी के विभिन्न स्थानों का भ्रमण करने के पश्चात् तथा वहाँ से भाषा के नमूने लेने के पश्चात् इन केन्द्रों का निर्णय किया गया है।

व्यंजन की हकार ध्वनि विलग होकर पहले अक्षर को हकार ध्वनि युक्त बना देती है परन्तु उसमें लचक अथवा झटका (जिसका निर्देश पहली मुख्य विशेषता के रूप में किया गया है) ज्यों का त्यों विद्यमान रहता है। यहां कैथल→खैतल, तमाखू (तम्बाकू)→थमाँक्कू, कोठी→खोँट्टी बन जाते हैं। हमारे विचार में यह स्थानीय विशेषता हो सकती है जो थोड़े से इलाके तक ही सीमित है। भाषाई भूगोल तैयार करने वाले को इस प्रकार की अन्य कई एक स्थानीय विशेषताएं भी मिल सकती हैं, यथा, सुखा→सुका, दुकान→दकान।

रूपात्मक दृष्टि से दोनों बोलियों में—ठेठ हरियाणवी और बांगरू में—विशेष अन्तर नहीं है। यहां केन्द्रीय हरियाणवी के रूप ही पाए जाते हैं, परन्तु कुछ एक प्रयोगों पर अधिक बल रहता है, यथा :

(१) करण कारक के चिह्न 'तें' तथा 'पें' दोनों हैं। ठेठ हरि० में अधिकांशतः 'मेरें तें नां हो' और बांगरू में 'मेरें पें नां हो' कहा जाता है।

(२) बां० में म० पु० एक वचन सर्वनाम अधिकांशतः 'तोह्' और 'तें' प्रयोग में लाए जाते हैं।

केन्द्रीय हरियाणवी तथा बांगरू के रूपों में पाया जाने वाला सामान्य अन्तर नीचे दिया जाता है :

(१) केन्द्रीय हरियाणवी में अधिकरण कारक के रूप बनाने के लिए परसर्गों के अतिरिक्त—ए प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। बांगरू में इसके स्थान पर—ओं प्रत्यय प्रयुक्त होता है, यथा : के० घरें→बां० घरों।

(२) बांगरू में विकारी संज्ञाओं का बहुवचन विकल्प से—ओं के साथ भी सम्पन्न होता है।

(३) अ० पु० के सर्वनाम कुछ भिन्न से प्रतीत होते हैं। केन्द्रीय बोली में अ० पु० एक वचन वोह्, वो और अ० पु० बहुवचन 'वे', वेह् हैं तो बांगरू में वोह्→ओह्, हों, और बहुवचन में ओं, हों रूप पाए जाते हैं।

(४) गणना वाचक विशेषणों में उच्चारण का अन्तर यत्र-तत्र पाया जाता है। के० नो→बां० नों, के० ग्यारा, बारा आदि→बां० ग्यारां, बारां आदि मिलते हैं। बांगरू में के० क्यावन, बावन, पचपन→क्रमशः क्योन्, वोन्, पचोन् आदि रूप मिलते हैं।

(५) क्रियाओं के रूप सब समान हैं केवल उच्चारण की भिन्नता उन्हें के० रूपों से विलगा देती है, उदाहरणार्थ—जैसे बां० में गें (गाय) मिठाई→मिठई आदि रूप मिलते हैं, वैसे ही बां० में के० जा→जें बन जाता है। इसी प्रकार का साधारण अन्तर अन्य रूपों में भी मिल सकता है।

अहीरवाटी : अहीरवाटी उपभाषा और केन्द्रीय हरियाणवी में पूरी-पूरी ध्वन्यात्मक समानता विद्यमान है। यहां भी पदान्त अक्षर का तालव्यीकरण, दीर्घ

स्वरों का ह्रस्व उच्चारण तथा अगले व्यंजन का द्वित्व और स्वरों का औरस्यीकरण आदि व्यंजनों का व्यंजनों विद्यमान है। इस इलाके में समीपवर्ती राजस्थानी की विभिन्न उपभाषाओं मेवाती, शेखावाटी और बागड़ी आदि का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। इस प्रभाव के कारण यहां केन्द्रीय कड़ें, उड़ें आदि कठे, उठें आदि के रूप में पाए जाते हैं। 'धोर' परसर्ग के स्थान पर 'कने' का प्रयोग मिलने लगता है। इसी प्रकार थोड़ी बहुत अन्य प्रकार की शब्दावली भी समीपवर्ती इलाके से आई जान पड़ती है। परन्तु इन सब बातों से बढ़ कर राजस्थानी वाली ओकारान्त प्रवृत्ति भी यहां पाई जाती है, जिसके कारण इसे हरियाणवी के अन्तर्गत प्रश्नवाचक चिह्न के साथ रखा जा सकता है।

अहीरवाटी को हरियाणवी में शामिल करने का कारण यही है कि यहां केन्द्रीय हरियाणवी के कारक चिह्न, सर्वनाम तथा क्रियाएं लगभग उसी रूप में विद्यमान हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि केन्द्रीय हरियाणवी की संज्ञाओं आदि के रूप आकारान्त हैं तो अहीरवाटी के ओकारान्त हैं। रूपों की ओकारान्त प्रवृत्ति के कारण दोनों बोलियों में पाया जाने वाला अन्तर संक्षेप में इस प्रकार है—

हरियाणवी	अहीर०
छो ^ख ह्रा (एक व०)	छो ^ख ह्रो, छोरो (एक व०)
छो ^ख ह्रे (बहु व०)	छो ^ख ह्रा, छोरा (बहु व०)
मेरा, तेरा (एक व०)	मेरो, तेरो (एक व०)
मेरे, तेरे (एक व०)	मेरा, तेरा (बहु व०)
गया (बहु व०)	गयो (एक व०)
गए (बहु व०)	गया (बहु व०)
था (एक व०)	थो (एक व०)
थे (बहु व०)	था (बहु व०)
गा (एक व०)	गो (एक व०)
गे (बहु व०)	गा (बहु व०) आदि

इसके अतिरिक्त दोनों बोलियों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पाया जाता। यही कारण है कि अहीरवाटी बोलने वाला द्विभाषी प्रतीत होने लगता है। उसका एक वाक्य ओकारान्त प्रवृत्ति के कारण हरियाणवी से अलग सा प्रतीत होता है को दूसरा वाक्य पूरी तरह केन्द्रीय बोली से मिल जाता है। निम्नलिखित उदाहरण देखिए :—अहीर० : ऊंट बोल्यो चाल् भई। “बीच् में एक पाणी की नदी आवे थी।” गाढ़ो ऊंट पर बैठ लिआ अर् ऊंट नदी का माँह के छिकड़ गयो। (परिशिष्ट २, अहीर० के नमूने संख्या २)। हरि० : ऊंट बोल्या चाल् भई। “बीच् में एक पाणी की नदी आवे थी।” गाढ़ो ऊंट पर बैठ लिआ अर् ऊंट नदी के माँह के छिकड़ ग्या।

यहां बीच का वाक्य पूरी तरह मिलता है तो अन्य दो वाक्यों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

संक्षेप में केन्द्रीय बोली और अहीरवाटी में समानता अधिक है और भिन्नता कम। यही कारण है कि हम ने इसे निःसंकोच हरियाणवी के अन्तर्गत रख लिया है।

(८) हरियाणवी का शब्दकोष

“शब्द-समूह की दृष्टि से प्रत्येक भाषा एक प्रकार से खिचड़ी होती है। किसी भी भाषा के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने आदि विशुद्ध रूप में आज तक चली आती है।”^१ इसलिए किसी भी भाषा के शब्द समूह का अध्ययन प्रस्तुत करते समय शब्दों के विभिन्न स्रोतों को अलग-अलग श्रेणियों में विभक्त करना अधिक सुविधा-जनक रहता है।

श्रीयुत टर्नर ने नेपाली कोष की भूमिका में लिखा है कि आ० भा० आ० भाषाओं के शब्द प्रायः छः स्रोतों से आए हैं। डा० उदय नारायण तिवारी जी का भी ऐसा ही विचार है और उनका कथन है कि आ० भा० आ० भा० के शब्द कोष का अध्ययन करते समय इन मूल स्रोतों में शायद कहीं थोड़ा बहुत परिवर्तन करना पड़े। डा० धीरेन्द्र वर्मा जी ने हिन्दी शब्द समूह को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है :—

- (१) भारतीय आर्य भाषाओं का शब्द समूह।
- (२) भारतीय अनाये भाषाओं से आए हुए शब्द।
- (३) विदेशी भाषाओं के शब्द।

उपर्युक्त वर्गीकरण में शीर्षक (१) को आगे तीन, अधिक से अधिक चार उपशीर्षकों में—अर्थात् (क) तत्सम और अर्द्धतत्सम (ख) तद्भव (ग) देशज (घ) अन्य आ० भा० आ० भाषाओं से आए शब्द—विभक्त कर लिया जाए तो हम टर्नर महोदय और डा० तिवारी के वर्गीकरण के निकट पहुँच जाते हैं।

हरियाणवी शब्दसमूह पर विचार करते समय हम डा० धीरेन्द्र वर्मा के वर्गीकरण का अनुसरण करेंगे, परन्तु उपर्युक्त तीन श्रेणियों के अन्तर्गत न रखे जा सकने वाले शब्दों के लिए हमें एक अन्य श्रेणी भी बनानी पड़ेगी, अर्थात्—(४) ‘हरियाणवी टकसाल के शब्द।

(१) भारतीय आर्य भाषाओं का शब्द-समूह—

हम ने ऊपर कहा है कि वैयाकरणी इस शब्द समूह को प्रायः तीन विभागों में विभक्त किया करते हैं, अर्थात् (क) तत्सम और अर्द्धतत्सम (ख) तद्भव (ग) देशज। हरियाणवी में अधिकांश तद्भव शब्द ही देखने को मिलेंगे। तत्सम और अर्द्धतत्सम शब्दों की संख्या बहुत न्यून है। ‘जल’, ‘पूजा’, ‘नदी’ आदि कुछ एक शब्द ही तत्सम रूप में देखने को मिलते हैं और इसी प्रकार ‘करम्’, ‘किस्सन्’, ‘दर्सन्’, ‘परेम्’ आदि अर्द्धतत्सम शब्द भी हरियाणवी में अधिक नहीं हैं। देशज—अर्थात् वे शब्द जो संस्कृत साहित्य में नहीं मिलते और जिन का उल्लेख केवल प्राकृत काल

तक मिलता है, हरियाणवी तक पहुँचते-पहुँचते बदल गए हैं। अतः इन्हें भी तद्भव की संज्ञा प्रदान करना युक्तियुक्त है।

अतः हम कहेंगे कि हरियाणवी पूर्णतः तद्भव शब्दों के भण्डार से परिपूर्ण एक समृद्ध और सशक्त भाषा है। ये शब्द-रत्न ही इस की अमूल्य निधि हैं।

(२) भारतीय अनार्य भाषाओं से आए शब्द—

हमारे यहां तामिल, तेलगू, द्रविड़ कोल या मुंडा भाषाएं ही अनार्य कही जाती हैं। आधुनिक काल में इन भाषाओं के शब्दों का हरियाणवी तक पहुँचने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता क्योंकि पारस्परिक सम्पर्क से ही एक भाषा दूसरी भाषा के प्रभाव को ग्रहण किया करती है और आजकल इन भाषाओं के साथ हरियाणवी का सीधा सम्पर्क नहीं है। तथापि अन्य आ० भा० आ० भाषाओं की भांति हरियाणवी में भी कोई ऐसा तत्त्व विद्यमान हो सकता है जो द्रविड़ या कोल भाषा से सम्बन्ध रखता हो। विद्वानों का विचार है कि जब आर्य लोग द्रविड़ और कोल जाति के सम्पर्क में आए तो आर्यों की देव-वाणी उन लोगों की भाषा से अवश्य प्रभावित हुई और अनार्य भाषाओं के शब्द आर्य भाषा में ले लिए गए। हरियाणवी के लिए ये शब्द वस्तुतः आर्य भाषा के शब्दों के समान ही हैं क्योंकि ये भी अन्य आर्य भाषा के शब्दों की भांति प्राकृत और अपभ्रंश की चक्की में पिस कर ही हरियाणवी तक पहुँचे हैं। साधारणतः, मूर्धन्य वर्णों के शब्द द्रविड़ भाषाओं के प्रभाव से निर्मित माने जाते हैं। बीस-बीस कर के गिनने का रिवाज हरियाणवी में भी मिलता है और डा० धीरेन्द्र वर्मा जी के मतानुसार यह कोल भाषा का प्रभाव है। इसी प्रकार “कौड़ी” आदि कुछ एक अन्य शब्द भी शायद कोल भाषाओं से आए हों। सम्भव है कि हरियाणवी, “पिल्लूरिआ” द्रविड़ के “पिल्ला” शब्द से निर्मित हुआ हो। वहां इसका अर्थ “पुत्र” है परन्तु हरियाणवी में इसका अर्थ “कुत्ते का बच्चा” है।

(३) विदेशी भाषाओं के शब्द—

हरियाणवी में मिलने वाले विदेशी शब्द दो स्रोतों से आए—

(क) अरबी, फारसी और तुर्की के शब्द मुसलमान जाति के सम्पर्क और अरबी-फारसी के माध्यम से।

(ख) अंग्रेजी, फ्रांसीसी, डच और पुर्तगाली के शब्द—सैनिकों और पढ़े-लिखे लोगों के माध्यम से।

(क) अरबी-फारसी के शब्द—

डा० शंकरलाल यादव जी लिखते हैं—“लगभग ३०, ४० वर्षों में कुछ संगीत की किताबें अवश्य इस बोली में लिखी मिलती हैं जिन में भी बोली का शुद्ध रूप नहीं आ पाया है। उर्दू-फारसी के विदेशी शब्द जो जन मानस में अपनी पैठ नहीं कर पाए हैं, पर्याप्त मात्रा में इन सांगीत पुस्तकों में मिलते हैं।” यह ठीक है कि सांगीतों में

प्रयुक्त अरबी-फारसी के शब्द कृत्रिम से जान पड़ते हैं^१, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सदियों से बसे मुसलमानों ने और इन लोगों की भाषा ने हरियाणवी को बिल्कुल प्रभावित नहीं किया है। अरबी-फारसी के ही नहीं अपितु इन के माध्यम से कई-एक तुर्की के मोटे-मोटे शब्द हारियाणा-जन-मानस में इतने गहरे पैठ गए हैं कि वे हरियाणा निवासियों को रंचमात्र भी विदेशी प्रतीत नहीं होते, परन्तु उनकी युक्ति-युक्त व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए अरबी-फारसी का ज्ञान अपेक्षित है। वे लोग इनका निर्बाध रूप से प्रयोग करते हैं, इन के माध्यम से अपने भावों का प्रकाशन करते हैं परन्तु कोई विदेशी उन से किसी विशेष शब्द की व्याख्या मांगने लगे तो शायद वे प्रस्तुत न कर सकें। ऐसी व्याख्या सम्भवतः वे अपने देशज और आर्य भाषा के परम्परा प्राप्त शब्दों की भी न दे सकें। व्याख्या देना उनका काम नहीं, उनका काम है उनका प्रयोग करना और प्रयोग के सहारे अपनी बात समझाना, बस। हां, भाषा-शास्त्री को उनकी व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए अरबी-फारसी का ज्ञान ग्रहण करना पड़ेगा। इस कथन की पुष्टि के लिए हम दो-एक लोकोक्तियां प्रस्तुत करते हैं :

(१) गूढ़िया मरकोल् हुरमत् मरें जडाई।^२

(२) किसवी नें किसव् फाव्वे ओर् करे तो कूतक् वॉज्जे।^३

(३) आवें मीआं तोपतल्ला जावें मीआं खैर सल्ला।^४

इन लोकोक्तियों को समझने के लिए मरकोल् (माकूल مقول) हुरमत् (حرمات) किसव (قسم) कूतक (كوتك) (तुर्क कुतकः) और खैरसल्ला (خير صلالة) को समझना बहुत आवश्यक है। इन सभी शब्दों का रूप भी इतना बदल गया है कि जिस से इन शब्दों के जन-मानस में गहरे पैठने की ध्वनि स्पष्ट मिल रही है। इनके अतिरिक्त नीचे लिखे शब्द और उनके सामने उन के मूल रूपों को देख कर इस कथन की परिपुष्टि हो जाती है :

काली जाल (काला से काली पर जाल वस्तुतः جمل है और इस जाअल جمل को समझे बिना इसका अर्थ भी समझ में नहीं आएगा। “काली जाल माणस”—

१. निम्नलिखित गीत में प्रयुक्त अर० फा० के शब्द कृत्रिम से ही जान पड़ते हैं।

होशम रफतन मान्द बदस्त शुदा दिल मस्त हो अंधेरा।

हाफज फिक्र कुदाम नुमायम पाछे ते पटज्या बेरा।

माईराम की मीठी रंगत सांझ सवेरा तू गाइये।

रूपकला पड़गी ल्याणी तू मर्ज आपणा कटवाइये ॥

माईरामकृत रूपकला जादूखोरी—पृ० २०।

२. मोटे और फटे पुराने कपड़े पहनने वाला मजे में रहता है और शर्म करने वाला जड़ाया मरता है।

३. जिस का काम उसी को साजे और करे तो चुट्टा बाजे।

४. घर से जाते समय स्थिति ठीक हो परन्तु घर लौटते समय आदमी को आग बबूला पाकर स्त्रियां साधारणतः ऐसा कह दिया करती हैं।

उस व्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है जो दिल में कपट रखता हो और एक नम्बर धोखे-बाज हो।

बागली	...	(बगली بگلی) मिखमंगों की ऐसी भोली जिसे वे कन्धे पर डाल कर घूमते हैं।
अब्बल्	...	(अब्बल اول) काफी, पर्याप्त — इतना पर्याप्त कि जिसे थोड़ा न कहा जा सके।
राम्	...	(आराम آرام)
वाज्	...	(आवाज آواز)
असनाई	...	(आशनाई آشنایی) सम्बन्ध
सहूर, सुहूर	...	(शऊر شعور)
लसकरिया	...	(लश्करिया لشکریه) लोक गीतों में पति (विशेषतः परदेशी पति) के लिए प्रयुक्त होने वाला सम्बोधन वाचक पद। 'उस् लसकरिया ने न्युं कहो जी (यहां परदेश में रहने वाला पति अभिप्रेत है)।
मेर्	...	(मेहर مهر)
अफ्सोच	...	(अफसोस افسوس) सोच के साम्य पर।
कत्तल	...	(कतला قتل) ठुकड़ा।
खुवात	...	(क़वाहत قباحه) परिश्रम
कामड़ी	...	(कमची کچی)
कारस्तानी	...	(कारे शैतानी کار شیطانى)
कागद	...	(कागज़ کاغذ)

यह सूची जान बूझकर छोटी रखी जा रही है कि जिस से व्यर्थ आकार न बढ़े और यथावत बात भी समझी जा सके। ये ऐसे शब्द हैं जो हरियाणवी में पारस्परिक सम्पर्क से ही अरबी अथवा फारसी से आए हैं। इन के अतिरिक्त बहुत से ऐसे शब्द भी पर्याप्त मात्रा में मिलेंगे जिन्हें डा० तिवारी जी का अनुसरण करते हुए निम्नलिखित शीर्षकों में बांटा जा सकता है :—(इन श्रेणियों के बहुत से शब्द ऊपर भी आ चुके हैं) :—

- (क) राज्य, युद्ध, शिकारसंबंधी शब्द।
- (ख) शासन, कानून तथा कर संबंधी शब्द।
- (ग) धर्मसम्बन्धी शब्द।
- (घ) संस्कृति, शिक्षा, संगीत, साहित्य संबंधी शब्द।
- (ङ) विलास, व्यापार आदि भौतिक संस्कृति से संबंध रखने वाले शब्द।

अरबी-फारसी के ऐसे शब्द प्रायः सभी आ० भा० आ० भाषाओं में प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। अतः यहां नमूने प्रस्तुत करने का अभिप्राय व्यर्थ कलेवरवृद्धि ही होगा।

नीचे कुछ तुर्की के शब्द दिए जाते हैं :—

तुर्की से :—

कुड़ता, कुड़तला, कुड़ती, कुड़तली ।

तुरक—तुर्क (अर्थ है—मतलब पूरा होने पर आंखें बदलने वाला व्यक्ति) ।

कुतका—कुतकः, तमॉच्चा—तमाचः, तमंचा—तमनचा ।

तोप—तोप ।

अन्त में केवल एक बात कहनी आवश्यक है । वह यह कि अरबी-फारसी से आने वाले शब्द भी तद्भव की कोटि में ही रखे जाएंगे । यहां भी तत्सम अथवा अर्द्धतत्सम शब्दों की संख्या नगण्य है ।

(ख) अंग्रेजी आदि के शब्द :—

अंग्रेजी, पुर्तगाली^१ तथा फ्रांसीसी आदि भाषाओं के शब्द हरियाणवी में बहुत कम हैं । ये शब्द अधिकतर सैनिकों के माध्यम से या पढ़े-लिखे लोगों के माध्यम से ही जन-जीवन में आए हैं । इन की वानगियां ही पर्याप्त होंगी । अंग्रेजी से आने वाले शब्दों के उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

डोर, टिकसी, रंगरूट, सलूट, टेस्सण, मिटरी,
पिलसण, लम्प, वूट, वटण, पब्लक्, परेट्,
मसीन, बाटरी, लोट आदि ।

पुर्तगाली शब्दों के उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

अल्मारी, कमीज, कप्तान, काज, गौन्भी, तमाक्खू (तम्बाकू),
तोलिआ, लीलामी (नीलाम), पादरी, पिस्तोल, पीपा,
बालटी, बिसकुट, बोटल, मेज आदि ।

फ्रांसीसी :—कारतूस, अंगरेज, चुरट ।

(४) हरियाणवी टकसाल के शब्द :—

कोई भी जीवित भाषा केवल पैतृक संपत्ति के सहारे आगे नहीं बढ़ती, प्रत्युत वह अपनी स्वाभाविक प्रगति के लिए अपनी निजी टकसाल में नए-नए सिक्के भी तैयार करती रहती है । इसी प्रकार बहुत से पुराने शब्दों का प्रयोग वन्द भी हो जाया करता है । प्रादेशिक भाषाओं में लोग अपने-अपने व्यवसाय की आवश्यकताओं के अनुसार नई-नई वस्तुओं के नव-निर्माण के साथ-साथ अथवा ताश-चौपड़ खेलते हुए मनोरंजन के हेतु नए-नए शब्दों की उद्भावना किया करते हैं और उन में से बहुत से शब्द टकसाल से निकलने वाले नए चमकदार सिक्कों की भांति चल निकलते हैं । इन में विशेषकर ऐसे शब्द जो हमारा मनोरंजन किया करते हैं, बार-बार की आवृत्ति

१. फ्रांसीसी या पुर्तगाली आदि भाषाओं की शब्दावलि तैयार करते समय डा. धीरेन्द्र वर्मा जी के हिन्दी भाषा के इतिहास में दी गई सूची से सहायता ली गई है।

से जड़ पकड़ लेते हैं और क्रमशः चिरस्थायी भी बन जाते हैं। नीचे हरियाणवी टकसाल के कुछ ऐसे ही सिक्कों की आभा प्रकीर्ण की जा रही है :—

1. भूमन्, 2. फोत्रा, 3. मुरली (मुरली मारे बैठणा), 4. मोघड़,
5. कलघूण (मचाणा), 6. खेखड़ी, 7. घिरलुतित्, 8. बोट्, 9. गंडस्या,
10. हडंफा, 11. टिंडवालूना, 12. कचघरड़्, 13. ल्हूल्हा, 14. लपेड़ा,
15. पड्चंदा, 16. खख्या, 17. डां, 18. घेर घिराली, 19. घंट्,
20. ढोट्ठा, 21. भांपट्, 22. जबक्, 23. खचैड्, 24. भाप्फू, 25. हट्हु,
26. पंडी, 27. डौड्ढी—मेजर, 28. टण्खोप्पर, 29. करंड्, 30. खडंग्,
31. भंबो, 32. मुराड्, 33. घोग्गड्, 34. ढोट्ठा, (मारे बैठणा), 35. कच्-
मल् (कटणा), 36. खुरंड्।

-
1. मोटा, 2. स्वल्प, रंचमात्र, 3. निराशा की स्थिति, 4. मोटा, 5. आफत
उतारना, कलह करना, 6. तरह-तरह के आडम्बर रचने के लिए 'खेखड़ी खिडाणा' संयुक्त
क्रिया प्रयोग में लाई जाती है 7. व्यर्थ का कार्य, 8. सुन्दर स्त्री, 9. सुन्दर स्त्री,
 10. राक्षस के समान (भट्टे पांव वाला), 11. तालाश करना, 12. अधपकी, 13. अफ-
वाह, 14. थप्पड़, 15. झूठा दोष, 16. आशंका, 17. नाम, 18. जलेबी,
 19. बदमाश, 20. मुंह पर बांधी गई पट्टी, 21. थप्पड़, 22. वहम (आदत स्वभाव)
 23. निर्वुद्धि, 24. मोटे मोटे मुंह और भट्टे वालों वाला, 25. काना, 26. शरारती,
 27. दाढ़ी वाला, 28. बातें बनाने में अत्यन्त चतुर, 29. कठिन, 30. सूखी रोटी,
 31. मोटी भट्टी स्त्री, 32. कलंक या झूठा दोष, 33. मोटा, 34. घटना,
 35. बहुत स्वादिष्ट चीज मिलने पर "कचमल कटगे कहा जाता है, 36. पपड़ी।

प्रथम खण्ड
(ध्वनि-तत्त्व)

ध्वनि संरचना

प्रथम खण्ड

हरियाणवी के ध्वनि-ग्राम

१—यहां केन्द्रीय हरियाणवी के ध्वनिग्राम प्रस्तुत किए जा रहे हैं। जैसा कि मानचित्र से स्पष्ट है, महम हरियाणा के केन्द्र में स्थित है। ये ध्वनिग्राम मोटे तौर पर महम और इस के समीपवर्ती इलाके के समझने चाहिए। प्रायः ऐसा माना जाता है कि प्रत्येक बारह कोस पर पानी और बोली में अन्तर पड़ जाता है, अतः इस केन्द्र से जो स्थान जितनी अधिक दूरी पर होगा वहां के उच्चारण तथा प्रयोगों के अनुसार ध्वनिग्रामों में उतना ही अन्तर प्रतीत होने लगेगा। इन पंक्तियों का लेखक इसी स्थान का निवासी है और इसी भाषा का अभ्यासी है, इसलिए अपने अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति को सूचक (Informant) बनाना आवश्यक नहीं समझा गया। ये ध्वनिग्राम उस की अपनी मातृ-भाषा के विश्लेषण के आधार पर निश्चित किए गए हैं, जो सामान्यतः उसकी उच्चशिक्षा तथा नागरिक वातावरण के प्रभाव से मुक्त रही है।

२—हरि० के ध्वनिग्राम निम्नलिखित हैं :—

(क) अतिखंडीय—(Supra-Segmental)

(१) सुर (Pitch)

उच्च ३

मध्य २

निम्न १

(२) अन्तसुर (Terminal contour)

सम →

उन्नायक ↑

अवनायक ↓

निम्नोन्नायक ↘

(३) विवृति (Juncture)

अन्तिक

कौमा

अल्प अथवा बाह्य

स्वल्प अथवा आन्तरिक

(४) अनुनासिकता

ध्वनिग्रामों का विवरण

४५

(ख) खण्डीय :

(१) व्यञ्जन : ३१

	(द्वि—) ओष्ठ्य	दन्त्य	मूर्धन्य	तालव्य	कण्ठ्य	काकल्य
अवरोधी, स्पर्श :						
	प्	त्	ट्	च्	क्	—
	फ्	थ्	ठ्	छ्	ख्	—
	ब्	द्	ड्	ज्	ग्	—
	भ्	ध्	ढ्	भ्	घ्	—
	म्	न्	ण्	—	—	—
अनुनासिक संघर्षी :						
अघोष	—	स्	—	—	—	—
घोष	—	—	—	—	—	ह्
अनवरोधी :						
कम्पनजात	—	—	र्	—	—	—
लोड़ित	—	—	ड्	—	—	—
पार्श्विक	—	ल्	लृ	—	—	—
अर्द्ध-स्वर	व्	—	—	य्	—	—

(२) स्वर : ६

	अग्र	मध्य	पश्च
संवृत	ई	—	ऊ
अर्ध-संवृत	इ	अ	उ
अर्ध-विवृत	ए	—	ओ
विवृत	ऐ	आ	—

ध्वनिग्रामों का विवरण

(क) अतिखण्डीय ध्वनिग्राम :

३—(१) सुर तथा आन्तसुर : हरियाणवी में ऊपर लिखे अनुसार तीन सुर और चार आन्तसुर हैं। इनके संयोग से काकुपद्धति का निर्माण होता है। काकु द्वारा अनेक अर्थों की अभिव्यक्ति होती है। हमारे कथन में किसी विशेष स्थल पर सुर का सम, उन्नायक, अवनायक अथवा निम्नोन्नायक होना कथन के ऐसे खण्ड को सूचित करता है जिसे साधारण भाषा में वाक्य कहा जाता है, यथा—तं३ जा१ मं२ आ२ या२। यहां ३, १ के बाद वाक्य की समाप्ति प्रतीत होती है तो २, २, २ के बाद दूसरे वाक्य की। इस प्रकार आन्तसुर लम्बे कथन को छोटा बनाने में सहायता प्रदान करते हैं।

यदि किसी विशेष कथन में ध्वनि की समानता है तो भी आन्तसुरों द्वारा बनने वाले खण्डों से अर्थ-भिन्नता प्रकट हो जाती है। दो अक्षरों वाले कथन पर आधारित निम्नलिखित उदाहरण इस बात को भली-भांति स्पष्ट कर सकेंगे :—

१—रा२ ङू२ → कौन है ? —का उत्तर।

२—रा२ ङू३ ↑ संदेह प्रकट करने के लिए कि क्या यह व्यक्ति सचमुच राङू है।

३—रा२—१—ङू२ ↓ अच्छा, यह राङू है।

४—रा३ ङू२ ↓ बुलाने के लिए।

५—रा३ ङू१ ↓ आज्ञा के अर्थ में।

(२) विवृति—यह ध्वनिग्राम वाक्य में विरति अथवा विराम का काम करता है जिसके द्वारा अभीष्ट अर्थ-भेद स्पष्ट होता है। तेज बोलते समय प्रायः इसका अभाव रहता है। परन्तु साधारण बोलचाल में स्वल्प विराम अवश्य प्रतीत होता है। विवृति चार प्रकार की मानी गई है :

१—आन्त-विवृति—इसका ज्ञान आन्तसुर द्वारा होता है और इसके भेद-उपभेद भी तदनुकूल होते हैं। इसके उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं।

२—कौमा विवृति—इसके द्वारा पूर्ववर्ती ध्वनि विलम्बित अनुभव होती है, यथा :
बैठ, मन्या जा, (बैठो, जाओ मत)।

बैठ मन्या, जा, (बैठो मत, जाओ)।

३—अल्प विवृति—इस विवृति से पदों की सीमा का निर्धारण होता है, यथा :
कांचला (क्षीण-काय), लेघड़ा (कच्चा या बिगड़ा हुआ हलवा)।

कांचला (कहां चला), ले घड़ा (घड़ा लो)।

स्पष्ट है कि इस विवृति से “कांचला” तथा “ले घड़ा” के दो पद और “कांचला” तथा “लेघड़ा” के एक पद का पता चलता है।

४—स्वल्प विवृति—इस विवृति से दो पदग्रामों के ध्वनिग्रामों में समीकरण नहीं हो पाता और उनकी सत्ता अलग बनी रहती है :

जाल्-आला (जाल वाला),

चाल्-दा (चलता हुआ),

हांड्-दा (घूमता हुआ), आदि।

(३) अनुनासिकता—हरियाणवी में सभी स्वर दो प्रकार के हैं—अनुनासिक और निरनुनासिक। अतः यह ध्वनिग्राम है, यथा :

तांस् (त्राम),

सांग् (स्वांग),

भांग् (भंग),

तास् (ताश),

साग् (शाक),

भाग् (भाग्य),

कूंट (दिशा),

बांग् (मुल्लां की आवाज)

कूट (कूटने का भाव),

बाग् (बाग)।

(ख) खण्डीय ध्वनिग्राम :

(४) व्यंजन—हरियाणवी में कुल ३१ व्यंजन हैं। इनका पूर्ण विवरण नीचे दिया जा रहा है। ध्वनियों का वर्गीकरण तीन प्रकार से किया जा सकता है—(१) उच्चारण की दृष्टि से, (२) श्रवण की दृष्टि से, और (३) ध्वनि को ध्वनि की दृष्टि से। अन्तिम विधि के लिए बहुत बड़ी प्रयोगशाला अपेक्षित है, जिन में आधुनिक यंत्रों की सहायता से ध्वनियों को परख कर उनका वर्गीकरण किया जाता है। अमरीका जैसे उन्नत देशों में इन यंत्रों से अत्यधिक सहायता ली जा रही है। श्रवण की दृष्टि से आज तक ध्वनियों के अध्ययन और वर्गीकरण का कार्य नहीं हो सका है, कदाचित् इसलिए कि यह विधि अत्यन्त दुरूह है। प्राचीन काल से लेकर आज तक उच्चारण की दृष्टि से ही ध्वनियों का वर्गीकरण किया गया है और यही विधि सर्वाधिक सरल सिद्ध हुई है क्योंकि इसके लिए किसी प्रकार के बाह्य साधन अपेक्षित नहीं हैं। इस विधि के द्वारा हम किसी भी ध्वनि के उच्चारण स्थान, प्रयत्न, नाद, घोष अथवा अघोष होने का निश्चय करते हैं और सहज तथा सरल रीति से उसका वर्गीकरण प्रस्तुत कर देते हैं ताकि उस विशेष ध्वनि से अपरिचित व्यक्ति भी तदनुकूल उच्चारण-स्थान और प्रयत्न आदि से उसे बोल सके।

नीचे हरियाणवी के प्रत्येक ध्वनि-ग्राम (व्यंजन) का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करते हुए न्यूनतम भेद-दशक जोड़ों की सूची प्रस्तुत की जाती है जिन के आधार पर इन ध्वनि-ग्रामों का निश्चय किया है।

स्पर्श

प् : [प]	(द्वि-) ओष्ठ्य	अघोष	अल्पप्राण	पेट् (पेट्)
फ् : [फ]	(द्वि-) ओष्ठ्य	अघोष	महाप्राण	फेट् (भपेट्)
ब् : [ब]	(द्वि-) ओष्ठ्य	सघोष	अल्पप्राण	बाद् (यात्रा)
भ् : [भ]	(द्वि-) ओष्ठ्य	सघोष	महाप्राण	भाट् (भट्ट)
त् : [त]	दन्त्य	अघोष	अल्पप्राण	ताप् (बुखार)
थ् : [थ]	दन्त्य	अघोष	महाप्राण	थाप् (स्थापना)
द् : [द]	दन्त्य	सघोष	अल्पप्राण	दाम् (मूल्य)
ध् : [ध]	दन्त्य	सघोष	महाप्राण	धाम् (स्थान, घर)
ट् : [ट]	मूर्धन्य	अघोष	अल्पप्राण	टाल् (बड़ी घंटी)
ठ् : [ठ]	मूर्धन्य	अघोष	महाप्राण	ठाल् (फुसंत)
ड् : [ड]	मूर्धन्य	सघोष	अल्पप्राण	डाल् (वसन)
ढ् : [ढ]	मूर्धन्य	सघोष	महाप्राण	ढाल् (एक पौधा)
च् : [च]	तालव्य	अघोष	अल्पप्राण	चाल् (गति)
छ् : [छ]	तालव्य	अघोष	महाप्राण	छाल् (छिलका)

ज् : [ज्] तालव्य	सघोष अल्पप्राण । जाल् । (जाल, फंदा)
झ् : [झ्] तालव्य	सघोष महाप्राण । झाल् । (रंग का टांका)
क् : [क्] कण्ठ्य	अघोष अल्पप्राण । काल् । (दुभिन्न)
ख् : [ख्] कण्ठ्य	अघोष महाप्राण । खाल् । (नाला)
ग् : [ग्] कण्ठ्य	सघोष अल्पप्राण । गार् । (भीगी हुई मिट्टी)
घ् : [घ्] कण्ठ्य	सघोष महाप्राण । घार् । (सिर की पीड़ा)

संघर्षी

स् : [स्] दन्त्य	अघोष महाप्राण । साल् । (सुराख)
ह् : [ह्] काकल्य	सघोष महाप्राण । हाल् । (हिलाना)

अनुनासिक

म् : [म्] (द्वि-)ओष्ठ्य	सघोष अल्पप्राण । माल् । (माल)
ण् : [ण्] मूर्धन्य	सघोष अल्पप्राण । काण् । (टेढापन)
न् : [न्] दन्त्य	सघोष अल्पप्राण । कान् । (कान)

कम्पन-जात

र् : [र्] मूर्धन्य	सघोष अल्पप्राण । धार् । (धारा)
ङ् : [ङ्] मूर्धन्य	लोड़ित सघोष अल्पप्राण । धाङ् । (समुदाय)

पार्श्विक

ल् : [ल्] दन्त्य	सघोष अल्पप्राण । साल् । (सुरख)
लृ : [लृ] मूर्धन्य	सघोष अल्पप्राण । साल् । (शाला)

अर्धस्वर

य् : [य्] तालव्य	सघोष	योह् (यह)
व् : [व्] (द्वि-) ओष्ठ्य	सघोष	वोह् (वह)

(५) स्वर—व्यंजनो के अध्ययन और वर्गीकरण की भांति स्वरों का अध्ययन और वर्गीकरण भी तीन प्रकार से किया जा सकता है। सरलता के विचार से इनके अध्ययन और वर्गीकरण के लिए हमने उच्चारण-स्थान-प्रयत्न-निर्देशक पद्धति का ही आश्रय लिया है।

स्वरों के अध्ययन के लिए जिह्वा के भाग, उसकी तालु से ऊंचाई तथा होठों की आकृति को ध्यान में रखा जाता है। जिह्वा को साधारणतः तीन भागों में विभक्त किया जाता है—अग्र, मध्य और पश्च। फलस्वरूप सभी स्वरों को तीन ही मुख्य श्रेणियों में रखा जाता है (दे० २. (ख २)।

जिह्वा की तालु से ऊंचाई स्वरों के प्रयत्न को प्रकट करती है। यह संवृत, अर्ध-संवृत, अर्धविवृत और विवृत भेद से चार प्रकार की मानी गई है।

जिह्वा के पश्च भाग से उच्चरित स्वरों में होठों की आकृति गोल होती है, अग्र तथा मध्य भाग से बोले जाने वाले स्वरों में होठ चपटे रहते हैं।

उच्चारण में लगने वाले काल की दृष्टि से स्वरों को ह्रस्व और दीर्घ की श्रेणियों में भी बांटा जाता है। ह्रस्व स्वर का उच्चारण-काल एक मात्रा माना जाता है और दीर्घ का दो मात्रा। इस विचार से हरियाणवी के अर्धसंवृत स्वर अर्थात् इ, अ तथा उ ही ह्रस्व स्वर हैं, शेष सभी स्वरों के ह्रस्व और दीर्घ दोनों रूप विद्यमान हैं, (देखिए आगे ४ (ख)। ह्रस्व स्वर शिथिल (Lex) हैं, तो दीर्घ स्वर आतत (Tense) हैं। आतत से हमारा अभिप्राय है कि इनका उच्चारण करते समय अवयवों को कुछ समय तक फ़ैलाए रखना अपेक्षित है।

हरियाणवी स्वरों को स्पष्ट करने वाली न्यूनतम भेददर्शक सूची दी जाती है :—

। ई । : [ई] अग्र	संवृत-स्वर	। जीत् । (जय)
। इ । : [इ] अग्र	अर्धसंवृत-स्वर	। जित् । (जहां)
। ए । : [ए] अग्र	अर्धविवृत-स्वर	। के । (क्या)
। ऐ । : [ऐ] अग्र	विवृत-स्वर	। कें । (वमन)
। अ । : [अ] मध्य	अर्धसंवृत-स्वर	। अर् । (और)
। आ । : [आ] मध्य	विवृत-स्वर	। आर् । (दूध की आर) (टपका)
। ऊ । : [ऊ] पश्च	संवृत-स्वर	। ऊत् । (शरारती)
। उ । : [उ] पश्च	अर्धसंवृत-स्वर	। उत् । (वहां)
। ओ । : [ओ] मध्य	अर्धविवृत-स्वर	। ओत् । (बचत, किफायत)

हरियाणवी ध्वनिग्रामों के संबंध में अन्य ज्ञातव्य बातें

४. (क) व्यंजन :—(१) हरियाणवी के पदों में महाप्राण ध्वनि के प्रचात आने वाली महाप्राण ध्वनि अपनी महाप्राणता को शनैः शनैः खोती जा रही है, यथा :—घोघ्→घोग् (वड़ा सुराख), ढूढना→ढूढूणा, ढेढ→ढेड् (जाति विशेष, नीच), घाघ्री→घाग्री (लहंगा), भौंभर्→भौंभूर् (भभरी)। इसी प्रकार पदान्त की महाप्राण ध्वनियां भी अल्प-प्राण बनती दिखाई देने लगी हैं, यथा :—दूध→दूद्।

(२) हरियाणवी में पदान्त “ह” का लोप होता जा रहा है। यदि उस का अस्तित्व कहीं-कहीं है तो भी बहुत थोड़ी मात्रा में यथा :—चाह्→चा (इच्छा)। यही स्थिति मध्यवर्ती ऐसे हकार की है जिस के स्वर का लोप हो गया है। दोहर्, सोहर्णां, नेहर्णां, आदि पदों में हकार की ध्वनि बहुत कम मात्रा में सुनाई देगी। ऐसे हकार को ध्यानपूर्वक बोलने और सुनने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह अघोष ध्वनि है। दूसरी ओर पूर्ण हकार हरियाणवी में भी ज्यों का त्यों घोष ही है।

(३) पदान्त के सघोष व्यंजनों में भी नाद की मात्रा घटती जा रही है। “कद्”, “जद्”, “राग्”, “फाग्” आदि पदों में पदान्त व्यंजनों की ऐसी ही स्थिति है।

(४) हरियाणवी में ‘न्’ के चार प्रयोग पाए जाते :—

(अ) तवगे से पूर्व संयुक्त होने पर वह अपने प्रकृत रूप में दन्त्य ही रहता है, यथा :—जन्त् (जन्तु)।

(आ) टवर्ग से पूर्व संयुक्त होने पर वह कुछ मूर्धन्य-सा प्रतीत होने लगता है, यथा :—तन् ढक् ले। इस वाक्य में ‘न्’ का उच्चारण।

(इ) चवर्ग से पूर्व संयुक्त होने पर तालव्य लगने लगता है, यथा मन्—चोह्या।

(ई) कवर्ग से पूर्व संयुक्त होने पर कण्ठ्य सरीखा प्रतीता होता है, यथा :—सन्काहरणा (उकासना), इन्कारी।

४. (ख) स्वर—(१) संयुक्त व्यंजनों से पूर्व आ, ई, ऊ, ए ऐ, ओ का उच्चारण दीर्घ नहीं होता, प्रत्युत इन का उच्चारण अपेक्षाकृत अल्पकाल में लेने के कारण ह्रस्व होता है। (यह पीछे कहा जा चुका है कि हरियाणवी में इन स्वरों के ह्रस्व और दीर्घ दोनों रूप हैं)। इसके उदाहरण इस प्रकार हैं :—

बाँक्की (बाक्की), सीद्धा (सीधा), सूद्धा (गरीब), सेत्ती (साथ), पेन्नी (तेज) सोक्कण (सपत्नी)।

(२) नासिक्य व्यंजनों की नासिक्यता का प्रभाव उनके परवर्ती स्वरों पर पड़ता है और वे अनुनासिक बन जाते हैं, यथा :—गोणां (मुकलावा), दूणां (जादू-टोना), माँम्मां, नाँन्नां, माँम्मां, पाणीं।

(३) पदान्त स्वरों के बाद यदि स्वर स्वर आ जाए तो अर्धविवृत स्वर कुछ-कुछ विवृत हो जाते हैं, यथा :—करें ए (करने पर ही)। यह स्थिति वस्तुतः बल देने के कारण है।

(४) कण्ठ्य व्यंजनों के बाद अग्रस्वर भी अपेक्षाकृत पश्च हो जाते हैं, यथा :—किन्, किस् आदि।

(५) हरियाणवी में ए, ऐ, जो स्वतन्त्र स्वर के रूप में प्रयुक्त होते हैं, वे संध्यक्षर नहीं बनते

(६) “अ” मध्य अर्ध-विवृत स्वर है परन्तु “ह” से पूर्व यह भी अपेक्षाकृत अग्र हो जाता है। नहर, सहर, डहर में “ह” से पूर्ववर्ती “अ” की ऐसी ही स्थिति है। “ए” के समान सुनाई देने लगता है।

खंडीय ध्वनि-ग्रामों का वितरण

५. (क) व्यंजनों का वितरण :—हरियाणवी में ध्वनिग्राम ण, ल तथा ङ् पद के आदि में तथा “य्” और “व्” पद के अन्त में नहीं पाए जाते। शेष व्यंजन

पद के आदि, मध्य तथा अन्त में सभी स्थानों पर प्रयुक्त होते हैं। 'ङ्' पद के बीच अथवा अन्त में बहुत कम देखने को मिलता है। इस के स्थान पर मध्य में प्रायः 'ङ्' अथवा '—ङ्ङ्' ही पाया जाता है। '—ङ्ङ्' पदान्त में नहीं मिलेगा। इस के अतिरिक्त दो महाप्राण व्यंजन भी आगे पीछे निरन्तर रूप से एक पद में देखने को नहीं मिलते।

५. (ख) स्वरों का वितरण :— ऊपर कहा जा चुका है कि हरियाणवी स्वरों को ह्रस्व और दीर्घ की श्रेणी में रखा जा सकता है। दीर्घ स्वर पद में किसी भी स्थान पर आ सकते हैं। इनके प्रयोग पर किसी प्रकार का भी प्रतिबन्ध नहीं है तथापि ह्रस्व स्वर पदान्त में नहीं पाए जाते। पदान्त में व्यंजन अथवा दीर्घ स्वर ही पाया जाता है।

हरियाणवी के संयुक्त व्यंजन

६. (क) पद के आदि तथा अन्त में संयुक्त व्यंजन—हरियाणवी में संयुक्त व्यंजनों का प्रयोग शब्द के आदि में भी होता है और अन्त में भी। शब्द के मध्य में तो लगभग सभी भाषाओं में संयुक्त व्यंजन पाए जाते हैं। हरियाणवी पदों के आदि तथा अन्त में पाए जाने वाले व्यंजन-संयोग बहुत अधिक किस्म के नहीं हैं। इन में भी अधिकांश संयोगों में दूसरा व्यंजन 'य्' तथा 'ह्' रहता है। पद के आदि में टवर्ग और 'ण्', 'ल', 'ङ्', 'ध्' तथा 'फ्' के अतिरिक्त शेष कोई भी व्यंजन 'य्' के साथ मिलकर आ सकता है, यथा:—क्यार्, न्यार्, स्याहवड़, ख्याल्, च्यार्, ज्यौद्दा आदि। हरियाणवी के पदान्त में 'य्' का संयोग केवल उस अवस्था में पाया जाता है जहां अन्तिम वर्ण के तालव्यीकरण का प्रचलन हो। महम के निकटवर्ती इलाके में तालव्यीकरण की उक्त प्रकृति प्रवृत्ति नगण्य सी है। 'ह्' से पूर्व पद के आरम्भ में केवल 'म्', 'व्', 'ल्', 'य्' और 'व्' मिलेंगे और अन्त में न्, ण्, ल्, ल्, यथा—

म्हारा (हमारा), म्हँस (भैंस), न्हाण (स्नान),
न्हेरणा (नाखून काटने का उपकरण), ल्होस् (बादल की टुकड़ी)
य्हाली (हल का एक भाग), व्हाई-फाज् (हवाई जहाज),
बान्ह् (खेत में हल चलाना), बाण्ह् (वहिन), गाल्ह् (कपोल),
माल्ह् (चरखे की डोरी जो तकले को घुमाती है)।

ऊपर दो व्यंजनों के संयोग की बात पर ही विचार किया गया है परन्तु हरियाणवी के किसी-किसी पद के आरम्भ में दो से अधिक व्यंजनों का संयोग भी देखा जाता है यथा:—ल्ह्याज (लिहाज), न्ह्याल् (निहाल) आदि। जहां पदान्त में तालव्यीकरण की प्रक्रिया काम करती है, वहां पदान्त में भी तीन-तीन संयुक्त व्यंजन मिल सकते हैं। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात केवल इतनी ही है कि तीन व्यंजनों के संयोग में दूसरा व्यंजन सामान्यतः, 'ह्' और तीसरा व्यंजन 'य्' रहता है।

पदान्त में ऐसे संयोग भी मिलते हैं जिनमें पहला वर्ण अनुस्वार तथा दूसरा वर्ण कोई स्पर्श होता है, यथा :—म्हन्त् (महन्त्), सांठ्—गांठ् (तोड़—जोड़), पांड़् (खाट का प्रांत भाग), भीन्त् (दीवार) आदि ।

(ख) पद के मध्य में व्यंजन संयोग :—पदों के मध्य में अनेक प्रकार के संयुक्त व्यञ्जन देखने को मिलते हैं । ए, ल तथा ङ का पारस्परिक तथा ल और ङ का मूर्धन्य वर्णों के साथ संयोग नहीं होता । इन के अतिरिक्त अन्य व्यञ्जनों के संयोग पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है । हरियाणवी रुढ़ पदों में दो महाप्राण ध्वनियों का संयोग नहीं मिलता तथा 'ह्' के साथ सामान्यतः अल्पप्राण स्पर्श तथा म्, न्, ल्, ल्, र् तथा स् का संयोग ही पाया जाता है । यौगिक पदों में अर्थात् ऐसे पदों में जिन का निर्माण दो या अधिक पदग्रामों से हुआ है, ये प्रतिबन्ध भी नहीं रह पाते । दो से अधिक व्यञ्जनों के संयोग में अन्तिम वर्ण प्रायः 'य्' होता है—

समस्त-पदों में महाप्राण ध्वनियों का संयोग भी देखने को मिलता है यथा :—अठधरा (आठ घरों वाला मुहल्ला), लठधारी (लाठी वाला चोर या डाकू) लोह-धरी ।

हरियाणवी संयुक्त व्यंजनों के कुछ नमूने नीचे प्रस्तुत किए जाते हैं—

जम्फर्, हड़म्फा (सं० हिडम्बा), काम्ची, सम्मत्, माम्ता, उम्दा, जम्ना, कुम्हार, गुम्टी, पोम्चा, तम्गा, अम्ड़ी, अम्ली, अम्वार, कत्ती, (कतई), पौत्थर, कुत्का, घेतली, रौत्ड़ा, चौद्दर, गौद्दर, गौद्दल, जन्तर, धन्दा, बन्टा, पन्डा, वन्ड़ा, अन्ड़ा, कानड़ा, पौट्टी, चट्ठा, फट्कार, चट्खारा, बट्वारा, गौड्डी, पीड्ठा, जच्चा, बौच्छा, कौज्जल, कुज्जा, कौज्जर, सीज्मी, (हिस्सेदार) नौक्का, मौक्खी, चौक्का, बक्सा, बक्का, मक्का, जक्की, बहक्का, मंग्ता, चुग्गा, काम्ची, आग्ली, बाग्ली, कांग्ला, बग्गा, चग्गा, अग्गी, फग्गी, बग्गा, गर्मी, बग्गा, गर्दा, सहार्ग्या (सहार लिया), डाह्हा, पल्ला, पल्हाड, सुल्हा, सुल्गाया, सुल्फा, सस्ता, हंस्ता, असनाई, (संबंध) आदि ।

७. स्वर परम्परा (Sequence of Vowels) :—हरियाणवी में दो, तीन या कहीं-कहीं इस से अधिक स्वर लगातार आ जाते हैं । 'आ' से निष्पन्न रूपों के अतिरिक्त अन्य किसी पद के आरम्भ में लगातार स्वर संयोग नहीं मिलता । आरम्भिक अवस्था में स्वर संयोग के उदाहरण यह हैं :—आइए, आइओ, आई, आए आदि । यह सभी पद केवल स्वरों से ही बने हैं । पद के मध्य में केवल दो स्वर साथ-साथ आ सकते हैं परन्तु पदान्त में दो से अधिक स्वरों का लगातार आना संभव है तथापि अन्तिम स्वर दीर्घ ही रहेगा ।

स्वरपरम्परा के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

(क) पद के मध्य में :—

इ	(१) -इअ- ,	(२) -इआ-
ए	(१) -एई- ,	
उ	(१) -उआ- ,	
अ	(१) -अई- ,	(२) -अऊ- ,
आ	(१) -आइ- ।	

इनके उदाहरण क्रमशः इस प्रकार हैं :—

इ	(१) अड़िअल्, नालिअर् , (२) गलिअारा, सामणिअारी, पटिअाला ।
ए	(१) देई-धाम् (केवल समस्त पदों में) ।
उ	(१) जुआन् (जवान-), रुआण् (रोने की स्थिति) जुआर् (जवार), बुआरा (बिजाई) ।
अ	(१) सई-सांभ्, नई-नकोर्, (केवल समस्त पदों में) । (२) गऊ साला (केवल समस्त पदों में)
आ	(१) नाइटा ।

(ख) पदान्त में :—

(१) दो स्वरों में :—

-ई ई	लीई,
-ई ए	लीए,
-ई जो	लीओ,
-ई ऊ	पीऊ (पीने वाला),
-ईआ	दीआ (दीपक);
-इए	करिए,
-इओ	लिखिओ,
-एआ	सरिआ, पलिआ (दूध डालने का उपकरण),
-एई	खेई (सहन की),
-एए	खेए (सहन किए),
-एऊ	लेऊ (लेने वाला),
-एओ	खेओ
-ऊई	खूई (खोई गई या खोई हुई), रूई,
-ऊए	सूए (सूआ का बहु व०),
-ऊऐ	पूए (पोया अर्थात् पकाया जाए),
ऊआ	सूआ, जूआ,

ध्वनि विचार

-ऊओ	खूओ (खोई जाए),
-उआ	रुआ (रुला),
-ओई	लोई (रोटी तैयार करने के लिए तैयार किया गया आटे का पेड़ा),
-ओए	रोए,
-ओऐ	रोऐ (रोते हो ?),
ओऊ	खोऊ (खोने वाला),
-ओओ	सोओ (सो जाओ),
-ओआ	खोआ (दूध का तैयार किया हुआ मावा),
-अई	नई, रई (दूध बिलोने का उपकरण),
-अए	गए
-अऊ	गऊ
-आई	माई
-आऊ	ताऊ
-आआ	गाआं
-आओ	पाओ

(२) तीन स्वरों में :—

-उहआ	सूहआं
-उइए	पूइए (पकाए जाते (हैं)),
-उइओ	खूइओ (खोया जाए),
-उआऊ	खुआऊ (खिलाने वाला),
-उआए	गुआए,
-उआओ	गुआओ,
-ओहवा	कोइआ, मिणोइआ,
-ओइए	लहकोइए,
-ओइओ	भलोइओ,
-आइआ	माइआं,
-आइओ	मकाइओ,
-अहआ	नइआ, रपइआ, तइआ,
-जइए	रपइए,
-अऊआं	गऊआं,
-एइए	भेइए,
-एइओ	भेइओ,
-एऊआ	लेऊआं (लेने वालों का बहु० व०),
-एइआ	लेइआं (ली हुई (चीजें)),

(३) चार स्वरों की परम्परा :

—उआइए ठुआइए, गुआइए ।

(४) उपरि चार स्वरों की परम्परा के तुरन्त बाद बलसूचक प्रत्यय 'ए' के आ जाने पर पांच-पांच स्वर भी पाए जाते हैं, यथा: खुआइए ए नां (खिलाना ही मत), छुआइए ए नां (छुहाना ही मत), आदि ।

(५-ख) मध्य तथा अन्त के दो स्वर-परम्परा को नीचे दी गई तालिकाओं में एक ही दृष्टि से देखा जा सकता है :—(यह परम्परा(ए) चिन्ह द्वारा प्रकट किया गया है) ।

तालिका १

पद के मध्य दो स्वरों की परम्परा

	इ	ई	ऊ	अ	आ	
इ	—	—	—	०	०	२
ए	—	०	—	—	—	१
उ	—	—	—	—	०	१
अ	—	०	०	—	—	२
आ	०	—	—	—	—	१
	१	२	१	१	२	७

तालिका २

पदान्त में दो स्वरों की परम्परा

	ई	इ	ए	ऐ	ऊ	उ	ओ	अ	आ	
ई	०	—	०	—	०	—	०	—	०	५
इ	—	—	०	—	—	—	०	—	०	३
ए	०	—	०	—	०	—	०	—	—	४
ऊ	०	—	०	०	—	—	०	—	०	५
उ	—	—	—	—	—	—	—	—	०	१
ओ	०	—	०	०	०	—	०	—	०	६
अ	०	—	०	—	०	—	—	—	—	३
आ	०	—	—	—	०	—	०	—	०	४
	६	—	६	२	५	—	६	—	६	३१

दूसरा अध्याय

२-प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के स्वरों का
हरियाणवी में परिवर्तित रूप

२-अन्त्य स्वर

भा० आ० भाषाओं में अन्त्य स्वर के निबल उच्चारण और उनके ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति बहुत प्राचीन है। संभवतः यही कारण है कि वैदिक 'यत्रा' और 'तत्रा' लौकिक संस्कृत में 'यत्र' और 'तत्र' के रूप में मिलते हैं^१। प्राकृत भाषाओं में प्रा. भा. आ. भाषा के स्वरों का व्यवहार कई-एक प्रकार से हुआ परन्तु अन्त्य स्वर के सम्बन्ध में सामान्यतः यही माना जाता है कि यह स्वर प्राकृत-काल तक चलता रहा, इस काल के अन्त में प्रा. भा. आ. भा. के दीर्घ स्वर ह्रस्व स्वरों में परिवर्तित होने लग गए थे^२। अपभ्रंश काल में भी ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति के जारी रहने की कल्पना निश्चय रूप से की जा सकती है^३।

आ. भा. आ. भाषाओं में अन्त्य स्वरों का सामान्यतः लोप हो गया है। विद्वानों का विश्वास है कि बंगला का अन्त्य स्वर १५वीं शताब्दी में ही लुप्त हो गया था^४ जबकि पूर्वी तथा पश्चिमी हिन्दी में यह स्वर १७वीं शताब्दी तक चलता रहा^५। भोजपुरी में अन्त्य स्वर और विशेषतः अन्त्य 'ह' लुप्त होने का प्रक्रिया में है^६। काश्मीरी, सिन्धी, मैथिली, उड़िया और कोंकणी की दक्षिणी उपभाषा में यह आज भी विद्यमान बताया जाता है। अवधी में अन्त्य स्वरों की फुसफुसाहट सुनी जाती है^७।

हरियाणवी के अन्त्य स्वरों में कई प्रकार के परिवर्तन लक्षित होते हैं जिनपर आगे विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। यहाँ एक और अन्त्य 'अ' और 'आ' का लोप हुआ है तो दूसरी ओर वे अपने प्रकृत रूप में भी पाये जाते हैं। इसी प्रकार

१. ग० वा० त० : हि० ग्रा० आफ अप० पृ० ४६।

२. घी० व० : हि० भा० ह० पृ० १३०।

३. ग० वा० त० : हि० भा० अप० पृ० ५०।

४. सु० कु० चै० : अ० ले० पृ० १५८।

५. उ० ना० ति० : भा० भा० सा० १४३।

६. वही १४३।

७. बा० रा० स० : ए० अ०।

‘इ-ई’ और—‘उ-ऊ’ या तो लुप्त हो गए हैं या इन के दीर्घरूप विद्यमान हैं । ‘ए’ का या तो लोप हो गया है या यह ‘ऐ’ के रूप में बदल गया है । —‘ओ’ बदल कर ‘आ’ हो गया है । अन्त्य—‘ऋ’ सर्वत्र—‘ई’ के रूप में ही मिलती है ।

प्रा० भा० आ० भाषा का—‘अ’

२. प्रा० भा० आ० भाषा का—‘अ’ प्राकृ० में—अ ही रहा, परन्तु अपभ्रंश में आकर उस ने रूप बदलना आरंभ किया । यहां (अप० में) या तो—अ, अ ही रहा या वह—० अर्थात् लुप्त हो गया या —‘इ या-उ-ए’ में परिवर्तित हो गया^१ । हरियाणवी में अन्त्य —अ की निम्नलिखित स्थितियां द्रष्टव्य हैं :—

(१) (क) अन्त्य-अ के लुप्त होने से पद व्यंजनांत हो गए हैं, यथा—

हरि० अंकस्—सं० अंकुश, हरि० आक्—सं० अर्क,
हरि० अदेस्—सं० आदेश, हरि० हीर्—सं० आभीर,
हरि० ईदर्—सं० इन्द्र, हरि० उज्मण—सं० उद्यापन,
हरि० कान्—सं० कर्ण,
हरि० चातर्—सं० चतुर आदि—

(ख) लुप्त होने की उक्त प्रक्रिया तत्सम अथवा अर्द्धतत्सम शब्दों में भी पाई जाती है, यथा—

हरि० कफ्—सं० कफ,
हरि० कलंक्—सं० कलङ्क, हरि० काग्—सं० काक,
हरि० चित्—सं० चित्त, हरि० चेत्—सं० चैत्र,

(ग) प्राकृत के देसी शब्दों के अन्तिम-अ की स्थिति भी इसी प्रकार है, यथा—

हरि० खाल्—प्राकृ० खल्ल, हरि० गुंआर्—प्राकृ० गमार,
हरि० गोब्बर—प्राकृत गोब्बर, हरि० रहट्—प्राकृ० घरट्ट,
हरि० छीक्—प्राकृ चिक्क आदि

(२) प्रा० भा० आ० भा० का—‘अ’ हरि० में कहीं-कहीं -आ- बन गया है यथा—

हरि० गूट्ठा—सं० अंगुष्ठ, हरि० चुवारा—सं० चतुर्द्वार,
हरि० कणा—सं० कण, हरि० कूड़ा—सं० कूट,
हरि० कोटुठा—सं० कोष्ठ, हरि० खोज्जा—सं० खाद्य,
हरि० चुमास्सा—सं० चतुर्मास, हरि० भट्ठा—सं० भ्राष्ट्र,
हरि० बाज्जा—सं० वाद्य, हरि० कौंद्घा—सं० स्कंध ।

प्रा० भा० आ० भा० का 'आ'

३- प्रा० भा० आ० भाषा का -आ प्राकृ० में -आ ही रहा,^१ परन्तु अपभ्रंश में वह -अ में बदल गया या वह लुप्त हो गया।^२ हरि० में निम्नलिखित स्थितियां पाई जाती हैं :—

(१) प्रा० भा० आ० भा० का -आ → हरि० -आ यथा.....

हरि० अंगिया ← सं० अंगिका, हरि० चिता ← सं० चिता,

हरि० बौहड़िआ ← सं० बधूटिका

(२) प्रा० भा० आ० भा० का -आ हरियाणवी में पहुँच कर कहीं-कहीं लुप्त भी हो गया :—

हरि० कद् ← सं० कदा, हरि० जद् ← सं० यदा, हरि० भूख् ←

सं० बुभुक्षा, हरि० भीख् ← सं० भिक्षा, हरि० लाख् ← सं०

लाक्षा, हरि० लाज् ← सं० लज्जा, हरि० बांम् ← सं० वन्ध्या,

हरि० बात् ← सं० वार्ता, हरि० दाख् ← सं० द्राक्षा ।

प्रा० भा० आ० भाषा का -इ, -ई

(४) प्रा० भा० आ० भा० का -इ अपभ्रंश में पहुँच कर ई या अ में बदल जाता है। डा० गणेश वासुदेव तगरे के अनुसार प्राकृतों में भी परिवर्तन की यही प्रक्रिया रही है।^३ आ० भा० आ० भाषाओं में से भोजपुरी में 'इ' की ध्वनि लुप्त होने की प्रक्रिया में है और बड़ी कठिनता के साथ सुनी जाती हैं।^४ हरि० में -इ या तो लोप हो गयी है या वह -ई के रूप में विद्यमान है।

(१) -'इ' के लुप्त होने के उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

हरि० अत् ← सं० अति, हरि० आख् ← सं० अक्षि,

हरि० अगन् ← सं० अग्नि, हरि० उँप्पर् ← सं० उपरि,

हरि० जून् ← सं० योनि, हरि० पात् ← सं० पंक्ति,

हरि० भीत् ← सं० भित्ति, हरि० मत् ← सं० मति

(२) -इ → -ई, यथा :—

हरि० दही ← सं० दधि,

हरि० पंजाली ← सं० प्रांजलि, हरि० बी ← सं० अपि

हरि० बली ← सं० बलि, हरि० बुद्धी ← सं० बुद्धि,

हरि० मणी ← सं० मणि, हरि० लोट्ठी ← सं० यष्टि ।

१. उ० ना० ति० : भो० भा० और सा० पृ० ६३ ।

२. ग० वा० त० : हि० प्रा० आफ० अप० पृ० २० ।

३. ग० वा० त० : हि० प्रा० आफ० अप० पृ० ५०-५१ ।

४. ति० उ० ना० : भो० भा० और सा० पृ० ६३ ।

(५) हरियाणवी में प्रा० भा० आ० भा० की 'ई' की भी दो ही प्रमुख स्थितियाँ हैं :—

-ई → ० या ई ।

(१) -ई → ० अर्थात् ईकारान्त शब्द व्यंजनान्त हो गए यथा—
हरि० डौवकण या डाण्—सं० डाकिनी, हरि० भाण्—सं०
भगिनी, हरि०, भांग्—सं० भृंगी, हरि० सोत्—सं० सपत्नी,
हरि० चौदस्—सं० चतुर्दशी -हरि० आट्ठम्—अष्टमी ।

(२) -ई → -ई के उदाहरण निम्नलिखित हैं :—
हरि० गूँट्ठी—सं० अंगुष्ठी, हरि० आंगली—सं० अङ्गुली,
हरि० थाली—सं० स्थाली, हरि० थली—सं० स्थली ।

प्रा० भा० आ० भा० -उ, -ऊ

(६) हरियाणवी में प्रा० भा० आ० भा० -उ, -ऊ की स्थिति ऊपर (४) और (५) में वर्णित -इ, -ई की स्थिति के बिल्कुल समानान्तर है, अर्थात् प्रा० भा० आ० भा० -उ → ० या -ऊ, -ऊ → ० या ऊ ।

(१) -उ → ० अर्थात् लुप्त हो गया है, यथा :—

हरि० दाद्—सं० दद्र, हरि० बांह—सं० बाहु, हरि० मोत्—सं० मृत्यु,
हरि० रुत्—सं० ऋतु, हरि० वस्त्—सं० वस्तु ।

(२) -उ → -ऊ, यथा—

हरि० आँझू—सं० अश्रु, हरि० सिभू—सं० शंभु,
हरि० नेज्जू—सं० रज्जु, हरि० तौक्कू—सं० तकु,
हरि० सत्तू—सं० सत्तु, हरि० सौद्धू—सं० साधु,
हरि० धीणू—सं० धेनु, हरि० पिरभू—सं० प्रभु ।

(३) -ऊ → -ऊ, यथा—

हरि० बहू—सं० बधू, हरि० सौस्सू—सं० श्वश्रू ।

प्रा० भा० आ० भा० का ऋ

(७) प्रा० भा० आ० भा० का ऋ प्राकृतों में ही बदल चला था । यहाँ तक कि आदि "ऋ" ने व्यंजन "र्" का आश्रय ग्रहण कर -इ या -उ का रूप धारण कर लिया था^१ । हरि० में अन्त्य ऋ सामान्यतः -ई के रूप में पाया जाता है, कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं :—

हरि० जमाई—सं० जामात, हरि० दोद्धी—सं० दोग्ध,
हरि० भाई—सं० भ्रातृ, हरि० माई—सं० मातृ,
हरि० मोस्सी—सं० मातृश्वस्त ।

प्रा० भा० आ० भा० का -ए

(८) वैदिक *अस्मे और *तुष्मे का अन्त्य -ए तथा प्रा० भा० आ० भा० का विकारी -ए अपभ्रंश में “इ” के रूप में मिलता है। इसी प्रकार विस्मय बोधक अव्ययों के एकारान्त रूप भी अपभ्रंश में इकारान्त हो गए हैं।^१

हरियाणवी में वैदिक *अस्मे और *तुष्मे एक ओर क्रमशः “हम्” और “थम्” हो गए हैं दूसरी ओर “हमीं” “थमीं” के रूप में भी पाए जाते हैं। अतः अन्त्य—
ए→ -०, -ई-।

प्रा० भा० आ० भा० का विकारी—“ए” विकल्प से—“ऐ” के रूप में विद्यमान है यथा :—

सं० - पार्श्वे→हरि० पॉस्से (ऑस्से-पॉस्से) या आस्-पास् (प्रथम रूप ही अधिक प्रचलित है)

सं० गृहे-गृहे→हरि० घर-घर् (यथा घर-घर बार हरी जुआर, अर्थात् सभी घरों की परिस्थितियां एक जैसी होती हैं)

इसके अतिरिक्त न्यून, ईघे, उरे आदि रूपों में इसी “ऐ” के दर्शन होते हैं जो संस्कृत के अधिकरण कारक के -ए का प्रतिरूप प्रतीत होता है। इसी प्रकार विस्मय-बोधक अव्ययों में—यथा सं० अरे→हरि० अरे और अरे तथा रे→हरि० रे और रे—में अन्त्य -ए—विकल्प से ऐ और ए दोनों रूपों में उपलब्ध है।

प्रा० भा० आ० भा० का -ओ, -औ

(९) प्रा० भा० आ० भा० के अन्त्य -ओ, -औ का केवल एक एक उदाहरण ही हरियाणवी में उपलब्ध हो सका है जहां यह बदल कर -आ, या -आं के रूप में स्थित है—यथा :—

सं० गो→हरि० गां।

सं० नौ→हरि० ना।

तीसरा अध्याय

३-आदि स्वर

(१) आदिम अक्षर के स्वर सामान्तः सुरक्षित रहते हैं, तथापि स्वराघात के अभाव में कहीं कहीं वे निर्वल होकर लुप्त हो गए हैं और कई एक परिस्थितियों में आदिम अक्षर भी लुप्त हो गया है। भाषाओं के विकास में यह एक सामान्य सी प्रक्रिया है जिसके दर्शन अपभ्रंश काल और प्राकृत काल में भी होते हैं। हरियाणवी में आदि स्वर (१) सुरक्षित भी रहे हैं, (२) उनकी मात्रा घट-बढ़ गई है, (३) कहीं-कहीं उनमें आमूल परिवर्तन भी आ गया है यथा अ या आ → इ, ई या उ, ऊ में बदल गए हैं अथवा इ, ई या उ, ऊ → अ या आ में बदल गए हैं, और (४) जहाँ स्वराघात का अभाव रहा वहाँ अमुख्य आदि-अक्षर लुप्त भी हो गए हैं। इस अध्याय में हम हरियाणवी में प्रा० भा० आ० भा० के आदि अक्षरों के स्वरों की स्थिति पर वर्णक्रम से विचार करेंगे।

(२) प्रा० भा० आ० भा० के “अ-” की आदि अक्षर में निम्न-लिखित स्थितियाँ पाई जाती हैं :—

(१) स्वराघात के अभाव में प्रा० भा० आ० भा० का आदि अक्षर ‘अ-’ लुप्त हो गया है, यथा :—

संस्कृत	हरियाणवी
अज्ञानक	याणा
अरिष्टक	रिठ्ड़ा
अंगुष्ठ	गुँड़ा
अमावस्या	मावस्

(२) उपरि निर्दिष्ट स्थिति के विपरीत प्रा० भा० आ० भा० का ‘अ’ व्यों का त्यों विद्यमान भी है :—

सं०	हरि०
अङ्गार	अंगारा
अंजन	अंजन्
अगला	अरली

(३) असंयुक्त व्यंजन से पूर्व आदि व्यंजन के साथ आने वाला अ-, अ- भी रहा है, पर कहीं-कहीं वह आ- में बदल गया है।

(क) सं० अ → हरि० अ

सं० कमल → हरि० कमल, सं० दलित → हरि० दलिआ,

सं० कलश → हरि० कलस्, सं० कलह → हरि० कलहया,

ध्वनि विचार

सं० चणक→हरि० चणा, सं० तपक→हरि० तवा,
सं० दधि→हरि० दही।

(ख) सं० अ→हरि० आ, आँ।

सं० चतुर→हरि० चौतर्, प्रा० चंदिण→हरि० चौदण्,
सं० जप→हरि० जाप्, सं० नहि→हरि० नाही,
सं० लकुट→हरि० लाक्कड़।

(४) संयुक्त व्यंजनों से पूर्व आने वाला प्रा० भा० आ० भा० का प्रथम अक्षर का 'अ' हरियाणवी में 'आ' या 'आँ' हो गया है, यथा :—

सं०	हरि०
अन्धकः	आँद्धा
अञ्जलि	आँजल्
अक्षि	आख्
अग्नि	आग्
अन्त्रिका	आतुड़ी
कण्टकः	काँड्डा
मक्षिका	माक्खी

(३) प्रा० भा० आ० भा० का 'ऋ' जब म० भा० आ० भा० में 'अ' में बदल गया तो वह हरियाणवी में 'अ' या 'आ' के रूप में पहुँचा, यथा :—

सं० गृह←गरह्←घर्
सं० नृत्य←प्राकृ० नच्च→हरि० नाच्।

(४) आदि अक्षर में प्रा० भा० आ० भा० का 'आ' हरियाणवी में (१) आँ या 'आ' रहा, (२) स्वराघात के अभाव में निर्वल हो कर 'अ' रह गया, और (३) अधिक निर्वल होने पर लुप्त हो गया, यथा :—

(१) सं० आ०→हरि० आँ या आ

सं०	हरि०	सं०	हरि०
आमलक	आंवला	आस्तरक	आत्थर्
स्थाली	थाली	आलु	आल्लू
बाहु	बाँह्		
कालेयक	काल्जा		

(२)	सं०	हरि०	सं०	हरि०
	आख्यान	आखाण	कापटिकः	कपटी
	तापिका	तई	मांगलिकः	मंगली
	वाणिज्यकारकः	वण्जारा	प्रांजलिः	पंजाली
	जामातृकः	जमाई	भ्राष्ट्र	भट्ठा
	आलस्यक	अलकस्।		

(३) सं० आ→हरि० ०, अर्थात् हरियाणवी में 'आ' वाले प्रथम अक्षर का लोप हो गया है।

सं०	हरि०	सं०	हरि०
आखेटिक	← हेड़ी	आभीर	→ हीर्
आसाढ	← साढ	आशिम	→ सीस्

(६) आदि अक्षर में प्रा० भा० आ० भा० का 'इ', 'ई' प्रायः अपरिवर्तित रहा है। केवल संयुक्त व्यंजन से पूर्ववर्ती 'इ'→'ई' बदल गया है। नीचे प्रत्येक स्थिति के उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं :—

(१) आदि अक्षर में सं० इ→हरि० इ

सं०	हरि०	सं०	हरि०
इतः	इत्	विकार	बिगाड़
किरात	किराड्	विघन	बिघ्न
क्रिया	किरिआ	भिन्ना	भिच्छ्या
इच्छा	इच्छ्या	त्रिलोकी	तिलोक्की

(२) आदि अक्षर में सं० 'ई' हरि० 'ई',

सं०	हरि०	सं०	हरि०
कीट	कीड़ा	कीलिका	कील्ली
दीपिका	दीवी	शीषं	सीस्
वीर	वीर	नील	लील्ली।

(३) संयुक्त व्यंजन से पूर्व अक्षर में सं० 'इ'→हरि० 'ई' 'या' 'ई'

सं०	हरि०	सं०	हरि०
तित्तिरि	तीत्तर	प्रा० चिश्चर	चीच्छड़
चित्रक	चीत्ता	मिश्रित	मीस्सा
जिह्वा	जीम्	निम्ब	नीब्
पितल	पीत्तल्	पिप्पल	पीप्पल्
शिखा	सीख	सिंह	सींह

टिप्पणी—स्वराघात के अभाव में आदि अक्षर में भा० आ० भा० का 'ई' हरियाणवी में बहुत कम अवस्थाओं में 'इ' बना है। एक-आध उदाहरण ही कहीं इधर-उधर मिल सकेगा—ईदश→इसा, नीरोग्→निरोग् कीदश→किसी।

६. आदि अक्षर में प्रा० भा० का 'ऊ' हरियाणवी में 'ऊ' ही रहा परन्तु आदि अक्षर में प्रा० भा० आ० भा० का 'उ' हरियाणवी में कई रूपों में मिलता है :—

- (१) स्वराघात के अभाव में प्रथम अक्षर 'उ' का लोप,
- (२) असंयुक्त व्यंजन से पूर्व प्रथम अक्षर में 'उ'→'उ'
- (३) संयुक्त व्यंजन से पूर्व प्रथम अक्षर में 'उ'→'ऊ' और कई एक स्थितियों में 'उ' भी।

ध्वनि विचार

(क)	आदि अक्षर में प्रा० मा० आ० भा० का 'उ'←हरि० 'ऊ' 'ऊँ',
सं०	हरि० सं० हरि०
कूप	कूआ चूर्ण चून्
द्युत	जूआ यूका जूम
धूम	धूम्मां धूलि धूल्

(ख) स्वराघात के अभाव में प्रथम अक्षर के 'उ' का लोप :—

सं० उच्छादन→छान्, सं० उज्जागरक→जॉगर, प्रा० उत्तावल→
तोल् या तावल

(ग) असंयुक्त व्यंजन से पूर्व प्रथम अक्षर में 'उ'→'उ'—

सं	हरि०	सं०	हरि०
कुमारी	कुंवारी	कुटुम्ब	कुटम्
कुशी	कुस्	कुठार	कुहाड़ी
युवक	जुआन	कुदाल	खुदाल्

(घ) (अ) संयुक्त व्यंजन से पूर्व प्रथम अक्षर में प्रा० भा० आ० भा० का 'उ'→हरि० 'ऊँ' या 'ऊ'

सं०	हरि०	सं०	हरि०
उच्च	ऊँचा	उष्ट्र	ऊँट
कुण्ड	कूँडा	कुत्ति	कूख्
गुर्जर	गूँजर	पुच्छ	पूँछ्
मुष्टि	मूठ् (लाठी का वह भाग जो मुट्ठी में पकड़ा		
पुत्र	पूत् । जाता है)		

(आ) संयुक्त व्यंजनों से पूर्व प्रथम अक्षर में प्रा० भा० आ० भा० आ० भा० का 'उ'→हरि० उ' ।

सं०	हरि०	सं०	हरि०
उद्ग्राहः	उधाई	उच्चाटन	उचाँटी
उद्यापन	उज्मण्	उत्पद्य	उपज्

८. आदि अक्षर में मिलने वाला प्रा० भा० आ० भा० का 'ए', स्वराघात के अभाव में 'इ' बन जाता है और कई एक अन्य स्थानों पर लुप्त हो जाता है। दूसरे, आदि अक्षर में किसी व्यंजन के साथ मिलने वाले प्रा० भा० के 'ए' तथा 'तथा' 'ऐ', हरियाणवी में 'ऐ' में परिणत हो गए हैं।

(क) (१) आदि अक्षर में मिलने वाला 'ए' हरियाणवी में स्वराघात के अभाव के कारण 'इ' के रूप में मिलता है, यथा :—

सं०	हरि०	सं०	हरि०
एकक	इक्का	एकषष्टि	इक्सट्
एकविंशति	इक्किस्	एकान्त	इकान्त् ।

(२) आदि अक्षर में प्रा० भा० आ० भा० का 'ए' हरियाणवी में लुप्त हो गया है, यथा :—

सं०	हरि०	सं०	हरि०
एकादशन्	ग्यारा	एकाशीति	क्यास्सी
एकपंचाशन्	क्यावन्	एकलः	कल्ला
एकस्थ	कट्ठा	एकादशी	ग्यास्

(ख) आदि अक्षर में व्यंजन के साथ मिलने वाले प्रा० भा० आ० भा० के 'ए'→'ऐ' तथा 'ऐ'→'ऐ' हो गए हैं, यथा :—

सं०	हरि०	सं०	हरि०
चैत्र	चेत	धेनु	धेणू
वैरिन्	वैरी	मेलक	मेली

(६) आदि अक्षर में मिलने वाले प्रा० भा० आ० भा० के 'ओ' में न्यूनतम परिवर्तन हुए हैं। कुछ एक स्थानों पर स्वराघात के अभाव के कारण वह ह्रस्व होकर 'उ', 'ऊ' में परिवर्तित हो गया है अन्यथा ज्यों का त्यों अपरिवर्तित रहा है।

(१) आदि अक्षर में मिलने वाला प्रा० भा० आ० भा० का 'ओ' स्वराघात के अभाव के कारण 'उ' या 'ऊ' में बदल गया है, यथा :—

सं०	हरि०	सं०	हरि०
गोपाल	→ गुआला	योनि	→ जून
लोहकार	→ लुहार।		

(२) आदि अक्षर में मिलने वाला अथवा आदि अक्षर में व्यंजन के साथ मिलने वाला प्रा० तथा सं० भा० आ० भा० का 'ओ'→हरि० 'ओ', यथा :—

सं०	हरि०	सं०	हरि०
ओड्र	ओड्	गोत्र	गोत्
योग	जोग्	योक्त्र	जोत्
भोलिका	भोली		
प्राकृ०	हरि०	प्राकृ०	हरि०
ओभरी	ओभूड़ी	ओड्डणा	ओड्डणा
ओवारि	ओबूरी।		

(१०) आदि अक्षर में मिलने वाला प्रा० भा० आ० भा० का 'औ' हरि० में ओ या 'ओ' में परिणत हो गया है, यथा :—

सं०	हरि०	सं०	हरि०
चौरी	चोरी	पौत्र	पोत्ता
पौष	पौड्	मौक्तिक	मोत्ती।

चौथा अध्याय

४-शब्द के आभ्यन्तरिक स्वर

(१) प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) में शब्द के आन्तरिक स्वर पूरी तरह उच्चरित होते थे। कोई एक-आध उदाहरण ऐसा अवश्य है जिससे शब्द के मध्य, स्वराघात के अभाव के कारण स्वर का लोप हो जाता हो, (यथा सुवर्ण→स्वर्ण) पर यह सामान्य स्थिति नहीं थी। प्रा० भा० आ० भा० की उक्त प्रक्रिया प्राकृत और अपभ्रंश काल तक, यहाँ तक कि आ० भा० आ० भा० के आरम्भिक काल तक भी ज्यों की त्यों चलती रही जिसके फलस्वरूप शब्द के आभ्यन्तरिक असम्पर्की स्वरों में बहुत कम परिवर्तन हुआ। कालान्तर में जब अन्तिम स्वर लुप्त होना आरम्भ हुआ, उस समय आन्तरिक स्वरों पर भी इस का प्रभाव पड़ने लगा अर्थात् आघात सहित स्वरों के आस-पास के आघात रहित स्वर निबले हो कर लुप्त होने आरम्भ हो गए।

हरि० में दो या तीन अक्षरों का उच्चारण सुविधापूर्वक एक साथ हो सकता है। अतः यहाँ दो-तीन अक्षरों वाले छोटे पद से अन्तिम स्वर का लोप हो जाता है। इस से बड़े अर्थात् तीन अक्षरों वाले पद में यथा-सुविधा दूसरे या तीसरे अक्षर पर रुकना पड़ता है। अतः ऐसे बड़े पद के उस अक्षर से भी स्वर लुप्त हो जाता है जहाँ हम सुविधानुसार रुकते हैं। उपरिलिखित पहली स्थिति में उपसर्ग अथवा प्रत्यय आदि के कारण जब शब्द का विकास होता है अर्थात् उस के मूल अक्षरों में किसी प्रकार की वृद्धि होती है अथवा वह शब्द व्यञ्जनान्त न रह कर स्वरान्त हो जाता है तो मध्य के दूसरे अक्षर या तीसरे से, जैसी सुविधा हो, स्वर का लोप हो जाता है। यथा :—काँक्कर् में मध्य स्वर विद्यमान है पर -ऐल्- प्रत्यय के संयोग से अक्षर बढ़ने पर कंक्र्ल् में दूसरे अक्षर से स्वर लुप्त हो जाता है।

(२) प्रा० भा० आ० भा० का -अ- हरियाणवी में लुप्त हो गया है।

(१) तीन अक्षरों में दूसरे अक्षर से -अ- का लोप, यथा :—

हरि०	सं०	हरि०	सं०
कांग्णां	कंक्ण	काक्डी	कर्कटी
कल्सा	कलश		
माम्ता	ममत्व।		

(२) तीन से अधिक अक्षर वाले शब्दों में सामान्यतः दूसरे और चौथे अक्षर से और कभी-कभी उच्चारण सुविधा से तीसरे अक्षर से यथा—

हरि० कठ्पुत्ली ← सं० काष्टपुत्लिका

हरि० कुलख्णा ← सं० कुलक्ष—

(३) प्रा० भा० आ० भा० का -आ- हरियाणवी में सामान्यतः -आ- ही रहता है और कहीं-कहीं निर्वल हो कर -अ- में बदल गया है, यथा :—

हरि० चो^०खट्—सं० चतुर्काष्ठी,

हरि० नरा^०न्द—सं० ननान्दा ।

हरियाणवी में केवल एक हरि० का^०हूणी-सं० कथानक ही ऐसा उदाहरण है जहां -आ- लुप्त हुआ दिखाई देता है ।

(४) प्रा० भा० आ० भा० के असम्पर्की-स्वर -इ-, -ई- सामान्यतः -अ- में बदल गए हैं (उदाहरणों के लिए देखिए १. ५. ३ (२)) । कुछ स्थितियों में इनका लोप भी हो गया है, यथा :—

हरि० दिछ्^०णा—सं० दक्षिणा,

हरि० दाह^०णा—सं० दक्षिणा,

हरि० परवार^०—सं० परिवार,

हरि० रोह^०तक—सं० रोहीतक ।

(५) प्रा० भा० आ० भा० के असम्पर्की स्वर -उ-, -ऊ- सामान्यतः -अ- में परिणत हो गए हैं (उदाहरण के लिए देखिए १. ५. ४ (२)) । कुछ स्थितियों में -ऊ- अलुण्ण भी रहा है ।

(६) प्रा० भा० आ० भा० के असम्पर्की-स्वर -ए-, -ओ- का हरियाणवी में सामान्यतः लोप नहीं होता । नीचे -ए- के दो उदाहरण दिए जाते हैं जहां एक में 'ए' का लोप हो गया है तो दूसरे में वह 'अ' में बदल गया :—

हरि० काल्जा (सं० कालेयक),

हरि० नालिअर (सं० नालिकेर) ।

पांचवां अध्याय

५-हरियाणवी में आभ्यन्तरिक स्वरों का अनुष्ण रहना ।

(१) हरियाणवी में उपान्त अक्षर के स्वर सामान्यतः अनुष्ण रहते हैं।
प्रा० भा० आ० भा० के उपान्त अक्षर का -अ- हरियाणवी में -अ- ही है,
यथा :—

हरि० कौब्बल् ← सं० कम्बल्, हरि० कौक्कर् ← सं० कर्कर,
हरि० कौज्जल् ← सं० कज्जल्, हरि० गौग्गर् ← सं० गगरी,
हरि० लक्खण् ← सं० लक्षण, हरि० कमंडल् ← सं० कमण्डलु ।

(२) उपान्त अक्षर में प्रा० भा० आ० भा० का -आ→हरियाणवी -आ- ।
बहुत कम अवस्थाओं में यह -आ- हरियाणवी में -अ- के रूप में परिवर्तित हुआ है,
यथा :—

सं० चुतर्काष्ठी → हरि० चौक्खट्, परन्तु चुखाट् रूप भी मिलता है, सं०
ननान्द → हरि० नण्ण्ड । उपान्त -आ- के अनुष्ण बने रहने के उदाहरण निम्नलिखित
हैं :—

हरि०	सं०	हरि०	सं०
कढाई	कटाह	कपास्	कार्पास
कुआड् या किवाड्	कपाट	कसाई	कवायिन्
गुआला	गोपाल	चिंडाल	चंडाल
चुमाँसा	चातुर्मास	नराण	नारायण

(३) उपान्त अक्षर में प्रा० भा० आ० भा० की -इ- तो हरियाणवी में कुछ
अवस्थाओं में -इ- के रूप में मिलती हैं, अन्यथा -इ-, और -ई-, → '-अ-' में परि-
वर्तित हो गए हैं ।

(१) -इ- के अनुष्ण रहने के उदाहरण :—

हरि० खड़िआ ← सं० खटिका, हरि० दलिआ ← सं० दलित,
हरि० दुखिआ ← सं० दुखित, हरि० मणिआर् ← सं० मणिकार ।

(२) -इ-, -ई- → '-अ-', यथा :—

हरि० कौतक् ← सं० कार्तिक, हरि० गुआँल्लण् ← सं० गोपालिनी
हरि० डौक्कण् ← सं० डाकिनी, हरि० नुरंगी ← सं० नारिंग
हरि० निमत् ← सं० निमित्त, हरि० तीत्तर ← सं० तित्तिरि,
हरि० सिरस् ← सं० शिरीष ।

हरियाणवी में आभ्यन्तरिक स्वरों का अक्षुण्ण रहना

(४) हरियाणवी में प्रा० भा० आ० भा० के -उ- और -ऊ- उपान्त अक्षर में सामान्यतः -अ- के रूप में ही मिलते हैं। केवल -ऊ- कुछ अवस्थाओं में अक्षुण्ण बना रहा है।

(१) आ० भा० आ० भा० -ऊ- हरि० -ऊ- यथा :—

हरि० कपूर ← सं० कर्पूर, हरि० खजूर ← सं० खजूर
हरि० गोधूली ← सं० गोधूलिका, हरि० निर्मूल ← सं० निर्मूल
हरि० लंगूर ← सं० लाङ्गूल।

(२) प्रा० भा० आ० भा० -उ → अ-, यथा :—

हरि० मीँ डक ← सं० मण्डक, हरि० कूँकड़ ← सं० कुक्कुट
हरि० कुटम् ← सं० कुटुम्ब, हरि० गूँगल ← सं० गुग्गुल
हरि० धाणक् ← सं० धानुक्।

(५) हरियाणवी के उपान्त अक्षर में प्रा० भा० आ० भा० के -ए- तथा -ओ- सामान्यतः अक्षुण्ण रहे हैं, यथा :—

हरि०	सं०	हरि०	सं०
गुहैरा	गोधेर	निसेणी	निःश्रेणी
बिदेस्	विदेश	समेत्	समेत
अदेस्	आदेश	परेत्	प्रेत
ककोड़ा	कर्कोट	चबोड्	चौबोल
निर्मोही	निर्मोही	निरोग्गा	नीरोग।

छठा अध्याय

६-सम्पर्की स्वर

(१) शब्द के मध्य जब दो अथवा अधिक स्वर पास-पास आ जाएं अर्थात् उन स्वरों के बीच कोई व्यंजन न हो तो इन्हें सम्पर्की स्वर कहा जाता है, यथा हिअअ (हृदय)। प्रा० भा० आ० भा० के शब्दों के मध्य से व्यंजनों का लोप हो जाने पर प्राकृ० काल में अनेक स्वर एक दूसरे के सम्पर्क में आए। इन सम्पर्की स्वरों को उद्भुत स्वर भी कहा जाता है।

वैदिक काल में 'त्वं ह्यग्ने' के स्थान पर हमारे ऋषिगण 'तुअम् हि अग्ने' बोला करते थे जिस से सिद्ध होता है कि लौकिक संस्कृत में चाहे सम्पर्की स्वरों में संधि कर दी जाती थी परन्तु उसके व्यवहारिक रूप में सम्पर्की स्वरों के उच्चारण की प्रथा विद्यमान थी। यह ठीक है कि पालि में सम्पर्की स्वरों में संधि के उदाहरण मिलते हैं यथा मयूर→प्राकृ० मऊर परन्तु पालि मोर। इसी प्रकार पालि में त्रयोदश→त्रैदस, स्थविर→थइर→थेरो, कुशीनगर→कुसीनअर→कुसीनारा आदि अनेक शब्द मिलते हैं। परन्तु इन उद्भुत स्वरों को कायम रखने की प्रथा अपभ्रंश काल तक चलती रही। हरि० के क्रिया रूपों में यह प्रवृत्ति आज भी ज्यों की त्यों विद्यमान है, जहाँ कई एक धातुओं के रूपों में चार-चार स्वर एक दूसरे के सम्पर्क में पाए जाते हैं यथा ठुआइए, गुआइए (चार संपर्की स्वर) और जब इन के साथ बलसूचक अव्यय 'ए' लगा दिया जाता है तो संपर्की स्वरों की संख्या पाँच तक हो जाती है, ठुआइए ए नाँ (उठवाना ही मत) गुआइए ए नाँ (गीत गुवाना ही नहीं)।

(२) कालान्तर में इन उद्भुत स्वरों का उच्चारण कठिन प्रतीत होने लगा। इस काल के अन्तर्गत सम्पर्की स्वर या तो—

(१) संध्यन्तर बनने लगे, या

(२) दो स्वर एक स्वर में परिणत हो गए, या

(३) इन स्वरों को कायम रखने के लिए 'य्', 'व्' की श्रुतियों का सन्निवेश किया जाने लगा।

(३) स्वरों के मध्य-य्, तथा -व्-श्रुतियों का सन्निवेश ईसा पूर्व दूसरी शती में आरंभ हो गया था। भारहुत शिलालेख में अवयेसि←अवादेसि में -य् श्रुति और खारवेल के शिलालेख में 'व्' श्रुति के उदाहरण मिलते हैं यथा चवुथ←चतुर्थ। यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इन श्रुतियों के रूप मिलने में यदि कुछ कमी दिखाई देती है तो इसका एक मात्र कारण लिखने की अनियमितता ही है। शायद इसी लिए कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि 'य्' तथा 'व्' श्रुतियों ने शब्द मध्यवर्ती ऊष्म ध्वनि के लोप के साथ-साथ ही सम्पर्की स्वरों के मध्य अपना पंजा जमाना आरंभ कर दिया था

और लेखन की अनियमितता से प्रभावित हो कर जब इन में लोप आदि के चिह्न प्रकट होने लगे तो इन श्रुतियों के सन्निवेश के नियम का कठोरता के साथ पालन किया जाने लगा ।

(४) -‘य्-’ तथा -‘व्-’ ध्वनियां हरियाणवी की प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं । इस का कारण यह है कि यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा ने कुछ स्थानों पर य् ‘को’, ‘ज्’, ‘व्’ को ‘व्व्’ में बदल दिया । प्रातिशाख्यकारों ने इस प्रकार ‘य्’, ‘व्’ को कुछ गिने मिने स्थानों पर ही ‘ज्’, ‘व्व्’ बनाना बताया है पर जनसाधारण में जब एक प्रवृत्ति चल पड़ती है तब वह शनैः शनैः सर्वव्यापिनी बन जाया करती है । इस लिए लगभग सभी जगह ‘य्’→‘ज्’, ‘व्’→‘व्व्’ बन गया ।

यद्यपि आधुनिक हरि० में -य् तथा -व्- श्रुतियों के कुछ रूप मिलते हैं तथापि यहाँ सम्पर्की स्वर को स्थिर रखने की प्रवृत्ति अधिक प्रबल दिखाई देती है । इसका प्रमाण यह है कि हिन्दी में जहाँ -य् तथा -व्- श्रुति वाले पद उपलब्ध होते हैं वहाँ हरि० में सम्पर्की स्वर ही पाए जाते हैं, यथा सं० दीप→हिं० दीवा, हरि० दीआ, नारिकेल→हिं० नारियल, हरि० नारिअल्, शूकर→हिं० सूवर हरि० सूअर् आदि । इस से प्रतीत होता है कि हरि० की पूर्वज अपभ्रंश में -य्- तथा -व्- सन्निवेश पद्धति नहीं अपनाई गयी होगी । यहाँ दो उद्धृत स्वरों में परस्पर संधि हो गई, या वे एक दूसरे में परिणत हो गए या ज्यों के त्यों बने रहे । इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि अन्य अपभ्रंशों की भांति यहाँ भी -य्- तथा -व्- की श्रुतियों का सन्निवेश तो कर लिया गया पर चूंकि यह पद्धति भाषा की मूल-भूत प्रकृति के अनुकूल नहीं थी, अतः ये श्रुतियाँ फिर से लुप्त हो गई और यह केवल ऐसे स्थानों पर अवशिष्ट रह गई जहाँ उच्चारण सुविधा के अनुसार उनका वहाँ बचा रहना नितान्त आवश्यक था, यथा केवड़ा←केतक→केवअ, हरि० जावें←जाई←याति, हरि० नेवरी←णेउर←नूपर, वावला←वाउल←वातुल, भायला←भाइल्ल←भांगनक, गया←गअ←गतः आदि ।

हरि० में -य्- तथा -व्- श्रुतियों के उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त कुछ थोड़े बहुत उदाहरण ही और मिलेंगे, अन्यथा यहाँ स्वरों में सन्धि अथवा दो स्वरों के एक स्वर में बदलने और सम्पर्की स्वरों के ज्यों के त्यों बने रहने के ही उदाहरण मिलेंगे ।

सम्पर्की स्वरों के ज्यों के त्यों बने रहने के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

सं० शुक→प्राकृ० सुअ→हरि० सूआ, सं० सूची→प्राकृ० सूई→हरि० सूई
सं० प्रिय→प्राकृ० पिअ→हरि० पिआ, सं० मणिकार→प्राकृ० मणिआर→
हरि० मणिआर्, सं० खटिका→प्राकृ० खडिआ→हरि० खडिआ सं० गोपाल
→प्राकृ० गोआल→हरि० गुआला ।

उद्धृत स्वरों का संयोग

है :— (५) हरि० में प्राकृ० सम्पर्की स्वरों में निम्नलिखित रूप से संयोग हुआ

- | | | | |
|-----|----------------------------------|----------------|---------------|
| (१) | अ अ → अ | | |
| | प्राकृ० अअर | सं० (अपर, अवर) | हरि० अर |
| (२) | -अ इ- → -आ | | |
| | प्राकृ० भइणि | सं० (भगिनी) | हरि० भाण । |
| (३) | -अइ- → -ऐ- | | |
| | प्राकृ० वइंगण | | हरि० वैंगण |
| | „ वइकुंठ | सं० (वैकुंठ) | हरि० वैकुंठ |
| | „ चइत | सं० (चैत्र) | हरि० चैत् |
| | „ कइर | सं० (कदर) | हरि० कैर् |
| | „ छइल | | हरि० छैल् । |
| (४) | -अउ- → -ओ- | | |
| | प्राकृ० सउण | सं० (शकुन) | हरि० सोण |
| | प्राकृ० सउती | सं० (सपत्नी) | हरि० सोत् |
| | प्राकृ० चउक्क | सं० (चतुष्क) | हरि० चौक् |
| | प्राकृ० मउड | सं० (मुकुट) | हरि० मोड् |
| | प्राकृ० मऊर | सं० (मयूर) | हरि० मोर् |
| | प्राकृ० चउत्थ | सं० (चतुर्थ) | हरि० चोथ् |
| (५) | -अ ओ- → -ओ- | | |
| | प्राकृ० पओली | सं० (प्रतोली) | हरि० पौली |
| (६) | -आइ- → -आ- | | |
| | प्राकृ० भाइणिब्ज | सं० (भागिनेय) | हरि० भाणजा |
| | प्राकृ० डाइण | सं० (डाकिनी) | हरि० डाण । |
| (७) | -इअ- → -इ- | | |
| | प्राकृ० णिअत्त | सं० (नित्य) | हरि० नित् |
| (८) | -इआ- → -या-, -इउ- → *-यु- → -यो- | | |
| | प्राकृ० विआय | | हरि० व्या |
| | प्राकृ० विआलिउ | | हरि० व्याल् |
| | प्राकृ० बिआह् | | हरि० व्याह् |
| | प्राकृ० विउंत | | हरि० व्यौत् |
| | | | (कपड़ा मापना) |
| | प्राकृ० णिउल | | हरि० न्योल् |
| (९) | -उअ- → -ऊ- | | |
| | प्राकृ० सूअर | सं० (शूकर) | हरि० सूर |

प्रा० भा० आ० भा० के 'ऋ' का हरियाणवी में परिवर्तन

(६) प्रा० भा० आ० भा० में 'ऋ' की गणना स्वरों में की जाती थी, परन्तु आ० भा० आ० भा० में इसका उच्चारण (ऋ→रि) देखते हुए इसे स्वर मानना तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता। आज यह सोचना भी कठिन प्रतीत होता है कि प्रा० भा० आ० भा० में इस स्वर का उच्चारण किस प्रकार का रहा होगा। कतिपय विद्वानों का अनुमान है कि प्रा० भा० आ० भा० के 'ऋ' का उच्चारण कदाचित् स्लाव भाषा के 'र' की भांति (यथा—स्लव) रहा हो।^१ 'ऋ' ध्वनि का विश्लेषण करते हुए प्रातिशाख्य इसके उच्चारण में १ मात्रा अ+१ र्+१ अ (अर्थात् अ+र्+अ) की स्थिति मानता है और अवेस्ता के साहित्य में अ+र्+अ मिलने^२ पर इस कथन की पुष्टि भी हो जाती है। अस्तु, संभावना की जा सकती है कि प्रा० भा० आ० भा० काल में 'ऋ' स्वर का उक्त उच्चारण कुछ समय तक होता रहा हो, परन्तु इसने बहुत शीघ्र ही परिवर्तन के प्रशस्त मार्ग को अपना लिया।

पालि में ही 'ऋ' के स्थान पर 'अ', 'इ', 'उ', 'ए', व्यंजन 'र्' तथा 'ह' का प्रयोग हुआ है, यथा कृपण→कपण, ऋषि→इसि, ऋतु→उतु, गृह→गेह, वृक्ष→रुक्ख, वृहत→ब्रहा।^३ डा० सुकुमार सेन के अनुसार इन का विकास -ऋ- → -अर्- → -अर्- → अ, -ऋ- → -इरि- → इरि- → -इ, -ऋ- → -उर्- → उर्- → उ रूप में माना जा सकता है। ऋग्वेद में इस सम्बन्ध के कई उदाहरण मिलते हैं :—

यथा :— शृणोति←श्रिणोति→श्रुणोति, तृतीय→त्रितीय, शृथिर→शिथिर आदि।^४

अशोक के शिलालेखों से बलाश इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि प्रा० भा० आ० भा० के स्वर 'ऋ' ने दक्षिण पश्चिमी भारत में 'अ' और उत्तर पूर्वी भारत में 'इ' तथा 'उ' का रूप धारण कर लिया था।^५

श्रीवररुचि ने प्राकृत प्रकाश^६ में और श्री हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण

१. उ० ना० ति० : भो० भा० और सा० पृ० १०७।

२. वही पृ० १०७।

३. स० प्र० अ० : प्रा० वि० पृ० ६५।

४. वही पृ० ५५।

५. उ० ना० ति० : भो० भा० और सा० पृ० १०७।

६. प्राकृत प्रकाश के रचयिता वररुचि ने 'ऋ' सम्बन्धी परिवर्तनों को सूत्र-बद्ध किया है जिन में से कुछ पर नीचे प्रकाश डाला जाता है :—

१. अयुक्तस्य रिः (सूत्र ३०) यथा ऋण→रिण, ऋद्धि→रिद्धि, ऋषि→रिसि।

२. वचचिद् युक्तस्यापि (सूत्र ३१) यथा ईदृशः→एरिसो, सदृशः→सरिसो, कीदृशः→केरिसो, तादृशः→तारिसो।

(शब्दानुशासन)^१ में प्राकृत भाषाओं में प्रा० भा० आ० भा० के 'ऋ' के परिवर्तन पर विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। उनका विचार है कि प्राकृतों में वैदिक स्वर 'ऋ' के स्थान पर 'रि', 'रु', 'अ', 'इ', 'उ' पाए जाते हैं। श्री पिश्ल के अनुसार सभी प्राकृतों में 'ऋ' का रूप 'ई' हो जाता है और आज भी भारतीय भाषाओं में 'ऋ' का 'रि' होता है परन्तु विशेष या ओष्ठ्य स्वरों के अनुसार अथवा जब 'ऋ' के बाद 'उ' आता है तब ऋकार का उकार होता है (दे० ग्रे० ५०—५१)।^२

डा० तगरे ने अपभ्रंश भाषाओं में 'ऋ' सम्बन्धी परिवर्तनों पर विशद रूप से विवेचन प्रस्तुत किया है।^३ उनके निष्कर्ष का सारांश निम्नलिखित है :—

(१) पश्चिमी अपभ्रंश की अपेक्षा पूर्वी अपभ्रंश में आदि 'ऋ' के स्थान पर 'अ' अधिक मात्रा में प्रचलित था, तथापि दोनों प्रदेशों में इसका लोप तीव्रता के साथ हो रहा था।

(२) पहले प्राकृत काल में आदि 'ऋ' का 'इ' में बदलना पूर्वी अपभ्रंश की प्रमुख विशेषता मानी जाती थी। यही विशेषता (अर्थात् ऋ→इ) इस काल में पूर्णतः अपरिवर्तित रूप से विद्यमान रही। पश्चिमी अपभ्रंश में यह प्रवृत्ति ४३% से बढ़कर ६६.६% हो गई।

(३) विशेषकर ओष्ठ्य ध्वनि के कारण आदि 'ऋ'→उ में परिवर्तित हुआ।

(४) (संभवतः संयुक्त व्यंजनों के कारण) गुरुताधारी अक्षरों में 'ऋ' दीर्घ स्वर में परिणत हो गया, यथा कान्हा→कृष्ण (पूर्वी अपभ्रंश)। अन्य प्रदेशों में यह स्थिति कुछ काल बाद दिखाई देती है, यथा—बूढ़उ→वृद्ध।

३. वृक्षे वनेरुर्वा (सूत्र ३२) यथा वृक्षः→रुक्खो, ऋषि→रुसि।

४. ऋतोत् (सूत्र २७) यथा तृण→तण, घृणा→घणा, कृत→कत, कृष्ण→कण्ह, ऋण→अण।

५. इद् ऋष्यादिषु (सूत्र २८) यथा ऋषि→इसि, कृपण→किविण, हृदय→हियअ, शृंगार→सिगार, मृगांक→मिअंक, कृपा→किया।

६. उदे ऋत्वादिषु (सूत्र २९) ऋतु→उतु, मृणाल→मुणाल, पृथ्वी→पुह्वी, ऋजु→उज्जु, जामातृक→जामादुअ। —डा० पी० एल० वैद्य द्वारा संपादित।

१. हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण (शब्दानुशासन) के सूत्र इस प्रकार हैं :—

(१) रिः केवलस्य. (२) दृशः किवप् टकसकः, (३) ऋतोत्, (४) इत् कृपादो, (५) उद्दत्वादो। (बम्बे संस्कृत ऐण्ड प्राकृत सिरीज ६०, १९३६।)

२. 'ऋ' के परिवर्तन सम्बन्धी पिश्ल का विशद विवेचन उनके ग्रे० में ४७ से ५८ तक देखा जा सकता है।

३. ग. वा. त. : हि. ग्रा. अप. पृ. ४१-४२, विशद विवेचन के लिए देखिए वही पृ. ३६ से ४८।

(५) पूर्वी तथा पश्चिमी अपभ्रंश में सन् १००० तक मध्य 'ऋ' को 'इ' में बदलने का सामान्य नियम चलता रहा।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आर्य भाषा-क्षेत्र में 'ऋ' के उच्चारण सम्बन्धी विभिन्न समयों में विभिन्न प्रवृत्तियाँ रही हैं। अपभ्रंशकाल में किसी विशिष्ट क्षेत्र में किसी समय यदि कोई प्रवृत्ति विशेष रूप से प्रचलित थी, तो किन्हीं कारणों से तीव्रता के साथ उस का ह्रास होता जा रहा था—यथा अपभ्रंशकालीन 'ऋ' सम्बन्धी उच्चारण के निष्कर्ष (१) से पता चलता है कि पूर्वी अपभ्रंश में 'ऋ' → 'अ' की प्रवृत्ति विद्यमान थी पर वह शीघ्रता से लुप्त हो रही थी। इसी प्रकार निष्कर्ष नं० (२) के अनुसार पश्चिमी अपभ्रंश में 'ऋ' → 'इ' की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी। इससे पता चलता है कि विभिन्न समयों में विभिन्न भाषाओं और बोलियों का सम्मिश्रण तथा आदान-प्रादान पर्याप्त मात्रा में होता रहा है। संभवतः यही कारण है कि लगभग प्रत्येक क्षेत्र की आ० भा० आ० भा० में प्रत्येक प्रवृत्ति के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। हरि० भी इसका अपवाद नहीं है। यहाँ भी ऋ → अ, इ, उ और व्यंजन र तथा ऋ में बदलती दिखाई देती है। अपभ्रंश की भांति यहाँ भी गुरुताधारी अक्षरों में 'ऋ' के स्थान पर आने वाला स्वर दीर्घ हो गया है। कहीं-कहीं साधारण स्थिति में भी 'ऋ' के स्थान पर आने वाला स्वर दीर्घ मिल सकता है। ऐसी स्थितियों में स्वराघात की विशेषता समझनी चाहिए। दूसरी विशेष बात यह है कि हरि० में अन्त्य ह्रस्व स्वरों का लोप हो चुका है। इसलिए जहाँ अन्त्य 'ऋ' → अ की स्थिति होनी थी, वहाँ पद व्यंजनान्त हो गए हैं। 'ऋ' → इ की स्थिति में स्वर दीर्घ मिलता है। अन्त्य 'ऋ' के 'उ' या 'ए' में बदलने के उदाहरण हरि० में नहीं मिलते।

(७) नीचे प्रा० भा० आ० भा० के 'ऋ' के हरि० में परिवर्तन के उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं :—

(१) ऋ → अ

सं० गृह → हरि० घर, — (परन्तु गृहकुटी → घुर्कड़ी—यह स्वर-विपर्यय के कारण संभवतः ऐसा है)

सं० जृम्भा → हरि० जम्हाई, सं० बृहत् → हरि० बड़ा

सं० वृध → हरि० बध्, सं० घृष् → हरि० घस्

सं० व्यावृत → हरि० वौह्वेवड्, सं० संभृष्ट → हरि० साम्ठा।

(२) ऋ → आ

सं० कृष्ण → हरि० कान्हा, सं० नृत्य → हरि० नाच्,

सं० भृंग → हरि० भांग्, सं० शृंखला → हरि० साँकल्।

(३) ऋ → इ

सं० हरि० सं० हरि०

तृण तिरुका तृषा तिस्

शृंगार सिंगार वृश्चिक विच्छू

(४)	ऋ→ई			
	सं०	हरि०	सं०	हरि०
	गृध्र	गीध्	घृत	घी
	तृतीया	तीज्	पृष्ठ	पीठ्

(५) ऋ→उ
सं० ऋजु—जड→हरि० उजड्

(६)	ऋ→ऊ			
	सं०	हरि०	सं०	हरि०
	पृच्छा	बूझ्मा	वृद्ध	बूड्डा
	✓स्पृश	✓छूँह् ।		

(७) ऋ→ए : ऋ के पश्चात् तालव्य व्यंजन के लोप पर ऋ→ए में बदल जाता है ।

सं०	प्राक०	हरि०
घृतपूर-	घयपूर	घेवर-यहाँ प्राक० की तालव्य ध्वनि 'य' के निपात के पश्चात् य→इ पूर्ववर्ती 'अ' से मिल कर 'ए' को जन्म देती है ।

(८) ऋ→र्
सं० परि✓धृ→प्राक० परिहर→पहिर→हरि० पहर्
सं० वि ✓कृ→प्राक० विक्खर→हरि० विखर् ।
सं० पितृ→हरि० पितर् ।

(९) ऋ→र्→ल्
सं० उद्←✓गृ→उगिर→प्राक० उगिल→हरि० उगल् ।

(१०) ऋ→री
सं० ऋत्त→रीँछ्, ✓ऋध्,→✓रीम् ।

(११) ऋ→रू
सं० वृत्त→हरि० रूख् ।

मध्य तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के अनुस्वार

८. प्रा० भा० आ० भा० में अनुस्वार का स्वरूप : प्रा० भा० आ० मा० में अनुस्वार की स्वतंत्र सत्ता थी । इसका उच्चारण चाहे जिस स्वर के अन्त में किया जा सकता था, अर्थात् स्वर का पूर्णरूप से उच्चारण हो चुकने के बाद नासिका से अनुस्वार का उच्चारण होता था । इस प्रकार 'अं' ध्वनि को अ+ समझना चाहिए । इसका प्रमाण यह है कि आ० भा० आ० भा० में इस अनुस्वार का विकास भिन्न-भिन्न रूप से हुआ है । 'संस्कृत' शब्द का उच्चारण करते समय अनुस्वार की ध्वनि उत्तर भारत में 'न्', बंगाल में 'ङ्', और महाराष्ट्र में 'व्', की भाँति सुनी जाती है ।

सम्पर्की स्वर

म० भा० आ० भा० काल में भी अनुस्वार का विकास 'ङ्', 'न' तथा 'म्' के रूप में हुआ यदि प्रा० भा० आ० भा० में अनुस्वार की ध्वनि का स्वतंत्र अस्तित्व न होता तो इस के भिन्न भिन्न रूप नहीं मिलते। इस सम्बन्ध में दूसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि प्रा० भा० आ० भा० में अन्तस्थ तथा ऊष्मों से पूर्ववर्ती स्वर के साथ ही अनुस्वार पाई जाती थी, अन्यत्र यह सम्बन्धित वर्ग के पंचम वर्ण में परिवर्तित हो जाती थी।

प्रा० भा० आ० भा० का अन्त्य अनुस्वार

६. म० भा० आ० भा० में प्रा० भा० आ० भा० का अनुस्वार तो सुरक्षित रहा ही, इसके अतिरिक्त यहाँ प्रा० भा० आ० भा० के पदान्त '-म्' को अनुस्वार का रूप दे दिया गया जिसके प्रभाव से अपभ्रंश के उपान्त्य-स्वर अनुनासिक हो गए। यही कारण है कि कतिपय आ० भा० आ० भा० के अन्तिम स्वर अनुनासिक हैं। हरि० में प्रा० भा० आ० भा० का अन्त्य अनुस्वार अथवा म० भा० आ० भा० में संस्कृत के पदान्त '-म्' से बनने वाला अनुस्वार सर्वथा लुप्त हो गया है। दूसरे शब्दों में हरि० के किसी पद के अन्त में अनुस्वार नहीं होता, परन्तु पदान्त का स्वर अनुनासिक हो सकता है, यथा जावें, बहुआं, गां आदि।

पद के मध्य में मिलने वाला अनुस्वार

१०. प्रा० भा० आ० भा० में पद के मध्य की अनुस्वार-ध्वनि परवर्ती व्यंजन के पंचम वर्ण का रूप धारण कर लेती थी। परवर्ती व्यंजन अन्तस्थ या ऊष्म होने की सूरत में वह अनुस्वार ही रहती है। म० भा० आ० भा० काल में अनुस्वार स्थानीय पंचम वर्ण को पुनः अनुस्वार ही बना दिया तथा गङ्गा→गंगा, बन्धु→बंधु लिखा जाने लगा। ध्यान रहे कि अनुस्वार युक्त स्वर प्रायः ह्रस्व होते हैं और उनसे परे प्रायः संयुक्त व्यंजन हुआ करते हैं, अतः अनुस्वार के मूल स्वरूप में कोई विशेष ध्वन्यात्मक परिवर्तन नहीं आ पाया था। कालान्तर में जब द्वित्व व्यंजन पद्धति शिथिल पड़ने लगी और उनमें समीकरण की प्रवृत्ति घर करने लगी, तब ऐसे स्थानों पर पूर्ववर्ती स्वर को सामान्यतः दीर्घ कर दिया गया और द्वित्व अथवा संयुक्त व्यंजनों में कोई व्यंजन लुप्त हुआ या द्वित्व व्यंजन का एक व्यंजन रह गया। ऐसी सूरत में दीर्घकृत स्वर की अनुस्वार ध्वनि को बड़ा धका लगा और वह पहले से आधी रह गई। इस तरह सं० चन्द्र→प्राकृ० चंद्र→हरि० चांद्र बन गया और पहले अक्षर के अनुस्वार में पहले से आधी अनुनासिकता रह गई। हरि० में एक बात ध्यान देने योग्य यह भी है कि इसमें कई एक स्थल पर प्राकृत के द्वित्व व्यंजन को ज्यों का त्यों रखते हुए पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ भी कर दिया गया है पर ऐसे दीर्घ स्वरों का उच्चारण ह्रस्व ही रहा है। इन स्वरों पर पाए जाने वाले अनुस्वार की ध्वनि मात्रा 'चांद्र', में बताई गई अनुस्वार मात्रा से अधिक परन्तु 'चन्द्र' की मूल अनुस्वार मात्रा से कुछ कम है। इसके अतिरिक्त

अन्य सभी स्थानों पर हरि० अनुस्वार की वही स्थिति है जो प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) में या म० आ० भा० में पाई जाती थी।

(११) नीचे हरि० के ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं जहां प्रा० भा० आ० भा० के अनुस्वार की मात्रा आधी रह गई :—

कांगणा (कंकण), कांध् (स्कन्ध), गेंद (कन्दुक), रांड् (रण्डा), सांड (साण्ड), डांड (दण्ड)

(१२) निम्नलिखित उदाहरणों में मूल अनुस्वार ध्वनि मात्रा से कम परन्तु आधी से अधिक अनुस्वार मात्रा मिलती है :—

आंगलू ← अंगुल, आंजलू ← अंजलि; कौंज्जी ← कंजिक, कौंड्डा ← कण्टक।

(१३) निम्नलिखित उदाहरणों में मूल अनुस्वार ध्वनि विद्यमान है :—

अंजन् ← अब्जन, अडम्बर (आडम्बर), अरंड् (एरण्ड), कंचन् (कञ्चन), घंटा (घण्ट)।

स्वतः अनुनासिकता

(१४) आ० भा० आ० भा० में स्वतः अनुनासिकता की प्रवृत्ति विद्यमान है। इसका अभिप्राय यह है कि ऐसे शब्द कि जिन के मूल प्रा० भा० आ० भा० के शब्दों में अनुनासिकता का अभाव है आ० भा० आ० भा० में अनुनासिक हो गए हैं, यथा :—सं० श्वास→हरि० सांस्, सं० ओष्ठ→हरि० हौट्। इस स्वतः अनुनासिकता की प्रवृत्ति के इतिहास पर ध्यान देने से विदित होता है कि यह प्रवृत्ति म० भा० आ० भा० से ही आ० भा० आ० भा० में आई है। प्राकृ० में सं० जल्पति→जम्पइ हो गया था।

स्वतः अनुनासिकता के सम्बन्ध में कई एक विद्वानों ने विचार व्यक्त किया है कि संस्कृत के संयुक्त व्यंजनों को समीकरण द्वारा सरल बनाते समय म० भा० आ० भा० में अनुनासिकता की प्रवृत्ति स्वयं चली आई है। परन्तु डॉ० चैटर्जी इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि म० भा० आ० भा० में प्रादेशिक उच्चारण की विशेषता के कारण स्वतः अनुनासिकता आ गई है। प्राकृ० में 'जल्पति' के लिए 'जम्पइ' और 'जप्पइ' तथा 'दर्शन' के लिए 'दंसण' और 'दस्सण' दोनों रूप मिलते हैं।^१ इस का अभिप्राय यह हुआ कि प्राकृ० की जिस शाखा में अलिजिह्व को नीचे मुका कर बोलने की प्रवृत्ति थी, वहां अनुनासिकता स्वयं चली आई और दूसरी जगह निरनुनासिक रूप ही प्रचलित रहा। म० भा० आ० भा० की भांति आ० भा० आ० भा० में भी एक ही मूल शब्द के सानुनासिक और निरनुनासिक दोनों रूप मिलते हैं, यथा :—हरि० में 'पां' सं० 'पाद' है तो बंगला में 'पा' रूप मिलता है। इसी प्रकार बंगला में 'पूथि' शब्द है तो हरि० में 'पोत्थी' (सं० पुस्तक) है। अतः हम कह सकते हैं कि डा० चैटर्जी का मत पूर्णतः युक्तियुक्त है और आ० भा० आ० भा० की स्वतः अनुनासिकता म० भा० आ० भा० के प्रादेशिक उच्चारण पद्धति की ही देन है।

१. उ० ना० ति०; हि० भा० उ० और वि० पृ० ३५१ से उद्धृत।

(१५) हरि० में स्वतः अनुनासिकता के पर्याप्त उदाहरण विद्यमान हैं। कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

हरि०	सं०	हरि०	सं०
सांप्	सर्प	सराई	शराव
सर्भंगी	सर्वभन्नी	सांस्	श्वास
हॉंसी	हास्य	होंट्	ओष्ठ
ओंझू	अश्रु	इच्छ्या	इच्छा
उकूडू	कुक्कुट	उंट्	उष्ट्र

दो एक उदाहरण प्राक० के देखिए :—

हरि० हांक्←प्राक० हक्क, हरि० अडांस्←प्राक० उड्डास।

(१६) आ० भा० मा० भा० में जैसे स्वतः अनुनासिकता की प्रवृत्ति पाई जाती है, वैसे ही यहाँ कई-एक स्थानों पर परम्परागत अनुनासिक ध्वनि का लोप भी पाया जाता है। हरि० में अनुनासिक ध्वनि के लोप के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

सं० सिंही→हरि० सीईणी, सं० विंशति→हरि० बीस्,
 सं० ✓लुण्ट्→हरि० ✓लूट्, सं० उपालम्भनम्→हरि० हुलाणा,
 सं० कांस्यिके→हरि० कसेरा, सं० गन्दिनल→हरि० गाधूला।

अनुनासिकता के अन्य कारण

(१७) हरि० में अनुनासिक ध्वनियों ने अपने सहगामी स्वरों को भी अनुनासिक बना दिया है, यथा :—आठमां, सातमां, नां, कंचनीं।

(२) ध्वनि-विपर्यय से यथा—सं० लगण्ड→प्राक० लगंड→हरि० लंगडा, सं० कांकडुक→प्राक० कंकडुअ→हरि० कड़कू,
 सं० चिह्न→हरि० चिंधी।

(३) प्रा० भा० आ० भा० के -म्- से यथा सं० आम्र→हरि० आंव्,
 सं० अष्टमी→हरि० आट्ठे, सं० कुमार→हरि० कुआंरा, सं० गोधूम→हरि० गीहूँ, सं० आमलक→हरि० आवला, सं० भ्रमर→हरि० भंवर।

सातवां अध्याय

७-स्वरागम, स्वरभक्ति या विप्रकर्ष

(१) मानव की स्वाभाविक रुचि उसे उच्चारण में मुख-सुविधा की ओर अग्रसर करती है। जब कोई प्रादेशिक भाषा अपनी पूर्वज साहित्यिक भाषा का सहारा लेकर अपने स्वरूप का विकास करने लगती है तब उस भाषा के तत्सम शब्दों को अपनी प्रकृति के अनुकूल ढालने के लिए वह अधिकांशतः स्वरागम की ओर अग्रसर होती है। उदाहरणार्थ प्रा. भा. आ. भा. (संस्कृत) की संयुक्त व्यंजन पद्धति पंजाबी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। इस लिए इस भाषा में संस्कृत का जो भी तत्सम शब्द लिया जाएगा उसे भाषा की प्रकृति के अनुकूल ढाल कर ही लिया जाएगा। दूसरे शब्दों में पंजाबी संस्कृत के व्यंजनों को वियुक्त बना कर ग्रहण करती है, अर्थात् यहां प्रत्येक व्यंजन को स्वर प्रदान कर दिया जाता है, यथा सं० स्पष्ट→पंजाबी सपसट् होगा। भाषाओं की उक्त प्रवृत्ति अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक व्याकरण में इसे स्वरभक्ति और प्राकृत व्याकरण में विप्रकर्ष का नाम दिया गया है। आजकल कुछ लेखकों ने इसे स्वरागम कहा है। हरियाणवी में इसके उदाहरण पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं।

आदि-स्वरागम

(२) प्राकृत में आदि स्वरागम के बहुत ही न्यून उदाहरण मिलते हैं, यथा—
प्राक० इत्थी←इत्थी←सं० स्त्री (पिशल १५१) तथा प्राक० उम्हयति←उस्मयते←सं० स्मयते। हरियाणवी में तत्सम शब्दों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप आदि स्वरागम के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं, यथा—

हरि० असन्नान् (हरि० तद्भव न्हाण्)→सं० स्नान

हरि० अस्लोक् (हरि० तद्भव सो ल्हा)→सं० श्लोक

हरि० इस्तरी←सं० स्त्री, हरि० अस्तूती→सं० स्तुति।

विदेशी शब्दों को हरियाणवी में ग्रहण करते समय भी उक्त प्रवृत्ति कार्य-रत रहती है—

अं० स्टेशन→हरि० तद्भव टेस्सण या स्वरागम युक्त असटेसण्

अं० स्टैंड→हरि० असट्दाम् या असटेंड (मोटर अड्डा)

अं० स्टैंप्→असट्दाम्

अं० स्कूल→सकूल या असकूल

मध्य-स्वरागम

(१३) हरियाणवी में 'अ' के मध्यागम के उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

हरि०	सं०	हरि०	सं०
चिलत्तर्	चरित्र	भरम्	भ्रम
जतन्	यत्न	मरम्	मर्म
जलम्	जन्म	पूरब्	पूर्व
वरत्	व्रत	वरज्	वर्ज
बजर्	वज्र	विघन्	विघ्न

इस प्रकार विदेशी शब्दों में भी 'अ' का मध्यागम हुआ है :—

हरि०	फा०	हरि०	फा०
जपत्	जुब्	जिकर	जिक्क
अकल्	अक्कल	वखत्	वक्कत

(१४) हरियाणवी में 'इ' का मध्यागम अपेक्षाकृत कम हुआ है। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

हरि० सिरि←सं० श्री, हरि० किरिया←सं० क्रिया,
हरि० गिलाण्←सं० ग्लानि ।

आठवां अध्याय

हरियाणवी स्वरों की उत्पत्ति

१. आधुनिक हरियाणवी 'अ' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है:—

(१) प्रा० भा० आ० भा० के 'अ' से, यथा :—

अर्ली ← सं० अर्गला, अमोल् ← सं० अमूल्य, ककोड़ा ← सं० कर्कोट,
घड़िया ← सं० घटिका, जद् ← सं० यदा, जग् ← सं० यज्ञ, जम् ←
सं० यम, तला ← सं० तड़ाग्, थलो ← सं० स्थली, धन् ← सं० धन्य ।

(२) स्वराघात के अभाव में प्रा० भा० आ० भा० के 'आ' से यथा :—

कडक् ← सं० काङ्कटुक, कट्पुतली ← सं० काष्ठ-पुतलिका,
कपास् ← सं० कार्पास, जमाई ← सं० जामात, लंगूर ← सं०
लाङ्गूलिन्, नगाँद् ← सं० ननाँद, नराण ← सं० नारायण, दर् ←
सं० द्वार, भंडार् ← सं० भाण्डागार, भट्टा ← सं० भ्राष्ट्र, अटंवर ←
सं० आडम्बर, अदेस् ← सं० आदेश, अल्कस् ← सं० आलस्यक ।

(३) प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत के 'इ', 'ई' से, यथा :—

काँतक् ← सं० कार्तिक, गहरा ← सं० गभीर, गुआँल्लण् ← सं०
गोपालिनी, टटीरी ← सं० टिट्ठिभि, निमत् ← सं० निमित्त,
तीत्तर ← सं० तित्तिरि, दक्खण् ← सं० दक्षिण, दन् ← सं० दिन,
पूनम् ← सं० पूर्णिमा, बुलध् ← सं० बलीवद्, मंघ्सर् ← सं०
मार्गशिर ।

(४) प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) के 'उ', 'ऊ' से यथा :—

काँब्बर ← सं० कर्बुरित, करूप ← सं० कुरूप, कूक्कड् ← कुक्कुट,
कुटम् ← कुटुम्ब, गूँगाल् ← सं० गुग्गुलु, गरह ← सं० गुरु, चौत्तर ← सं०
चतुर, मीँडडक् ← सं० मंडूक, माणस् ← सं० मानुष ।

(५) म० आ० आ० भा० (प्राकृत) के 'उ' से यथा :—

अड़ांस् ← प्राकृत उड्ढास ।

(६) प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) के 'ऋ' से यथा :—

जम्हाई ← सं० जृम्भा, √वध् ← सं० √वृध् ।

- (७) प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) के 'ए' से, यथा :—
अरंड् ← सं० एरण्ड, सहल् ← सं० सहेल ।
- (८) सं० 'औ' से यथा :—
चमोल्ला ← सं० चौवोल ।
- (९) स्वरागम के कारण, यथा :—
जनम् ← सं० जन्म, जतन् ← सं० यत्न, इंदर् ← सं० इन्द्र,
कारज् ← सं० कार्य ।
२. आधुनिक हरियाणवी 'आ' की उत्पत्ति निम्नलिखित स्रोतों से हुई है :—
- (१) आदि में स्वराघात के कारण 'अ' से, यथा :—
जाप् ← सं० जप, माम्ता ← सं० ममता, लाक्ड़ी ← सं० लकुट,
चौतर ← सं० चतुर ।
- (२) संयुक्त व्यंजनों के पूर्ववर्ती 'अ' से, यथा :—
आंगण ← सं० अङ्गण, आंग्ली ← सं० अङ्गुल, आंझू ← सं०
अश्रु, आँखर ← सं० अक्षर, काख् ← सं० कक्षा ।
- (३) दो व्यंजनों से पूर्ववर्ती 'ऋ' से यथा :—
कान्ह ← सं० कृष्ण, नाच् ← सं० नृत्य, माँही ← सं० मृत्तिका ।
- (४) संस्कृत 'आ' से यथा :—
आप्णा ← सं० आत्मनः, काज् ← सं० कार्य, कुहाड़ा ← कुठार,
गाहक् ← सं० ग्राहक ।
- (५) प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) के 'ओ' से भी 'आ' बनने का एक उदाहरण दिखाई दिया है : ना ← सं० नौ ।
- (६) संस्कृत अ + आ या अ + अ से, यथा :—
कुठार ← सं० कोष्ठागार, दिवाली ← दीपावलि, भंडार् ← सं०
भाण्डागार ।
- (७) प्राकृ० अ + आ या आ + आ से, यथा :—
भंडार् ← प्राकृ० भंडाआर्, साँझी ← प्राकृ० स-आञ्जिअ,
सुनार् ← प्राकृ० सुण्ण-आर, बरात् ← प्राकृ० वर-आत ।
३. आधुनिक हरियाणवी में 'इ' के उद्गम-स्रोत निम्नलिखित हैं :—
- (१) प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) की 'इ' से, यथा :—
इत् ← सं० इतः, इंदर ← सं० इन्द्र, किराड् ← सं० किरात,

ध्वनि विचार

खडिआ←सं० खटिका, √खिज्←सं० खिद्, घडिआ←सं० घटिका,
चिक्का←सं० चिक्कण, नित्←सं० नित्य, निमत्←सं० निमित्त,
तिकूण←सं० त्रिकोण, भिच्छा←सं० भिक्षा ।

(२) प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) 'ई', यथा :—

इसा←सं० ईदृश, इस्सर←सं० ईश्वर, किसान←सं० कीदृश,
दिवाली←सं० दीपावलि ।

(३) प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) 'अ' से, यथा :—

किवाड्←सं० कपाट, छिआणवे←सं० षण्णवति, जित्←सं०
यत्र, निब्बे←सं० नवति, दिङ्गणा←सं० दक्षिणा, पिलंग्←सं०
पर्यङ्क्, पिङ्गतावा←सं० पश्चात्ताप, सिंभू←सं० शंभु, हिरण्←सं०
हरिण ।

(४) प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) का 'आ', यथा :—

जिसा←सं० यादृश, दिलहर्←सं० दारिद्र्य ।

(४क) स्वरागम द्वारा, यथा :—

गिलाण्←सं० ग्लानि ।

(५) संस्कृत 'उ' से यथा :—

√लिट्←सं० √लुठ्, सिवाँस्सण्←सं० सुवासिनी, पिरोह्त्←
सं० पुरोधस् ।

(६) संस्कृत 'ए' से, यथा :—

जिठाणी←सं० ज्येष्ठा, सिठाणी←सं० श्रेष्ठिनी, इक्का←सं० एकक,
इकहत्तर←सं० एकसप्तति, इक्सट्←सं० एकषष्टि ।

(७) संस्कृत 'ऋ' से यथा :—

तिएका←सं० तृण, तिस्←सं० तृषा, सिगार्←सं० शृङ्गार ।

४. आधुनिक हरियाणवी स्वर 'ई' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) के 'ई' से, यथा :—

कीड़ा←सं० कीट, कील्←सं० कीलिका, चीण←सं० चीन,
चीर्←सं० चीर, नीच्←सं० नीचस्, दीआ←सं० दीपक,
मीम्मर्←सं० धीवर, पीला←सं० पीत, पील्ह्←सं० पीलु,
सीम्←सीमा ।

(२) प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) के 'इ' से, यथा :—

चीत्तण्←सं० चित्रण, √जीम्←सं० √जिम्, टटीह्री←

सं० टिट्ठिभ, तीस् ← सं० त्रिशत्, पी^०ह्र ← सं० पितृगृह, जीभ् ← सं० जिह्वा, नीद् ← सं० निद्रा, नीव् ← सं० निम्ब, पी^०ट्टी ← सं० पिष्ट, पी^०तल् ← सं० पित्तल, ई^०धण् ← सं० इन्धन ।

(३) प्राकृ० के सम्पर्की स्वर इ-आ, और इ-अ से, यथा :—

कंठी ← प्राकृ० कंठिआ, कड्ढी ← प्राकृ० कडिआ, गौड्डी ← प्राकृ० गडिडिआ, घंटी ← प्राकृ० घंठिआ, चौरी ← प्राकृ० चउरिआ, पाणी ← प्राकृ० पाणिअ ।

(४) संस्कृत 'अ' से, यथा :—

रंधीण ← सं० रन्धन, मी^०ड्डक् ← सं० मंडूक ।

(५) अन्तिम व्यंजन के लोप के पश्चात् सं० 'अ' से यथा :—

पाली ← पालक, मूली ← मूलक ।

(६) संस्कृत 'ए' से, यथा :—

जी^०म्मण्वार ← सं० जेमनी, तीजा ← सं० त्रा, पी^०घ् ← सं० प्रेङ्खा, मी^०ह ← सं० मेघ ।

(७) संस्कृत 'ऐ' से, यथा :—

खीर् ← सं० क्षैरेयी ।

(८) संस्कृत 'ऋ' से यथा :—

गी^०ध् ← सं० गृध्र, घी ← घृत, तीज् ← सं० तृतीय, दो^०धी ← सं० दोग्ध, पी^०ट् ← सं० पृष्ठ, भाई ← सं० भ्रातृ, री^०छ् ← सं० ऋक्ष, ✓री^०म् ← सं० ✓ऋध्, सी^०ग् ← सं० शृंग ।

(९) संस्कृत 'ओ' से, यथा :—

गी^०ह् ← सं० गोधूम ।

—५. आधुनिक हरियाणवी के 'उ' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) के 'उ' से यथा :—

उकडू ← सं० कुक्कुट, उगाही ← सं० उद्ग्राह, उचौ^०ट्टी ← सं० उच्चाटन्, उज्मण् ← सं० उद्यापन, उजला ← सं० उज्ज्वल, उठाण् ← सं० उत्थान, कडुआ ← सं० कटुक, कुम्हार ← सं० कुम्भकार, कुटम् ← सं० कुटुम्ब, कुहाड़ा ← सं० कुठार, उक्कत् ← सं० युक्ति ।

(२) प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) के 'ऊ' से, यथा—

उएसट् ← सं० ऊनषष्ठि, उण^०हत्त् ← सं० ऊनसप्तति, जुआरी ← सं०

- द्यूतकारी, थूत्कारा←सं० थूत्कार, पुण्माँस्ती←सं० पूर्णमासी ।
- (३) प्राकृ० 'इ' से, यथा :—
 ✓बुभ् ← प्राकृ० विज्भा ।
- (४) प्राकृ० वकार से पूर्ववर्ती 'ए' से, यथा :—
 दुराणी←प्राकृ० देवराणी ।
- (५) प्राकृ० भा० आ० भा० (संस्कृत) के 'ऋ' से, यथा :—
 घुर्कड़ी←सं० गृहकुटी ।
- (६) संस्कृत 'व' से, यथा :—
 दुहँत्थड़←सं० द्विहस्तताड, सुसरा←सं० श्वसुर, दुआर←सं० द्वार,
 दुगणा←सं० द्विगुणित ।
- (७) संस्कृत 'अ' से यथा :—
 मुस् ←सं० मश, बुलध् ←सं० बलीवर्द ।
- (८) स्वरागम से : सुमरण ←सं० स्मरण ।
- (९) प्राकृ० 'ओ' से, यथा :—
 जुहार←प्राकृ० जोहार, बुहारी←प्राकृ० बोहारी ।
- (१०) संस्कृत 'ओ' से, यथा :—
 गुआला←सं० गोपाल, गुहेरा←सं० गोघेर, लुहार←सं० लोहकार ।
- (११) सं० 'औ' से, यथा :—
 ✓डुक् ←सं० ✓ढौक् , सुख् ←सं० सौख्य, सुथ्रा←सं०सौस्थ्य ।
६. आधुनिक हरियाणवी के 'ऊ' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—
- (१) प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) के 'ऊ' से, यथा :—
 ऊन्←सं० ऊर्णा, ऊँस्सर् ← सं० ऊषर कूई←सं० कूपिका ।
- (२) संस्कृत के संयुक्त व्यञ्जनों से पूर्व मिलने वाले 'उ' से, यथा—
 गूँडा ←सं० अंगुष्ठ, ऊँच्चा←सं० उच्च, ऊँट् ← सं० उष्ट्र, ऊठ् ←
 सं० उत्थ, कूक्कड् ←सं० कुक्कुट, कूख्←सं० कुत्ति, कूबड़ा←सं०
 कुब्ज, गूँज्जर←सं० गुर्जर, चून्←सं० चूर्ण, दूँल्हा←दुर्लभ ।
- (३) सामान्य स्थिति में मिलने वाले संस्कृत 'उ' से भी, यथा :—
 ऊप्पर ←सं० उपरि ।
- (४) संस्कृत 'ऋ' से, यथा :—
 वूँज्भा←सं० वृज्भा, रूँख←वृत्त, वूँडढा←सं० वृद्ध ।

(५) संस्कृत 'व' से, यथा :—

दूणां←सं० द्विगुण, दूँज्जा←सं० द्वितीय, दूआ←सं० द्विक ।

(६) संस्कृत 'ओ' से, यथा :—

जूझण ←सं० योधन, जून् ←सं० योनि, कूण ←सं० कोण,
मसूँड्ठा←सं० मांसोन्दुक ।

७. आधुनिक हरियाणवी के 'ए' की उत्पत्ति निम्नलिखित से हुई है :—

(१) प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) के 'ए' से यथा :

अदेस् ←सं० आदेश, हेड़ी←सं० आखेटिक, क्लेस् ←सं० क्लेश,
खेत् ←सं० क्षेत्र, खेल्हणा←सं० खेलणक, गुहेरा←सं० गोधेर,
पसे←सं० प्रस्वेद, लेप्पड़←सं० लेपकृत ।

(२) संस्कृत 'ऐ' से, यथा :—

तेल् ←सं० तैल, सेज् ←सं० शैया ।

(३) प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) के 'अ' से, यथा :—

नेज्जू ←सं० रज्जु, केकड़ा←कर्कट, बेर् ←सं० वदर ।

(४) प्राकृ० 'अ' से, यथा : न्हेर्णा←सं० प्राकृ० एहरण ।

(५) संस्कृत 'इ', 'ई' से, यथा :—

के←सं० किम्, छेद् ←छिद्र, नेम←नियम, मेहसा←सं० मिश्र ।

(६) संस्कृत 'ऊ' से, यथा : नेवरी←सं० नूपुर ।

(७) संस्कृत 'य्', 'अय्', 'अयो' से, यथा :—

ए←सं० अयि, कल्लेवार्←सं० कल्यवत्, घेवर् ←सं० घृतपूर,
तरेसद्←सं० त्रयषष्टि, तेरस्←सं० त्रयोदशी ।

८. आधुनिक हरियाणवी 'ऐ', की उत्पत्ति निम्नलिखित से हुई है :—

(१) प्राकृ० भा० आ० भा० (संस्कृत) के 'ए' से, यथा :—

आँगें←सं० अग्ने, रें←सं० अरे ।

(२) संस्कृत 'ऐ' से, यथा : बेर् ←सं० वैर, चेत् ←सं० चैत्र ।

(३) प्राकृ० अय्, अ इ यथा :—

खेर←प्राकृ० खइर, सें (यथा पान् सें-पांच सौ)←प्राकृ० सय,
चेत् ←प्राकृ० चइत्, छेल्←छइल्, नेण←प्राकृ० णयण,
वेंठ←प्राकृ० बइस, मेंना←प्राकृ० मयणा, वेंग्णण्←प्राकृ० बइंगण ।

(४) संस्कृत अ-ई से, यथा :

ठाणवें←सं० अष्टानवति, आट्ठें←सं० अष्टमी ।

(५) संस्कृत 'अ' से, यथा : गेद् ← सं० कन्दुक ।

६. आधुनिक हरियाणवी के 'ओ' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) संस्कृत 'ओ' से, यथा :

ओङ् ← सं० ओङ्, कोट्टा ← सं० कोष्ठ, फोड़ा ← सं० स्फोट,
गोत् ← सं० गोत्र ।

(२) संस्कृत 'औ' से यथा :—

गोरा ← सं० गौर, चोर् ← सं० चौर ।

(३) संस्कृत 'अ' से, यथा :

ओल्लक् ← सं० अलक्ष्य, ओहो ← सं० अहो, छोड्डण ← सं० छर्दन ।

(४) प्राकृ० अ-उ से, यथा :—

चोक्खट् ← प्राकृ० चउखट्टी, चोक् ← प्रा० चउक्क, चोङ्गणं ← प्राकृ०
चउगुण, चोथ् ← प्राकृ० चउत्थ ।

(५) संस्कृत 'अव' से, यथा :—

मोस् ← सं० अमावस्या, ओङ्गण ← सं० अवगुण, ओस्रा ← सं०
अवसर, नो ← सं० नव ।

(६) संस्कृत 'अप' से, यथा :—

ओर् ← सं० अपर, ओवरी ← सं० अपवारिका ।

नौवां अध्याय

हरियाणवी में प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के व्यंजनों के परिवर्तन सम्बन्धी सामान्य नियम ।

१. प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के ध्वनितत्त्व के विकास पर विभिन्न प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानों ने प्रकाश डाला है^१ । आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के स्वरूप को समझने के लिए इस इतिहास-क्रम पर कम से कम विहंगम दृष्टिपात नितान्त आवश्यक है । संक्षेप में यह इस प्रकार है :—

(१) पालि में पदान्त हल का लोप हो गया ।

(२) आदि व्यंजन सामान्यतः अपरिवर्तित रहे ।

(३) प्राकृत-काल में स्वर मध्यवर्ती क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, और प् का सामान्यतः लोप हो गया । इस प्रकार शेष बचने वाले सम्पर्की स्वरों के मध्य कुछ काल के पश्चात् 'य्' और 'व्' श्रुतियों का समावेश कर लिया गया अथवा मुख-सुविधा के अनुसार उन स्वरों में सन्धि हो गई ।

(४) हकार ध्वनियुक्त व्यंजनों (अर्थात् महाप्राण स्पर्श) में केवल 'ह' की ध्वनि शेष रह गई ।

(५) संयुक्त व्यंजनों को सामान्यतः समीकरण द्वारा अथवा मध्य स्वरा-गम द्वारा सरल बना लिया गया ।

उक्त इतिहासक्रम का उल्लेख किञ्चित् विस्तार के साथ यथा-स्थान भी किया गया है । हरियाणवी व्यंजनों के लिए देखिए (१. १. २ ख)

आदि एक व्यंजन

(क) स्पर्श व्यंजन

२. हरियाणवी में प्रा० भा० आ० भा० का आदि एक स्पर्श व्यंजन सामान्यतः अपरिवर्तित रूप में पाया जाता है, तथापि निम्नलिखित परिवर्तन द्रष्टव्य हैं :—

१. प्रा० भा० आ० भा० के ध्वनितत्त्व तथा इसके क्रमिक विस्तार पर वीम् से लेकर भंडारकर ने पूर्णरूप से विचार किया है ।

(१) दन्त्य ड्→मूर्धन्य ड्, यथा—

दण्ड→डंडा, दंशक→डांस्, दर्भ→डाभ्, दाह→डाह् ।

(२) 'ह' ध्वनि का आगम अत्यन्त स्वाभाविक है :—

सं० कर्पर→हरि० खप्पर्, सं० कास→हरि० खाँस्सी,

सं० चालनी→हरि० छाल्णी, सं० बस→हरि० भुस् ।

(३) कई एक महाप्राण व्यंजनों में केवल 'ह' ध्वनि शेष रह गई है और कई एक अन्य स्थानों पर मध्यवर्ती महाप्राण व्यंजन का 'ह' वर्ण-विपर्यय द्वारा आदि में पाया जाता है और इसी प्रकार आदि का 'ह' मध्य में पहुँच गया है, यथा :—

सं०✓भव→हरि०✓हो, सं० लघुक→हरि० हलुआ,

प्राकृ० घरट्ट→हरि० रहट् ।

(४) कई एक स्थानों पर तालव्यीकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण 'य्' का आगम पाया जाता है (विशेष विवरण के लिए देखिए १.१०.५०) ।

(ख) अनुनासिक

३. प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) में केवल 'न्' और 'म्' अनुनासिक ही आदि अवस्था में पाए जाते हैं परन्तु प्राकृत काल में आदि 'न्' को भी 'ण्' में परिवर्तित कर दिया गया । अपभ्रंश काल में आदि 'न्' तथा 'ण्' के सम्बन्ध में विद्वानों में गहरा मतभेद है । डा० तगरे के अनुसार पश्चिमी अपभ्रंश में आदि 'न्' की संभावना की जा सकती है परन्तु शौरसेनी को उपलब्ध कृतियों में आदि 'ण्' ही मिलता है । हरियाणा प्रदेश की मध्यकालीन भाषाओं (प्राकृत तथा अपभ्रंश) में आदि 'न्' अथवा 'ण्' की स्थिति कुछ भी रही हो परन्तु आधुनिक हरियाणवी में अन्य भारतीय आ० भा० को भांति केवल 'न्' और 'म्' अनुनासिक ही आदि अवस्था में मिलते हैं । इन परम्परागत अनुनासिक ध्वनियों में सामान्यतः कोई परिवर्तन नहीं हुआ तथापि प्रा० भा० आ० भा० का 'न्' यत्र-तत्र हरियाणवी के 'ल्' में परिवर्तित हो गया है, यथा हिं० निकलना→हरि०✓लिकड् ←नि- ।)

(ग) अर्द्ध-स्वर 'य्' और 'व्'

४. हरियाणवी में अर्द्ध-स्वर 'य्' और 'व्' का कोई विशेष महत्त्व नहीं है । प्रा० भा० आ० भा० के 'य्' और 'व्' क्रमशः 'ज्' और 'व्' में बदल जाते हैं । यह स्थिति अपभ्रंश काल से भी बहुत पूर्व हो चुकी थी । महाप्राणत्व के कारण हरियाणवी में कहीं कहीं 'व्' को 'भ्' रूप में भी बदल दिया गया है, यथा—
वरटा←हरि० भिरड्, सं०✓वर्धय्←हरि० भडार् ।

१. गो० वा० त० : हि० प्र० अप० ४९ (a).

२. वही पृष्ठ ७४-७५.

(घ) 'र्' तथा 'ल्'

५. भारतीय आर्य भाषाओं में 'र्' और 'ल्' के पारस्परिक व्यत्यय के उदाहरण आरम्भिक काल से ही पाए जाते हैं। हरियाणवी में भी इस परम्परागत विशेषता के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं, यथा—सं० रुक्त्—हरि० ल्हूवखा। कहीं र् ← ल् तथा न् दोनों रूपों में पाया जाता है, यथा—सं० रज्जु—प्राकृ० लज्जु—हरि० नेज्जु। ल् ← न् की प्रवृत्ति भी भारतीय भाषाओं में साधारणतया प्रचलित रही और हरियाणवी में भी इसके पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं, यथा—सं० लवण—नूण। इसके अतिरिक्त 'ल्' के साथ 'ह्' ध्वनि का आगम भी अनेक स्थानों पर मिलता है, यथा—

सं० लशुन—हरि० ल्हसण, सं० लालसा—हरि० ल्हाल्सा, सं० लेप्या—ल्हेफ्, प्राकृ० लिक्खा—ल्हीख्।

(ङ) शिन ध्वनि

६. प्रा० भा० आ० भा० की शिन ध्वनि (श्, ष्, स्) हरियाणवी में केवल 'स्' के रूप में विद्यमान है। आदि 'ष' केवल गिनतियों में, 'छ' के रूप में भी परिवर्तित पाया जाता है, यथा—सं० षष्—हरि० छे, सं० षटक—छिक्का।

आन्ध्रन्तरिक अर्थात् स्वर-मध्यवर्ती व्यंजन

७. हम ऊपर देख चुके हैं कि प्रा० भा० आ० भा० का आदि एक व्यंजन प्रायः अपरिवर्तित रूप में चला आ रहा है। इसके विपरीत प्रा० भा० आ० भा० के स्वर मध्यवर्ती सभी व्यंजन म० भा० आ० भा० में सुरक्षित नहीं रह सके। इन में कुछ व्यंजनों का या तो लोप हो गया या वे परिवर्तित हो गए। पालि में स्वर-मध्यवर्ती अघोष व्यंजन सघोष के रूप में और महाप्राण व्यंजन प्रायः ह्कार के रूप में मिलते हैं। इसी प्रकार सघोष के स्थान पर अघोष और महाप्राण के लिए अल्पप्राण भी पालि में यत्र-तत्र मिल ही जाते हैं^१। मुख्य प्राकृतों में शब्द के मध्य में प्रयुक्त 'क्', 'ग्', 'ज्', 'त्', 'द्', 'प्', 'ब्', 'य्', 'व्', का प्रायः लोप हो जाता है^२। (क-ग-च-ज-त-द-प-य-व प्रायोलोप। प्रा० प्रा० सूत्र २ प्रा० व्या० सूत्र १७७)।

इसी सम्बन्ध में श्री तगरे लिखते हैं कि प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार स्वर मध्यवर्ती स्पश अल्प व्यंजन महाप्राण व्यंजनों में बदल जाते हैं, अर्थात् क्, त्, प्—क्रमशः ग्, द्, ब् और ख्, थ्, फ् क्रमशः घ्, ध्, भ् हो जाते हैं। परन्तु साहित्यिक अपभ्रंश में स्वर-मध्यवर्ती, क्, ग्, च्, ज्, त्, द्, (और-प्-भी) लुप्त हो जाते हैं। क्, च् और त् कहीं २ महाप्राण व्यंजनों में बदल जाते हैं

१. डा० स० प्र० अ० : प्रा० वि० पृ० १०२-३।

२. वही पृ० १०४।

और इसी प्रकार कहीं कहीं 'प्', 'व्' हो जाता है। अपभ्रंश कालीन लेखक क्, च्, त् के स्थान पर ग्, ज्, द् का प्रयोग करने की बजाय या तो इनका लोप कर देते हैं या इनके स्थान पर श्रुतियों का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार स्वर-मध्यवर्ती घोष व्यंजन (ख्, घ्, थ्, ध् और भ्) सामान्यतः 'ह्' में बदल जाते हैं। अल्प-प्राण घोष व्यंजन कहीं २ महाप्राण घोष व्यंजनों में बदलते हैं। इसे किसी प्राचीन अवस्था का अवशिष्ट अंश मात्र कहा जा सकता है।^१

८. हरियाणवी में प्रा० भा० आ० भा० के स्वर-मध्यवर्ती स्पर्श व्यंजन की प्राकृत तथा अपभ्रंश कालीन परिवर्तन प्रवृत्ति प्रायः उसी रूप में मिलती है। इसे संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है कि :—

(१) प्रा० भा० आ० भा० के -क्-, -ग्-, -च्-, -ज्-, -त्-, -द्-, -प्-, -व्- और अर्द्ध-स्वर -य्-, -व्- सामान्यतः लुप्त हो गए। तो मी अल्प-प्राण -क्- कहीं कहीं महाप्राण -ग्- और अल्प-प्राण 'प्' महाप्राण 'व्' तथा घोष व्यंजन -भ्- और अनुनासिक -म्- में परिवर्तित दिखाई देता है। प्रा० भा० आ० भा० का -ट्- या तो सुरक्षित रहा है या ड या ढ में बदल गया है। इसी प्रकार प्रा० भा० आ० भा० का 'ड्' या तो लुप्त हो गया है या अल्प-प्राण व्यंजन 'ट्' अथवा घोष व्यंजन 'ढ' में बदल गया है।

(२) प्रा० भा० आ० भा० के घोष व्यंजन -ख्-, -ठ्-, थ्-, -ध्- तथा -भ्- प्रायः 'ह्' में परिणत हो गए हैं। घोष व्यंजन -छ्-, -झ्-, -ढ्- तथा -फ्- सुरक्षित रहे हैं। -ख्- का कहीं २ लोप भी हो गया है। कई एक अन्य व्यंजनों में पारस्परिक व्यत्यय के उदाहरण भी यत्र-तत्र मिल ही जाते हैं।

(३) अनुनासिकों में प्रा० भा० आ० भा० का -ण्- पूर्णतः सुरक्षित और अपरिवर्तित रहा है। -न्- सामान्यतः -ण्- में बदल गया है। -म्- सामान्यतः सुरक्षित रहा है, पर कहीं २ -वं- और (हरियाणवी में) 'व्' का लोप होने पर -अं- या -आं- के रूप में परिवर्तित मिलता है।

(४) स्वर मध्यवर्ती शिन-ध्वनि केवल 'स्' के रूप में विद्यमान है। -श्- प्राकृतों में -ह्- के रूप में मिलता है परन्तु हरियाणवी तक पहुँचते पहुँचते इस 'ह्' का या तो लोप हो चुका है या वह लुप्त होने की प्रक्रिया में है। प्रा० भा० आ० भा० के -स्- का -ह्- हरियाणवी में अभी तक पूरी तरह विद्यमान है।

(५) प्रा० भा० आ० भा० का स्वर मध्यवर्ती -ह्- हरियाणवी में पूरी तरह सुरक्षित है।

(६) प्रा० भा० आ० भा० का स्वर मध्यवर्ती -र्- सामान्यतः सुरक्षित रहा है तथापि कहीं २ इसका परिवर्तन ल्, ल् तथा 'ड्' के रूप में भी हुआ है (यथा

सं० एकचत्वारिंशत् → हरि० इक्तालीस्, सं० कुठार → हरि० कुहाड़ा-ड़ी) ।

(७) इसी प्रकार प्रा० भा० आ० भा० का -ल- → दन्त्य ल् अथवा मूर्धन्य 'ल्' के रूप में सुरक्षित रहा है ।

६. ऊपर ८ के कम से कम (१) तथा (२) के अन्तर्गत निर्दिष्ट परिवर्तनों पर कुछ विस्तार पूर्वक विवेचन अपेक्षित प्रतीत होता है । हरियाणवी में प्रा० भा० आ० भा० के स्वर-मध्यवर्ती अल्प-प्राण स्पर्श व्यंजन -क्-, -ग्-, -च्-, -ज्-, -ट्-, -ड्-, -त्-, -द्ध- तथा -प्- की स्थिति निम्न-लिखित रूप से पाई जाती है :—

(१) प्रा० भा० आ० भा० का -क्- :—

(क) सं० -क्- ← हरि० -०-

सं० कांचिक → हरि० कांजी, सं० कण्टकिल ← हरि० कंटौल्ला,

सं० कर्मिकार → हरि० कनेर, सं० कथानक ← हरि० काँहणी ।

(ख) सं० -क्- ← हरि० -ग्- :—

सं० एकादशी ← हरि० ग्यास्, सं० काक → हरि० काँगगा,

सं० एकादशन् ← हरि० ग्यारा ।

(ग) सं० -क्- → हरि० -क्-, अर्थात् 'क्' सुरक्षित है :—

सं० कर्कटिका → हरि० काक्ड़ी, सं० अवकाश → हरि० उकास्,

सं० एकलः → हरि० कल्ला, सं० एकचत्वारिंशत् → हरि०

इक्तालीस् ।

(२) प्रा० भा० आ० भा० का -ग्- :—

(क) सं० -ग्- → हरि० -०- :—

सं० कोष्ठागार → हरि० कुठार, सं० भगिनी → हरि० भाण

सं० भागिनेय → हरि० भाण्जा ।

(ख) सं० -ग्- → हरि० -ग्- या -ग्ग-

सं० अवगुण → हरि० ओगण, सं० उज्जागरक → हरि०

जौगर्, सं० संयोग → हरि० संजोग्, सं० द्विगुण → हरि०

दुगणा ।

(ग) सं० में -ग्- के पश्चात् 'ह्' आने पर → हरि० -घ्-

सं० काष्ठगृह → हरि० कट्ठरा (विस्तृत स्थिति) ।

(३) प्रा० भा० आ० भा० का -च्- :—

(क) सं० -च्- → हरि० -०- :—

सं० ऊनचत्वारिंशत् → हरि० उम्तालीस्, सं० सं+✓रचय् →

✓समार्, सं० षट्त्वारिंशत् → हरि० छिआलीस्, सं०
सूचि → हरि० सूई ।

(ख) सं० -च्- → हरि० -च्-

सं० काच → हरि० कांच् या कंच्, सं० ✓वाचय् → हरि०
✓बांच् ।

(४) प्रा० भा० आ० भा० का -ज- :—

(क) सं० -ज्- → हरि० -०- :—

सं० राजपाटी → हरि० रिवाड़ी, सं० रजनी, हरि० रेंन्, राज-
पन्थ → रा या राह् ।

(ख) सं० -ज्- → हरि० -ज- :—

सं० बणिज → हरि० बणज्, सं० अजीर्ण → हरि० अजीरण ।

(५) प्रा० भा० आ० भा० का -द्- → हरि० -ड्- (सामान्य परिवर्तन) :—

(क) सं० आखेटिक → हरि० हेड़ी, सं० उद्- ✓घाट्य → हरि०

✓उघाड्, सं० कुक्कुट → हरि० उकड्ड, सं० काड्कटुक → हरि०

कड्कू, सं० कर्कोट → हरि० ककोड़ा, सं० कटुक → हरि० कडुआ ।

(ख) सं० -र्द्- → हरि० -ड्-

सं० कर्वट → हरि० कभड्डा ।

(ग) सं० -ट- → हरि० -ट्-

सं० कुटुम्ब → हरि० कुटम्, सं० कापटिक → हरि० कपटी ।

(घ) सं० -ट्- → हरि० ढ् (-ट्- के पश्चात् हो जाने से) सं० कटाह →
हरि० कढाई (विरल स्थिति) ।

(६) प्रा० भा० आ० भा० का -ड-

(क) सं० -ड्- → हरि० -ड्-

सं० कडंगर → हरि० -डांगर् ।

(ख) सं० -ड् → हरि० -ट्-

सं० आडम्बर → हरि० अटंबर, सं० आडम्बरिन् → हरि०
अटंबरी ।

(ग) सं० ड् → हरि० -ट्- :—

सं० ऋजु-जड् → हरि० उजड् ।

(घ) सं० ड् → हरि० ल् या ल् :—

सं० आलोड्य → हरि० ✓हिलोल् ।

(७) प्रा० भा० आ० भा० का -त्- :—

(क) सं० -त्- → हरि० -०- :— (सामान्य परिवर्तन)

सं० एकविंशति → हरि० इक्किस्, सं० उत्पतन → हरि० उफण्,
सं० एकाशीति → हरि० क्यॉस्सी ।

(ख) सं० -त्- → हरि० -त्-

सं० इतः → हरि० इत्, सं० कुतः → हरि० कित् ।

(ग) सं० -त्- → हरि० -ङ्- :

सं० किरात → हरि० किराङ् ।

(घ) सं० -त्- → हरि० -द्-

सं० अर्द्ध-तृतीय → हरि० ढाई ।

(८) प्रा० भा० आ० भा० का -द्- :—

(क) सं० -द्- → हरि० -०- (सामान्य स्थिति)

सं० अष्टादश → हरि० ठारा, सं० ईदृश → हरि० इसा,
सं० एकादशन् → हरि० ग्यारा, सं० कदर → हरि० कैर्,
सं० खदिर → हरि० खैर्, सं० उच्छादन → हरि० छान् ।

(ख) सं० -द्- → हरि० -द्- :

सं० आदेश → हरि० अदेस्, सं० इङ्गुदी → हरि० गूङ्गणी ।

(९) प्रा० भा० आ० भा० का -प्- :—

(क) सं० -प्- → हरि० -०- (सामान्य स्थिति) :

सं० अपर → हरि० अर्, सं० ऊनपंचाशत् → हरि० उणन्चस्, सं०
उपालम्भनम् → हरि० उल्हाणा या हुलाणा, सं० उपुत्र → हरि०
ऊत्, सं० कल्यपाल → हरि० कलाल्, सं० कूपः → हरि० कूआं,
सं० गोपाल → हरि० गुआला ।

(ख) सं० -प्- → हरि० -व्-

सं० अष्टपंचाशत् → हरि० ठावन्, सं० एकपंचाशत् → हरि०
क्यावन्, सं० कच्छपः → हरि० किछ्वा, सं० कपाट → हरि०
किवाड् ।

(ग) सं० -प्- → हरि० -ब्- (विरल स्थिति) :

सं० कपोत → हरि० कबूत्तर ।

(ङ) सं० -प्- → हरि० -म्- (विरलतम स्थिति) :

सं० उद्यापन → हरि० उज्मण् ।

१०. उपरि-लिखित अनुसार प्रा० भा० आ० भा० के स्वरमध्यवर्ती घोष व्यंजन ख्, ठ्, थ्, ध् और भ् का किंचित सविस्तर अध्ययन भी रोचक ही रहेगा :—

(१) प्रा० भा० आ० भा० का -ख्- :

(क) सं० -ख्- → हरि० -ह्-

सं० आखेटिक → हरि० हेड़ी, सं० मुख → हरि० मूह या मूं (इस दूसरे उदाहरण में 'ह्' लगभग लुप्त हो चुका है) अतः -ख्- -०-
सं० सुखायन → हरि० सुहावणी ।

(ख) सं० -ख्- → हरि० -ख्- या 'क्ख' :

सं० उदूखल → हरि० ऊँक्खल, सं० वैसाखः → हरि० वसाख् ।

(२) प्रा० भा० आ० भा० का -ठ्- :—

(क) सं० -ठ्- → हरि० -ह्-

सं० कुठार → हरि० कुहाड़ा ।

(ख) सं० -ठ्- → हरि० -ढ्- या 'ड्ढ' :

सं० √ लुठ् → हरि० √ लिढ्, सं० √ पठ् → हरि० √ पढ्,
सं० पीठ → हरि० पीड्डा ।

(ग) सं० -ठ्- → हरि० -ट्-

सं० √ लुठ् → हरि० √ लिट् ।

(३) प्रा० भा० आ० भा० का -थ्- :—

(क) सं० √ थ् → हरि० -ह्-

सं० √ कथय् → हरि० √ कह्, सं० कथानक → हरि० काँहणी,
सं० उन्माथ → हरि० उम्हा ।

(ख) सं० -थ्- → हरि० ड्ड्- :—

सं० क्वथ → हरि० काड्डा ।

(४) प्रा० भा० आ० भा० का -ध्- :—

(क) सं० ध्- → हरि० -ह्-

सं० गोधूम → हरि० गीहूं, सं० गोधेर → हरि० गुहेरा, सं० रुधिर →
हरि० लहू, सं० साधुकार → हरि० साहूकार ।

(ख) सं० -ध्- → हरि० -ध्-

सं० √ राध् → हरि० √ रांध् ।

(ग) सं० -ध्- → हरि० -भ्- :—

सं० √ ऋध् → हरि० √ रीभ्, सं० √ सिध् → हरि० √ सीभ् ।

(५) प्रा० भा० आ० भा० का -भ्- :—

(क) सं० -भ्- हरि० -ह्-

सं० आभीर→हरि० हीर, सं० गभीर→गह्रा, सं० क्षोभ→
हरि० क्षोह् ।

(ग) सं० -भ्- → हरि० -भ्-
सं० बुभुक्षा→हरि० भूख् ।

प्रा० भा० आ० भा० के संयुक्त व्यंजन

११. प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) में असंयुक्त व्यंजनों की संख्या तो निश्चित थी परन्तु संयुक्त व्यंजनों की संख्या वहां भी अनिश्चित रही। कोई भी दो व्यंजन- यहां तक कि कहीं २ तीन व्यंजन संयुक्त हो कर शब्द के आदि अथवा मध्य में आ जाते थे। आगे चल कर ऐसे रूपों के उच्चारण में असुविधा होने लगी। इस असुविधा ने सरलीकरण की प्रवृत्ति को जन्म दिया जिस के फलस्वरूप पालि तथा अन्य प्राकृत भाषाओं में संयुक्त व्यंजनों के स्थान पर इन का समीकृत रूप मिलता है अथवा इन भाषाओं में संयुक्त व्यंजनों में से किसी एक व्यंजन का परिवर्तन हो गया और फिर वर्ण-विपर्यय द्वारा उस का स्थान परिवर्तन भी हो गया। इस के अतिरिक्त संयुक्त व्यंजनों में से किसी एक व्यंजन का लोप हो गया या मध्य स्वरगम द्वारा उसे सरल बना लिया गया। इस प्रकार प्रा० भा० आ० भा० के संयुक्त व्यंजन आ० भा० आ० भा० तक पहुँचते २ प्रायः लुप्त हो गए। शुद्ध साहित्यिक भाषा हिन्दी के अतिरिक्त जिस में अधिकांश तत्सम शब्द ही प्रयुक्त होते हैं अन्य आ० भा० आ० भा० में संयुक्त व्यंजनों का प्रायः अभाव है और किसी आ० भा० आ० भा० में यदि कोई संयुक्त व्यंजन मिलता है तो भी वह प्रा० भा० आ० भा० के संयुक्त व्यंजन का प्रतिनिधि नहीं है, प्रत्युत वह वहां अपनी स्थानीय विशेषता के कारण विद्यमान है।

प्रा० भा० आ० भा० के संयुक्त व्यंजनों के क्रमिक विकास पर कई एक विद्वानों ने सविस्तर विवेचन प्रस्तुत किया है^१। अपभ्रंश काल में साधारणतया प्राकृत कालीन प्रवृत्ति^२ ही पाई जाती है। डा० तगरे ने कतिपय संयुक्त व्यंजनों का विवेचन केवल इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है कि प्रादेशिक अपभ्रंशों के स्वरूप का, अर्थात् उन के पारस्परिक सादृश्य अथवा वैषम्य का स्पष्टीकरण हो सके। (दे० हि० ग्र० अप० (६१-६५)।

हरियाणवी में प्रा० भा० आ० भा० के संयुक्त व्यंजनों के सामान्य परिवर्तनों पर संक्षिप्त विवेचन नीचे प्रस्तुत किया जाता है।

१. सु० कु० चै : इं ए० हि० पृष्ठ ७९-८३ और स० प्र० अ० प्रा० वि० पृष्ठ १११-१२६.

२. डा० तगरे हि० ग्र० अप० ६०।

१२. स्पर्श

- (१) स्पर्श + हकार ध्वनि रहित स्पर्श :— प्राकृ० में समीकरण द्वारा द्वित्व व्यंजन हो गया और हरियाणवी में प्राकृ० का द्वित्व व्यंजन एक व्यंजन में परिणत हो गया है और जहां पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ होने पर भी उच्चारणभेद से ह्रस्व बना रह गया है वहां यह द्वित्व व्यंजन इसी रूप में विद्यमान है, यथा :—सं० उत्पन्न→प्राकृ० उत्पञ्ज हरि० उपज्, परन्तु सं० उत्कल→प्राकृ० उत्कल→हरि० ओक्कल् ।
- (२) स्पर्श + हकार ध्वनियुक्त स्पर्श—प्राकृ० में समीकरण के समय द्वित्व व्यंजन के स्थान पर हकार- ध्वनि युक्त स्पर्श व्यंजन अर्थात् महाप्राण ने अपने साथ अल्पप्राण स्पर्श को ले लिया और हरियाणवी में आकर अल्पप्राण उड़ गया और केवल महाप्राण ध्वनि शेष रह गई । यथा—सं० उद्- ✓घाट्य् → प्राकृ० ✓उघाड् →हरि० ✓उघाड् ।
- (३) स्पर्श + अनुनासिक :—प्राकृत में ही इस के दो रूप विद्यमान हैं—
 (क) समीकरण द्वारा अनुनासिक का लोप और पूर्ववर्ती स्पर्श का द्वित्व, (ख) स्वरागम द्वारा सं० में संयुक्त व्यंजनों को वियुक्त कर लिया गया । फलस्वरूप हरि० में दोनों रूपों से विकसित दो रूप विद्यमान हैं यथा—सं० अग्नि→प्राकृ० अग्नि→हरि० आग् और सं० अग्नि→प्राकृ० अग्निणि→हरि० अगन् । प्राकृ० में जहां केवल एक रूप का ही विकास हुआ वहां हरि० में भी केवल एक ही रूप मिलेगा, यथा—आत्मन्→प्राकृ० अप्प→हरि० आप्पा । सं० -ज्- या -ज्व्- → प्राकृ० य् और ए हरि० य् तथा ए , यथा—सं० अज्ञानकः→प्राकृ० अयाणा→हरि० याणा, सं० आज्ञा→प्राकृ० आण→हरि० आण् ।
- (४) स्पर्श + य् :—
 (क) कण्ठ्य, तालव्य, मूर्द्धन्य तथा ओष्ठ्य + य् :—प्राकृत में समीकरण द्वारा 'य्' का लोप हो गया जिसके कारण अघोष व्यञ्जनों को द्वित्व हो गया और घोष व्यञ्जनों के साथ उसका सहगामी अघोष व्यंजन जा मिला । हरियाणवी में या तो एक व्यंजन मिलेगा या स्थिति ज्यों की त्यों मिलेगी जबकि पूर्ववर्ती दीर्घ होने वाले स्वर का उच्चारण ह्रस्व ही रह गया हो ।
 (ख) दन्त्य + य् :—प्राकृत में ये संयुक्त शब्द के आदि में च्-, छ्-, ज्-, झ्-, में और शब्द के मध्य सामान्यतः -च्च-, -च्छ्-, -ज्ज्-, -झ्- में बदल गये । हरियाणवी में आदि अवस्था में च्-, छ्-, ज्-,

-झ, ही मिलेगा और मध्य में अकेला च्, छ्, ज, झ या पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर के ह्रस्व उच्चारण की स्थिति में द्वित्व व्यंजन। प्राकृ० में ही कहीं कहीं -त्य्- और -ध्य्- क्रमशः -त- और -थ्- में भी बदले हैं। ऐसी स्थिति में हरियाणवी में केवल -त्- शेष रह गया है, यथा—सं० तथ्य्→प्राकृ० तत्थ्→हरि० तत्, सं० नित्य्→प्राकृ० नित्→हरि० निन्।

स्पर्श + र :—

प्राकृत में सामान्यतः 'र्' का समीकरण द्वारा लोप हो गया और मध्यवर्ती व्यंजन को द्वित्व हो गया। हरियाणवी में इस द्वित्व व्यंजन की स्थिति अन्य परम्परागत द्वित्व व्यंजनों की भान्ति समझनी चाहिए (दे० ऊपर (१), (२) आदि)।

शब्द के आदि में 'र्' का लोप प्राकृ० में ही हो गया था और 'र्' का सहवर्ती व्यंजन अकेला रह गया। हरि० में भी यही स्थिति ज्यों की त्यों विद्यमान है।

(६) स्पर्श + ल् :—

(क) आदि में स्वरागम द्वारा प्रायः शब्दों को वियुक्त कर लिया गया, यथा—सं० ग्लानि→प्राकृ० गिलाणि→हरि० गिलाण।

(ख) शब्द के मध्य दन्त्य व्यंजन—ल् को समीकरण द्वारा -ल्ल- हो गया है। हरि० में इसका एक -ल्ल- विद्यमान है। यथा सं० उत् + √लङ्घ् → प्राकृ० √उल्लंघ्→हरि० √उलांक्। अन्य स्थानों पर ल् का समीकरण हो गया है।

(७) स्पर्श + शिन् ध्वनि :—

शौरसेनी अपभ्रंश में आदि ल् →ख् और छ्- तथा मध्य -ज्ञ- →-क्ख्-, -च्छ्- में बदलता है। हरि० में भी यही स्थिति विद्यमान है। यथा—सं० क्षुरिका→हरि० क्षुरी, सं० क्षार→हरि० खार्, सं० क्षुधा→हरि० खुद्या, सं० क्षुत्ति→हरि० कूख्, सं० अक्षि→हरि० आंख्, सं० गोलुरक→हरि० गोखरू।

सं० -त्स्- और -त्श्- प्राकृत में -च्छ- में बदल गए थे। हरि० में अपनी प्रकृति के अनुकूल -छ्- तथा च्छ्- दोनों रूप मिलते हैं।

(८) स्पर्श + व् :—'व्' का समीकरण द्वारा लोप हो गया।

१३. अनुनासिक +

(१) अनुनासिक के अतिरिक्त अन्य व्यंजनों के पूर्व मिलने वाला

अनुनासिक प्राकृ० में ही पूर्ववर्ती स्वर के अनुस्वार के रूप में परिणत हो गया था। प्राकृ० की उक्त परम्परागत विशेषता हरियाणवी में विद्यमान है। हरि० में कहीं कहीं म्ब→-म्- के रूप में भी मिलता है। यथा सं० अम्बा→हरि० अम्ड़ी, सं० कुटुम्ब→हरि० कुटम्।

(२) अनुनासिक + अनुनासिक :—हरियाणवी में इनमें से एक अनुनासिक रह गया है अर्थात् -न्न्- → -न्-, एण्- → -ण्- तथा -म्म्- → -म्-।

१४. -य् + य्- → प्राकृ० ज्ज्- यथा हरि० -ज्- सं० शय्या→प्राकृ० सेज्जा→हरि० सेज्।

१५. र् + —

(१) र् + स्पर्श :—म० भा० आ० भा० में समीकरण द्वारा 'र्' का लोप हो गया और दूसरे व्यंजन को द्वित्व हो गया। हरि० में अपनी ह्रस्वीकृत उच्चारण वाले दीर्घ स्वर के साथ द्वित्व व्यंजन वाली प्रकृति के अनुसार इस द्वित्व व्यंजन के स्थान पर द्वित्व व्यंजन भी मिलता है और दीर्घ उच्चारण वाले दीर्घ स्वर के बाद एक व्यंजन मिलता है। तथापि प्राकृ० में दन्त्य व्यंजनों में कहीं कहीं ऐसे ऐसे उदाहरण भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं जहां 'र्' और दन्त्य के समीकरण के समय दन्त्य व्यंजन का उच्चारण मूर्धन्य हो गया और व्यंजन को द्वित्व हो गया। वस्तुतः यह मागधी की मूल विशेषता थी। प्राकृ० के इन रूपों का विकास भी हरि० में ऊपर लिखे अनुसार ही हुआ है।

(२) र् + अनुनासिक :—

जब हम यह देखते हैं कि हरियाणवी में विदेशी भाषा के अधिकांश शब्दों में मध्यवर्ती 'न्' के स्थान पर 'ण्' हो गया है तो हमें हरि० की मूलभूत प्रवृत्ति 'ण्' ध्वनि के अनुकूल दिखाई देती है। इससे सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इस ने कम से कम परम्परागत 'ण्' को सर्वथा सुरक्षित रखा होगा। परन्तु यह देख कर अत्यन्त आश्चर्य होता है कि सं० '-ण्-' → प्राकृ० -ण्- → हरि० '-न्-' के रूप में ही मिलता है। प्राकृ० में जहां -ण्- → -ण्- में बदल गया है अर्थात् मध्य स्वरागम द्वारा इन्हें वियुक्त कर लिया गया है, हरि० में केवल इन्हीं स्थानों पर -ण्- मिलेगा। चूंकि ऊर्न्, 'कान्', 'सुनार्' जैसी विस्तृत रूप से व्यवहार में आने वाली शब्दावली में ही सं० -ण्- → हरि० -न्- के रूप में पाया जाता है, इस लिए इसे अन्य भाषाओं का प्रभाव भी माना जा सकता है।

सं० -र्म्- → प्राकृ० स्म्- → हरि० -म्- ही मिलता है।

(३) -र् + य्- अर्थात् -र्य्- : प्राकृत में ही इसके तीन रूप विद्यमान हैं :—

(क) मध्य-स्वरागम द्वारा इन्हें वियुक्त कर लिया गया और -य्- को -ज्- में बदल दिया गया। हरि० में भी -रज्- के उदाहरण मिलेंगे।

(ख) समीकरण द्वारा -य्- का लोप हो गया और -र्- → -ल्- या -ल्ल्- में बदल गया। हरि० पिलंग्-सं० पर्यङ्क, हरि० पाल्थी-सं० पर्यस्तिका जैसे शब्दों में यही '-ल्-' विद्यमान है।

(ग) -र्य्- → -ज्ज- में बदल गया। आगे हरि० में यह विकास ह्रस्व उच्चारण वाले दीर्घ स्वरों के पूर्ववर्ती होने पर द्वित्व व्यंजन और दीर्घ स्वर के पूर्ववर्ती होने पर एक व्यंजन के रूप में हुआ है।

(४) -र्ल्- → -ल्ल्- → हरि० -ल्- या -ल्ल्-।

(५) -र्ध्- → व्व्- → हरि० व्।

(६) -र्श्- -र्ध्- → स्वरागम द्वारा वियुक्त हो गए या -र्स्- → हरि० -रस्-, -ल्- या -स्-, यथा वरस्-सं० वर्ष प्रा०, वरिस, वरसा, बर्खा-सं० वर्षा, प्रा० वरिसा, सर्सम्-सर्वप)।

(७) 'र्ह' के क्रमिक विकास को प्रकट करने वाला उदाहरण हरि० में नहीं मिल सका है।

१६. ल +

(१) ल् + स्पर्श → प्राकृ० में समीकरण द्वारा -ल्- का लोप और व्यंजन का द्वित्व → हरि० एक व्यंजन अथवा द्वित्व व्यंजन, यथा :—

सं० वल्ग → प्राकृ० वग्ग → हरि० ✓ बग् या ✓ विग्, सं० फाल्गुण → प्राकृ० फग्गुण → हरि० फॉग्गण।

(२) -ल्+म्- → प्राकृ० -स्म्- → हरि० -म्- यथा सं० गुल्म → प्राकृ० गुम्म → हरि० गूमडा।

(३) -ल्+य्- → प्रा० ल्ल् → हरि० -ल्- -ल्ल्- या -ल्ल्ह्- यथा :—

सं० कल्यपाल → प्राकृ० कल्लवाल → हरि० कलाल्, सं० कल्यवत् → प्राकृ० कल्लवत् → हरि० कल्लेवार, सं० कल्य → प्राकृ० कल्ल → हरि० काल्ल्।

(४) -ल्ल् → प्राकृ० -ल्ल् → हरि० ल्ह, यथा :—

सं० गल्ल → प्राकृ० गल्ल → हरि० गाल्ह्।

- (५) -ल्व-→प्राकृ० -ल्ल-→हरि० में इसका क्रमिक विकास दिखाने के लिए उदाहरण नहीं मिल सका।

१७. व्+य्- :—

- (१) आदि व्य- →प्राकृ० व्- →हरि० व्- यथा :—

सं० व्याकुल→प्राकृ० वाउल→हरि० वावला।

- (२) मध्य- व्य- → -व्व- →हरि० -व- परन्तु सं० भ्रातृव्य→हरि० भतीज्जा इसका अपवाद समझना चाहिए यहां प्राकृ० में ही -व्य्-→-ज्ज- हो गया था।

१८. शिन + ध्वनि :—

- (१) आदि में शिन+स्पर्श : प्राकृ० में समीकरण द्वारा शिन का लोप हो गया और अघोष व्यंजन के स्थान पर अकेला घोष व्यंजन रह गया। यही घोष व्यंजन हरि० में मिलता है। सं० स्कन्ध→प्राकृ० कंध→हरि० काँद्धा आदि इसके अपवाद हैं।

- (२) मध्य में शिन + स्पर्श :—प्राकृ० में समीकरण द्वारा शिन का लोप हो गया और घोष व्यंजन के साथ उसका सहगामी अघोष व्यंजन संयुक्त कर दिया गया। यथा—सं० शुष्क→प्राकृ० सुख→हरि० सूक्खा। प्राकृ० के ऐसे रूपों का विकास हरि० में अपनी मूलभूत प्रकृति के अनुकूल समझना चाहिए अर्थात् हरि० में ह्रस्व उच्चारण वाले दीर्घ स्वर के बाद संयुक्त व्यंजन ही रहता है।

- (३) -ष्ट- के स्थान पर प्राकृ० -दृ- ही मिलता है। यह रूप हरि० में तीन प्रकार से विकसित मिलता है :—

(क) -दृ- में से -दृ- रह गया और यह -ड्- में भी बदल गया, यथा—सं० एकषष्टि→प्राकृ० एगसट्टि→हरि० इक्सट्, सं० अष्टत्रिंशत्→प्राकृ० अट्टतीस→हरि० अड्तीस।

(ख) -दृ- में, से केवल -ठ- रह गया। यथा—सं० अष्टादश→प्राकृ० अट्टार→हरि० ठारा, ठारां, सं० अष्टत्रिंशत्→प्राकृ० अट्टतीस→हरि० अठ्तीस।

(ग) हरि० की अपनी मूलभूत प्रकृति के अनुसार यहां प्राकृत-कालीन -दृ- भी यत्र-तत्र रह गया है यथा—सं० अष्टमी→प्राकृ० अट्टमी→हरि० आँडम्।

(४) शिन + अनुनासिक :—

(क) -ण्- →प्राकृ० -ण्ह्- →हरि० -न्ह-

(ख) -स्- →प्राकृ० -स्ह्- →हरि० -न्ह-

(ग) -श्म्- षम्, स्म् →म्ह् हरि० म्ह् ।

(५) शिन + य् :—

(क) आदि अवस्था में स् ।

(ख) मध्य अवस्था में प्रा० में द्वित्व शिन ध्वनि और हरि० में अपनी मूल-भूत प्रकृति के अनुकूल इसका विकास सम्भना चाहिए अर्थात् प्राकृ० के द्वित्व व्यंजन से पूर्ववर्ती स्वर के दीर्घ होने पर एक व्यंजन और जब उस दीर्घ स्वर का उच्चारण ह्रस्व ही रह जाए तो हरि० में द्वित्व व्यंजन ही रहता है ।

(६) शिन + र् :—

(क) आदि में अकेला स्-

(ख) ऊपर ५ (ख) के अनुसार ।

(७) शिन + ल् :—

(क) आदि अवस्था में प्राकृ० में अकेला ल् →हरि० में-ल्ह् ।

(ख) ऊपर ५ (ख) के अनुसार ।

(८) शिन + व्

(क) आदि में अकेली शिन ध्वनि शेष रह गई ।

(ख) ऊपर ५ (ख) के अनुसार ।

१६. ह् + अनुनासिक : प्रा० भा० आ० भा० के -ह्ङ्-, -ह्व्- अथवा -हण्- के विकसित रूपों का अध्ययन करने के लिए हरि० में उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं । -हन्- प्राकृ० में ही 'ँध्' में विकसित हो गया था और यही रूप हरि० में मिलता है सं० चिह्न → प्राकृ० चिंघ → चिंघी ।

-ह्- → प्रा० म्ह- → हरि० म्ह्- या म्- । -म्- की स्थिति में सूक्ष्म सी ह्कार ध्वनि पूर्ववर्ती स्वर के साथ अवश्य सुनाई देगी जिसे औरस्य स्वर भी कहा जा सकता है, यथा—सं० ब्राह्मण → हरि० ब्राम्हण् और हरि० ब्राम्हण्, सं० ब्रह्मी → हरि० विर्ह्मी और विर्ह्मी ।

२०. विसर्ग + व्यंजन : इस स्थिति का निर्णय प्राकृ० में ही हो चुका था और समीकरण द्वारा विसर्ग का लोप और अगले व्यंजन को द्वित्व कर दिया जाता था । हरि० में यह द्वित्व व्यंजन के रूप में अथवा इसके स्थान पर इसका प्रतिनिधि व्यंजन मिलता है यथा—सं० निःवर्तन → प्राकृ० निव्वट्टण्, → निव्वतण् → हरि० निम्टण्, निव्डण् । प्राकृ० में एक स्थिति यह भी मिलती है कि विसर्गों के लोप के साथ पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर दिया गया है, परन्तु स्वराघात के अभाव में हरि० में यह

फिर से ह्रस्व में परिणत हो गया है, यथा—सं० निःश्रेणी→प्राकृ० शीसेणी→हरि० निसेणी ।

दो व्यंजनों से अधिक व्यंजनों का समूह

२१. प्राकृ० में दो से अधिक व्यंजन वाले समूहों में :—

- (१) जहां तीसरा व्यंजन अनुनासिक था, उसके स्थान पर पूर्ववर्ती स्वर को अनुनासिक बना दिया गया । हरियाणवी में यह परम्परागत विशेषता इसी रूप में विद्यमान है ।
- (२) शेष व्यंजनों का आपस में समीकरण होकर एक व्यंजन को द्वित्व कर दिया गया है । हरि० में इसका विकास अन्य द्वित्व व्यंजनों की भांति उपरिनिर्दिष्ट रीति से हुआ है ।

व्यंजनों का पारस्परिक व्यत्यय

२२. प्रा० भा० आ० भा० के व्यंजनों का हरि० में सामान्य परिवर्तन दिखाने के पश्चात् व्यंजनों के पारस्परिक व्यत्यय की बात शेष रह जाती है । यद्यपि दसवें अध्याय से इसका सर्व-सामान्य परिचय मिल जाता है फिर भी व्यत्यय सम्बन्धी प्रमुख उदाहरणों को एक ही शीर्ष के अन्तर्गत इकट्ठा करने पर उनका निकटवर्ती ज्ञान प्राप्त हो सकेगा । इस विचार से यहां कुछ उदाहरण दिए जाते हैं :—

- (१) ज्→च् ।
सं० ✓रज्→✓राच् ।
- (२) -ण्- →न् : कर्ण→हरि० कान् ।
- (३) त्→ट् ।
प्राकृ० तट्टी→हरि० टाँट्टी ।
- (४) त्→ल् : सं० पीत्→हरि० पीला ।
- (५) त्→ड् : सं० बृहत्→हरि० बड़ा, सं० किरात्→किराड् ।
- (६) थ्→ठ् : सं० ग्रन्थि→हरि० गांठ् ।
- (७) द्→ड् : प्रा० दाढिअ→हरि० डाँड्ढी ।
- (८) द्→ज् : सं० दंष्ट्र→हरि० जाड् ।
- (९) द्→ड्द : सं० मांसोन्दुक→हरि० मसूँड्डा ।
- (१०) ध्→भ् : सं० धीवर→हरि० भीम्मर्, सं० ✓ऋध्→हरि० ✓रीभ् ।
- (११) न्→ण् : सं० उत्थान→हरि० ठाण् ।
- (१२) न्→ल् : सं० नील→हरि० लील्ला ।
- (१३) प्→व् : सं० कपाट→हरि० किवाड्, सं० पश्चाताप→हरि० पिछतावा ।

- (१४) प्→म् : सं० उद्यापन→हरि० उज्जमण् ।
 (१५) ब्→म् : सं० चौबोल→हरि० चमोल्ला ।
 (१६) य्→ज् : सं० कार्य→हरि० काज् , सं० तृतीया→हरि० तीज् ।
 (१७) र्→ल् : सं० दारिद्र्य→हरि० दिलदर ।
 (१८) र्→न् : सं० रज्जु→हरि० नेजू ।
 (१९) र्→ङ् : सं० विकार→हरि० विगाड़, प्रा० चिचर→हरि० चीच्चड़ ।
 (२०) ल्→ङ् : सं० चौबोल→हरि० चबोड् ।
 (२१) ल्→न् : प्रा० लज्जु→हरि० नेज्जू ।
 (२२) न्→म् : सं० नवति→हरि० निव्वे ।
 (२३) व्→म् : सं० धीवर→हरि० भीम्मर् ।

मध्य वर्णागम

२३. मध्य स्वरागम एक साधारण सी बात है और संयुक्त व्यञ्जनों को वियुक्त करने के लिए सामान्यतः इसका सहारा लेना ही पड़ता है, परन्तु हरियाणवी में कतिपय ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जहां सामान्यतः 'र्' और 'ह्' को ध्वनियों का स्वतः आगम हो गया है। 'र्' की अपेक्षा 'ह्' का आगम अधिक व्यापक मिलेगा। इसके अतिरिक्त जहां 'म्' अनुस्वार में बदल गया है वहां 'व्' का आगम भी दिखाई देता है परन्तु यह स्थिति हरि० में अत्यन्त विरल कही जा सकती है, यथा—सं० आम्र→हरि० आम्ब । नीचे 'र्' और 'ह्' के आगम के उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं :—

'र्' का आगम

सड़क : सरड़क् कड़ा : कर्ड़ा
 उलूक, उल्लू : अर्लू

'ह्' का आगम

सोहर (सीर) गाल्ह (गल्ल) हॉरसी (आसिक)

हरियाणवी में वर्ण-समुच्चय

२४. प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) में जहां संयुक्त व्यञ्जन थे, वहां प्राक० में समीकरण द्वारा द्वित्व व्यञ्जन रह गए। अन्य आ० भा० आ० भा० में पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ करते हुए उस द्वित्व व्यञ्जन के स्थान पर एक व्यञ्जन रह गया है परन्तु हरियाणवी में स्वर को दीर्घ तो आवश्यक हो गया है फिर भी उसका उच्चारण ह्रस्व है, हरियाणवी—१४

इस लिए प्राकृ० कालीन द्वित्व व्यञ्जन यहां ज्यों का त्यों विद्यमान रह गया है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी जहां दीर्घ स्वर का उच्चारण ह्रस्व है वहां चाहे पहले से द्वित्व व्यञ्जन नहीं है, परन्तु हरि० में उसका द्वित्व अवश्य हो जाता है, यथा :—

सं० चतुर→हरि० चात्तर, सं० धीवर→हरि० भीस्मर, सं० मंडूक→
हरि० मीड्डक ।

इस पद्धति को हम वर्ण-समुच्चय का नाम दे सकते हैं, तथापि घोष व्यञ्जनों की स्थिति में दीर्घ स्वर के ह्रस्व उच्चारण के पश्चात् उनके सहगामी अघोष व्यञ्जन पाए जाते हैं, यथा—माँकवी, पीठी आदि ।

हकार का आगम तथा लोप

२५. भारतीय आर्यभाषाओं में हकार ध्वनि के आगम पर विभिन्न विद्वानों ने विचार किया है और इसके आगम के कारणों पर प्रकाश भी डाला है। डा० भण्डारकर के अनुसार एक स्वर अथवा व्यञ्जन अपनी समीपवर्ती महाप्राण ध्वनि से प्रभावित हो कर महाप्राण में परिणत हो जाता था। परन्तु कई एक प्राकृ० शब्दों में इस नियम के अपवाद भी दिखाई देते हैं। इस लिए जैकोबी तथा ब्लाश ने यह धारणा बनाई कि हकार के आगम का सम्बन्ध मुख्यतः 'र्' तथा 'स्' के संयोग से है। डा० चैटर्जी ने इसका कारण उपर्युक्त दोनों कारणों से भिन्न बोलियों के पारस्परिक मिश्रण तथा अन्य बोलियों के संदिग्ध रूपों का मस्तिष्क में विद्यमान रहना बताया है। हमें डा० चैटर्जी का मत अधिक सारगर्भित जान पड़ा है।

वस्तुतः प्राकृतों में ही हकार ध्वनि के स्वतः आगम के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं और ज्यों ज्यों हम परवर्ती भाषाओं का अवलोकन करते हैं यह प्रवृत्ति अधिकाधिक वृद्धि की ओर अग्रसर होती दिखाई देती है। इसके लिए कोई विशेष कारण खोज निकालना संभव प्रतीत नहीं होता तथापि इस सम्बन्ध में इतना कहा जा सकता है कि हकार की ध्वनि औरस्य ध्वनि है और कतिपय वर्णों के साथ इसका सम्मिश्रण मानना पड़ता है। दूसरे यह ध्वनि अत्यन्त स्थूल है और जो भाषा जितनी विकसित होगी अथवा संस्कार-च्युत होगी उसमें इस स्वाभाविक सम्मिश्रण की संभावना उतनी ही अधिक होनी चाहिए। वस्तुतः कोई भी भाषा बार-बार के साहित्यिक प्रयोगों से परिमार्जित होकर कोमल रूप ग्रहण कर लेती है और ऐसी स्थिति में उसमें विद्यमान 'ह्' अथवा 'र्' जैसी स्थूल ध्वनियां स्वाभाविक गति से ही कम होने लगती हैं। इस कसौटी पर परखने के पश्चात् यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है कि हरियाणवी में 'ह्' की ध्वनि स्वाभाविक रूप से यत्र-तत्र आ जाती है। इसके

उदाहरण पीछे भी पर्याप्त मात्रा में आ चुके हैं फिर भी कतिपय उदाहरण यहां दोहराए जा रहे हैं।

सं० चक्री→हरि० चर्खी, सं० गन्दिला→हरि० गांधूला, सं० बलीवर्द→हरि० बुलध्, सं० लालसा→हरि० ल्हाल्सा, सं० खेलनक→हरि० खेलह्ण
सं० कर्पूर→हरि० खप्पर्, सं० कुदाल→हरि० खुदाल्, सं० मार्गशिर→हरि० मंघ्सर्।

‘हकार’ का लोप

२६. हकार के आगम की भांति हकार का लोप भी भाषाओं में सामान्य रूप से होता रहता है। हरि० में इसके उदाहरण अपेक्षाकृत कम मिलेंगे :—

सं० एकषष्ठि→हरि० इक्सट्, प्राक० छप्पतिआ→हरि० चपत्,
सं० प्रोब्धनी→हरि० पोचणी।

घोषत्व तथा अघोषत्व

२७. हरि० में जैसे हकार के लोप की अपेक्षा हकार के आगम के उदाहरण अधिक मिलते हैं, इसी प्रकार अघोषत्व की अपेक्षा घोषत्व के उदाहरण अधिक मिलते हैं।

(१) घोषत्व :—

सं० सीचन→हरि० सौजण्। सं० विकार→हरि० बिगाड्।
सं० प्रकट→हरि० पर्घट्, सं० मकर→हरि० मगर् (मच्छ्),
सं० कन्दुक→हरि० गेंद्, सं० काक्→हरि० काग्, सं० ठक→हरि० ठग्।

(२) अघोषत्व :—

सं० उत्+✓लङ्घ्→हरि० ✓उलांक्, सं० ✓रज्→हरि० ✓राच्,
सं० साधम्→हरि० साध्।

वर्ण-विपर्यय

२८. वर्ण-विपर्यय के उदाहरण प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) तथा मा० भा० आ० भा० में पर्याप्त मिलते हैं। हरियाणवी में इस के निम्न-लिखित उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं :—

सं० चक्री→हरि० चर्खी, सं० पितृगृह→हरि० पी^३ह^३र्, सं० लघुक→हरि० हलुआ, प्राक० घरट्→हरि० रहट्, सं० स्थाप्→हरि० पाथ्।

ध्वनि-लोप

२९. दो शब्दों के स्वाभाविक मेल से जब एक शब्द का आविर्भाव होता है तो

उन दोनों में विद्यमान समान ध्वनि एक स्थान से लुप्त हो जाती है। इस प्रक्रिया को पारिभाषिक भाषा में ध्वनिलोप की संज्ञा दी जा सकती है, यथा :—

छिन्-नाल् → छिनाल्, नाक्-कटा → नकटा।

सम्पर्क-व्यञ्जन

३०. दो शब्दों के मेल पर जैसे समान ध्वनि का लोप होता है, उसी प्रकार कहीं कहीं असमान ध्वनि का भी लोप हो जाता है। इस प्रकार सम्पर्क में आने वाला व्यञ्जन लुप्त हो जाता है, यथा :—

पव् (पांच) सेरी) पंसेरी या पन्सेरी।

समीकरण

३१. उपरि निर्दिष्ट रीति से जब दो सम्पर्की व्यञ्जनों में से एक का लोप हो जाता है और दूसरे व्यञ्जन को द्वित्व हो जाता है तो वहां समीकरण अर्थात् प्रथम व्यञ्जन का दूसरे व्यञ्जन के समान होना कहा जाता है, यथा :—

आध्-सेर् → आँस्सर्, पांच्-सेर् → पाँस्सर्, सांभ्-न् → साँन्हें,
किस् दिन् → किहन्, उस् दिन् → उहन्, जिस दिन → जिहन्।

विषमी-करण

३२. विषमीकरण की प्रक्रिया मूलतः प्राकृ० भाषाओं में देखने को मिलती है। एक ही शब्द में जहां दो समान ध्वनियां पास पास आती हैं उन में से एक ध्वनि भिन्न रूप धारण कर लेती है। इस प्रक्रिया को विषमीकरण की संज्ञा प्रदान की गई थी, यथा :—

सं० पिपीलिका → प्राकृ० किपिल्लिका, सं० ननांद् → हरि० नंगांद्।

अस्तु, आ० भा० आ० में बहुत से शब्दों का सम्बन्ध विषमीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही सिद्ध होगा।

सामासिक तथा प्रतिध्वनित शब्द

३३. आ० भा० आ० भा० में एक ही आशय के दो देशीशब्दों अथवा विदेशीशब्दों अथवा एक देशी और एक विदेशी शब्द को परस्पर में गूँथ कर प्रयोग में लाने की सामान्य सी पद्धति विद्यमान है। जहां ऐसे शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता वहां उस के मुख्य भाग की आवृत्ति कर ली जाती है और इस प्रकार निरर्थक अथवा केवल उसी संदर्भ में साथेक प्रतिध्वनित शब्दों का अविर्भाव होता है। हरि० में भी दोनों प्रकार के अनेक शब्द मिलेंगे। इन का विस्तृत विवेचन दूसरे भाग के द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत किया है। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

- (१) निम्न लिखित शब्दों में दूसरा पद निरर्थक और प्रतिध्वनित है :—
साग्-सूग्, सांग्-सूंग्, धाणक्-धूणक्, रेल्-पेल्, अच्चार्-पच्चार् ।
- (२) निम्न-लिखित उदाहरणों में एक पद विदेशी है :—
सांग्-तमास्सो, दवाई-पाणी, सेर-बघेरा, घर-पता ।
- (३) निम्न-लिखित उदाहरणों में लग भग एक ही आशय के शब्द विद्यमान हैं :—
घर्-बार्, जल्-पाणी, नेम्-बरत्, जीमणा-भूठणा, खाणा-दाणा, साग्-पात् ।
-

दसवां अध्याय

हरियाणवी व्यंजनों की उत्पत्ति

(१) आधुनिक हरियाणवी के आदि 'क्' की उत्पत्ति निम्न-लिखित से हुई है :—

(१) संस्कृत के आदि 'क्' से यथा :—

हरि० काज्←सं० कार्य, हरि० काट्←सं० काष्ठ, हरि० कान्←
सं० कर्ण, हरि० कर्तब्←सं० कर्तव्य, हरि० काल्ह्←सं० कल्य ।

(२) हरि० में आदि 'क्' सं० क् कृ से, यथा :—

हरि० किरिआ←सं० क्रिया, हरि० कोस←सं० क्रोश, हरि० ✓कात्←
सं० ✓कृत्, हरि० ✓कर्←सं० ✓कृ ।

(३) सं० क्व् से, यथा :—

हरि० काँड्डा←सं० क्वाथ, हरि० कड्ढी←सं० क्वथित ।

(४) सं० 'क्ल्' से, यथा :—

हरि० कलेस्←सं० क्लेश ।

(५) सं० 'स्क' से, यथा :—

हरि० काँद्धा←सं० स्कंध ।

२. हरियाणवी के मध्य तथा अन्त्य 'क्' की उत्पत्ति निम्न-लिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० 'अक्क', प्राकृ० 'उक्' से, यथा :—

हरि०	प्राकृ०	सं०
उक्कु	उक्कुडुय	कुक्कुट
भोक्	भुक्क	बुक्क

(२) प्रा० 'क्क' से, यथा :—

हरि०	प्राकृ०	हरि०	प्राकृ०
नाक्	णक्क	खिड़की	खण्डक्की
छीक्	चिक्क	चूक्	चुक्क]

(३) सं० 'क्', प्रा० 'क्क' से, यथा :—

हरि०	प्राकृ०	सं०
डुक्	डुक्क	ढोक
इक्सार	एक्कसार	एक्सार

व्यञ्जनों की उत्पत्ति

(४) सं० 'त्क्', प्रा० 'क्क्' से, यथा :—

हरि०	प्राकृ०	सं०
उकास्	उक्कास्	उत्कर्ष
खड्का	खडक्कार	खटत्कार
थूक्	थुक्क	थूत्कृत
पुकार्	पुक्कार	पूत्कार

(५) सं० -क्- से, यथा :—

हरि०	सं०	हरि०	सं०
ककोड़ा	कर्कोट	केकड़ा	कर्कट
किर्करा	कर्कर	मक्का	मकट
ताक्कू	तर्कु	आक्	अर्क

(६) सं० 'ख्' से, यथा :—

हरि० साक्कल् ← प्राकृ० संकल ← सं० शृखला ।

(७) सं० 'ल्क्' से, यथा :—

हरि० बक्कल् ← सं० बल्कल ।

(८) सं० 'ट्क्' से, यथा :—

हरि० छिक्का ← सं० षट्-क ।

(९) सं० 'द्य्' से, यथा :—

हरि० ओल्लक् ← प्रा० अलक्ख ← सं० अलद्य ।

(१०) सं० 'ष्क्' से, यथा :—

हरि० चौक् ← सं० चतुष्क, हरि० चकोण् ← सं० चतुष्कोण ।

हरि० निकर्मां ← निष्कर्मान्, हरि० धाणक् ← सं० धानुष्क ।

(११) सं० 'क्' से, यथा :—

हरि० चाक्की ← सं० चक्री, हरि० चाक् ← सं० चक्र ।

(१२) सं० 'ङ्क्' से यथा :—

हरि० पॉल्लक् ← सं० पालङ्क्य ।

(१३) सं० 'क्' प्राकृ० 'क्', से :—

हरि० मीङ्क् ← सं० मण्डक ।

(१४) सं० 'घ्' से, यथा :—

हरि० √उलाक् ← सं० उत् + √लङ् ।

३. हरियाणवी के और 'ख' की उत्पत्ति निम्न-लिखित से हुई है :—

(१) सं० 'क्' से, यथा :—

हरि० खप्पर ← सं० कर्पर, हरि० खाँस्सी ← सं० कास्, हरि०
खुदाली ← सं० कुदाल ।

(२) सं० 'कृ०' से, यथा :—

हरि० खीच् ← सं० कृष् ।

(३) सं० 'ख्' से, यथा :—

हरि० खाद् ← सं० खट्वा, हरि० खान् ← सं० खनि, हरि० खारी
(टोकरी) ← सं० खारि, हरि० खाज् ← सं० खजु ।

(४) सं० 'क्ष्' से, यथा :—

हरि० खार् ← सं० चार, हरि० खंखाल् ← सं० चालय्, हरि०
खेत ← सं० क्षेत्र, हरि० खीर ← सं० क्षैरेयी, हरि० खोद् ←
सं० क्षोद, हरि० खुद्या ← सं० क्षुधा ।

(५) सं० 'स्क' से, यथा :—

हरि० खंवा ← सं० स्कंभ ।

४. हरियाणवी के आभ्यन्तरिक तथा अन्त्य 'ख' की उत्पत्ति निम्न-लिखित से हुई है :—

(१) सं० 'क्ष्' से, यथा—ख् ← क्ख् ← क्ष्, उदाहरण :—

हरि०	प्राकृ०	सं०
पख्	पक्ख	पक्ष
अंगरखा	अंगरक्खआ	अंगरक्षक
आख्	आक्ख	आक्षि
लाख्	लक्ख्	लक्ष
निरख्	णिक्ख	निरीक्ष

(२) सं० के 'क्ष्' में पाए जाने वाले 'ष्' से, अर्थात् क् + ष् (क्ष) → क्ख्
क्ख् :—

सं०	प्राकृ	हरि०
अक्षर	अक्खर	आक्खर्
तीक्ष्ण	तिक्ख	तीक्खा
दक्षिण	दक्खिण	दक्खण्
रुक्ष	लुक्ख	लुक्ख्खा

- (३) सं० 'ख्' से, यथा :—
हरि० ऊंखली←सं० उदूखल, हरि० वसाख←सं० वैशाख ।
- (४) सं० 'क्' से, यथा :—
हरि० चुखाट्←सं० चतुर्काष्ठी ।
- (५) सं० 'ष्' से, यथा :—
हरि० विख्मां←सं० विषम् ।
- (६) सं० 'स्क' से 'क्ख', यथा :—
हरि० भक्खड्←सं० भास्कर ।
- (७) सं० 'ख्य्', प्रा० क्ख् से यथा :—
हरि० वखाण्←प्रा० वक्खाण्←सं० व्याख्यानम्, हरि० बुखारा←
प्राकृ० वक्खार ।
५. हरियाणवी के आदि 'ग्' की उत्पत्ति निम्न-लिखित से हुई है :—
- (१) सं० के अङ्ग्- से, यथा :—
हरि० गूँडी←सं० अंगुष्ठी ।
- (२) सं० 'एक्' से, यथा :—
हरि० ग्यारा←सं० एकादशम्, हरि० ग्यास् या ग्यारस्←
सं० एकादशी ।
- (३) सं० 'क' से, यथा :—
हरि० गेंद←सं० कन्दुक ।
- (४) सं० 'ग्र' से, यथा :—
हरि० गांठ←सं० ग्रन्थि, हरि० गाम्←सं० ग्राम, हरि० गास्←
सं० ग्रास, हरि० गाहक्←सं० ग्राहक ।
- (५) सं० 'ग्' से, यथा :—
हरि० गाध्ला←सं० गंदिल, हरि० गॉग्गर←सं० गर्गरी, हरि० गात्←
सं० गात्र, हरि० गूँगलू←सं० गुग्गुल, हरि० गूज्जर्←सं० गुर्जर ।
- (६) सं० 'गृ' से, यथा :—
हरि० गीध्←सं० गृध्र ।
- (७) सं० 'ग्ल' से, यथा :—
हरि० गिलाण्←सं० ग्लानि ।

६. हरियाणवी के आभ्यान्तरिक तथा अन्त्य 'ग्' की उत्पत्ति निम्न-लिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० 'र्ग' से, हरि० 'ग्'- यथा :—

हरि० गॉग्गर्←सं० गर्गरी, हरि० आॅग्गल्←सं० अर्गला ।

(२) सं० 'र्ग' से, हरि० ग्-यथा :—

हरि० चोग्गां←सं० चतुर्गण, हरि० मारग्←सं० मार्ग,
हरि० बरगा←सं० वर्ग ।

(३) सं० 'ग्' से, यथा :—

हरि० जग्←सं० जगत्, हरि० जुग्←सं० युग, हरि० जोग्←
सं० योग, हरि० आंग्ली←सं० अंगुली ।

(४) सं० 'ग्र'-हरि० 'ग्', यथा :—

हरि०-आॅग्गा←सं० अग्र ।

(५) सं० 'ग्न' से, यथा :—

हरि० लगन्←सं० लग्न, हरि० आग्←सं० अग्नि, हरि० नंगा←
सं० नग्न, हरि० भंगा←सं० भग्न ।

(६) सं० 'क्' से, यथा :—

हरि० विगाङ्←सं० विकार, हरि० वान्गी←सं० वर्णिका,
हरि० लोग्←सं० लोक, हरि० सगा←सं० स्वक, हरि० ठग्←सं०
ठक, हरि० पिलंग←सं० पर्यङ्क, हरि० मगर् (मङ्)←सं० मकर ।

(७) सं० 'गृ' से, यथा :—

हरि० जाग्←सं० जागृ ।

(८) सं० 'ज्ञ' से, यथा :—

हरि० जग्←सं० यज्ञ ।

(९) सं० 'ग्य' से, यथा :—

हरि० जोग्←सं० योग्य, हरि० निर्भाग्←सं० निर्भाग्य ।

(१०) सं० 'ल्' से, यथा :—

हरि० फाग्←सं० फल्गु, हरि० √विग्←सं० √वल्गु ।

(११) सं० लग्→हरि० ग :—

हरि० फॉग्गा←सं० फाल्गुण ।

(१२) सं० 'द्ग्' से, यथा :—

हरि० मोगरा ← सं० मुद्गर , हरि० मूग् ← सं० मुद्ग ।

(१३) सं० 'ङ्ग' से, यथा :—

हरि० सरंगी ← सं० शार्ङ्ग ।

(१४) सं० 'ह्' से, यथा :—

हरि० सिग् ← सं० सिंह ।

७. हरियाणवी के आदि 'घ्' की उत्पत्ति निम्न-लिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० 'घ्', यथा :—

हरि० घड़ा ← सं० घट, हरि० घाम् ← सं० घम्म, हरि० घा ← सं० घात्, हरि० घार् ← सं० घारण ।

(२) सं० 'ह्' से, पूर्ववर्ती 'ग्' से, यथा :—

हरि० घर ← सं० गृह ।

(३) सं० 'घृ' से, यथा :—

हरि० ✓ घस् ← सं० ✓ घृष, हरि० घी ← सं० घृत ।

८. हरियाणवी के आभ्यन्तरिक तथा अन्त्य 'घ्' की उत्पत्ति निम्न-लिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० के 'ह्' से पूर्ववर्ती 'ग्' से यथा :—

हरि० उघाई ← सं० उद्ग्राह्, हरि० कट्घरा ← सं० कष्ट-गृह ।

(२) सं० 'द्घ्' से, यथा :—

हरि० उघाड् ← सं० उद् + घाट् ।

(३) सं० 'त्क्' से यथा :—

हरि० चिघाड् ← सं० चीत्कार ।

(४) सं० 'ङ्घ्' से यथा :—

हरि० जांघ् ← सं० जङ्घा, हरि० लांघ् ← सं० लङ्घय् ।

(५) सं० 'ङ्ख्' से, यथा :—

हरि० पीघ् ← सं० प्रेङ्खा ।

(३) सं० 'ग्' से, यथा :—

हरि० मंघ्सर् ← सं० मागेशिर ।

(७) सं० 'क्ष्' → प्राक्० क्ख्- 'ग्' —

हरि० मोघ्ला ← प्राक्० मोक्ख् ← सं० मोक्ष ।

- (न) सं० 'घ्र' से, यथा :—
हरि० बाघ् ← सं० व्याघ्र ।
- (६) सं० 'घृन्' से, यथा :—
हरि० विघन् ← सं० विघ्न ।
६. हरियाणवी का आदि 'च्' निम्न-लिखित स्रोतों से आया है :—
- (१) संस्कृत के 'च्' से, यथा :—
हरि० चूरण् ← सं० चूर्ण, हरि० चलू ← सं० चुलुक, हरि० चीत्ता ← सं० चित्रक ।
- (२) सं० 'च्य' से यथा :—
हरि० चू ← सं० च्यव् ।
- (३) प्राकृ० 'छ' से-यथा :—
हरि० चपत् ← प्राकृ० छप्पत्तिआ ।
१०. हरियाणवी का मध्य तथा अन्त्य 'च्' निम्नलिखित स्रोतों से आया है :—
- (१) सं० 'च्च' से, यथा :—
हरि० उचाट्टी ← सं० उचाटन ।
- (२) सं० 'वच्' से, यथा :—
हरि० मचाण् ← सं० मंच ।
- (३) सं० 'च्' से, यथा :—
हरि० कुँची ← सं० कूर्च, हरि० चरच् ← सं० चर्च ।
- (४) सं० 'ष्' से, यथा :—
हरि० खीच् ← सं० कृष् ।
- (५) सं० 'त्य' से, यथा :—
हरि० नाच् → सं० नृत्य, हरि० कचहूँड़ी ← सं० कृत्यगृह, हरि० सांच् ← सं० सत्य ।
- (६) सं० 'ब्छ' से, यथा :—
हरि० पोच्छणी ← सं० प्रोब्धनी ।
- (७) सं० के क् + ष् (क्ष्) में पाए जाने वाले 'क्' से :—
हरि० भिच्छा ← सं० भिक्षा, हरि० लच्छण् ← सं० लक्षण ।
- (न) सं० के 'त्' से, यथा :—
हरि० मॉच्छर ← सं० मत्सर, हरि० मच्छा ← सं० मत्स्य, हरि० वाच्छा ← सं० वत्स ।

(६) सं० के 'ञ्' से, यथा :—

हरि० √रच् या √राच् ← सं० √रंज् ।

(१०) सं० 'त्र्य' से, यथा :—

हरि० रतौद्धा ← सं० रात्र्यंधक ।

(११) सं० 'क्र' से, यथा :—

हरि० वेच् ← सं० विक्री ।

(१२) सं० के 'च्य' से, यथा :—

हरि० सोच् ← सं० शोच्य ।

(१३) प्राकृ० 'क्' से, यथा :—

हरि० हिक्की या हुक्की ← प्राकृ० हिक्का ।

११. हरियाणवी के आदि 'छ' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० 'च्' → प्राकृ० 'च्' से, यथा :—

हरि० छालणी ← प्राकृ० चालणी ← सं० चालनी, हरि० छीक् ← प्राकृ० चिकक् ।

(२) सं० 'ष्' से यथा :—

हरि० छिआणवे ← सं० षण्णवति, हरि० छिक्का ← सं० षट्क, हरि० छठा ← सं० षष्ठ ।

(३) सं० 'क्ष' से, यथा :—

हरि० छण् ← सं० क्षण, हरि० छुरा ← सं० क्षुर, हरि० छोह् ← सं० क्षोभ, हरि० छत्री ← सं० क्षत्रि ।

(४) सं० 'छ' से, यथा :—

हरि० √छोड् ← सं० छर्द्, हरि० छतर् ← सं० छत्र, हरि० छेद् ← सं० छिद्र, हरि० छां ← सं० छाया ।

(५) सं० 'स्पृ' से, यथा :—

हरि० √छृह् ← सं० √स्पृश् ।

१२. हरियाणवी आभ्यन्तरिक तथा अन्त्य 'छ' की उत्पत्ति निम्न-लिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० 'त्श्' से, यथा :—

हरि० उछल् ← सं० उत्शल ।

(२) सं० 'श्र' से, यथा :—

हरि० मूँछ←सं० श्मश्रु ।

(३) सं० तथा प्राकृ० 'च्छ' से, यथा :—

हरि० किछ्वा←प्राकृ० कच्छव←सं० कच्छप, हरि० कछ्नी←
प्राकृ० कच्छटी, हरि० कड्छी←प्राकृ० कडच्छु, हरि० छछ्ँदर←
प्राकृ० छच्छुंदर, हरि० पूँछ←प्राकृ० पुच्छ ।

(४) सं० 'क्ष' से, यथा :—

हरि० पंछी←सं० पक्षिन्, हरि० नछत्तर्←सं० नक्षत्र, हरि० दिछ्णा←
सं० दक्षिणा, हरि० रीछ←सं० ऋक्ष ।

(५) सं० 'त्स्' में मिलने वाले 'स्' से, यथा :—

हरि० बाँछ्छा←सं० वत्स, हरि० माँछ्छर←सं० मत्सर, हरि० मच्छा←
सं० मत्स्य ।

(६) सं० के 'श्च्' में मिलने वाले 'च्' से, यथा :—

हरि० बिच्छू←सं० वृश्चिक, हरि० पच्छम्←सं० पश्चिम,
हरि० पाच्छें←पश्चात् ।

१३. हरियाणवी के आदि 'जू' की उत्पत्ति निम्न-लिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० 'य्' से, यथा :—

हरि० जस्←सं० यशस्, हरि० जमना←सं० यमुना, हरि० जात्←
सं० यात्रा, हरि० जतन←सं० यत्न, हरि० जम्←सं० यम,
हरि० जो←सं० यव ।

(२) सं० 'जू' से, यथा :—

हरि० जग्←सं० जगत्, हरि० जंगल्←सं० जंगल, हरि० जी←
सं० जीव्, हरि० जम्बू←सं० जम्बुक ।

(३) सं० 'जू' से, यथा :—

हरि० जम्हाई←सं० जृम्भा ।

(४) सं० 'ज्य्' से, यथा :—

हरि० जेठ←सं० ज्येष्ठ ।

(५) सं० 'ज्व्' से, यथा :—

हरि० जल्←सं० ज्वल्, हरि० जुरी←सं० ज्वर ।

(६) सं० 'ज्ञ' से, यथा :—

हरि० √जाण् ← सं० √ज्ञा ।

(७) सं० 'द्य' से, यथा :—

हरि० जूआ ← सं० द्यूत ।

(८) सं० 'द' से, यथा :—

हरि० जाङ् ← सं० दंष्ट्र ।

१४. हरियाणवी के मध्य तथा अन्त्य 'ज्' की उत्पत्ति निम्न-लिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० 'ञ्ज' से, यथा :—

हरि० अंजन् ← सं० अञ्जन, हरि० आंजला ← सं० अञ्जलि,

हरि० कडंजा ← सं० करञ्ज, हरि० पिंजरा ← सं० पञ्जर ।

(२) सं० 'ज्' से, यथा :—

हरि० अजीरण् ← सं० अजीर्ण, हरि० जज्मान् ← सं० यजमान,

हरि० √पूज् ← सं० √पूज्य, हरि० √भज् ← सं० √भज् ।

(३) सं० 'द्य' से, यथा :—

हरि० आज् ← सं० अद्य, हरि० उज्मण् ← सं० उद्यापन, हरि० उपज् ←

सं० उत्पद्य, हरि० खौज्जा ← सं० खाद्य, हरि० बौज्जा ← सं० वाद्य ।

(४) सं० 'ज्य' से, यथा :—

हरि० राज् ← सं० राज्य, हरि० वणज् ← सं० वाणिज्य ।

(५) सं० 'ज्ज्व' से, यथा :—

हरि० उज्जला ← सं० उज्ज्वल ।

(६) सं० त् + ज्व् से, यथा :—

हरि० उजाल् ← सं० उत् + ज्वालय् ।

(७) सं० 'य्य' से, यथा :—

हरि० सेज् ← सं० शय्या ।

(८) सं० 'य्' से, यथा :—

हरि० काज् ← सं० कार्य, हरि० धीरज् ← सं० धैर्य ।

(९) संस्कृत 'ज्ज' से, यथा :—

हरि० कौज्जल् ← सं० कज्जल, हरि० निर्लज्ज् ← सं० निर्लज्ज,

हरि० लाज् ← सं० लज्जा, हरि० साज् ← सं० सज्ज ।

(१०) सं० 'य्' से, यथा :—

हरि० कात्जा ← सं० कालेयक, हरि० तीज् ← सं० तृतीय, हरि० दूज् ← सं० द्वितीय, हरि० भाण्जा ← सं० भागिनेय ।

(११) सं० 'च्' से, यथा :—

हरि० सीजण् ← सं० सिञ्चन ।

(१२) सं० 'र्ज्' से, यथा :—

हरि० खाज् ← सं० खजू, हरि० खजूर ← सं० खजूर, हरि० दुर्जन ← सं० दुर्जन, हरि० √वरज् ← सं० √वर्जय ।

(१३) सं० 'द्' से, यथा :—

हरि० खिज् ← सं० खिद्, हरि० पसीज् ← सं० प्रसदन, हरि० मोज् ← सं० मोद, हरि० √वाज् ← सं० √वद्, हरि० बिज्जली ← सं० विद्युत् ।

(१४) सं० 'च्' से, यथा :—

हरि० पंजी ← सं० पंचिका, हरि० मंजी ← सं० मंचा ।

(१५) प्राकृ० 'च्' से, यथा :—

हरि० मोज्जा ← प्राकृ० मोच ।

१५. हरियाणवी आदि 'म्' की उत्पत्ति निम्न-लिखित स्रोतों से हुई है :—

(१) सं० 'म्' से, यथा :—

हरि० भंकार ← सं० भङ्कार, हरि० भाङ्गन् ← सं० भाटन, हरि० भोली ← सं० भोलिका ।

(२) सं० 'ध्' से, यथा :—

हरि० भीम्मर ← सं० धीवर ।

(३) सं० 'क्ष्' से, यथा :—

हरि० भिर् ← सं० क्षर, हरि० भाण् ← सं० क्षीण ।

(४) सं० 'ज्' से, यथा :—

हरि० मुरण् ← सं० जूरण ।

१६. हरियाणवी के मध्य तथा अन्त्य 'म्' की उत्पत्ति निम्न-लिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० 'द्ध' प्राकृ० ङ्ग से :—

हरि० जूम् ← प्राकृ० जुङ्गम् ← सं० युद्ध ।

(२) सं० 'च्छ' में मिलने वाले 'छ' से, यथा :—

हरि० बूझ्मा←सं० पृच्छ ।

(३) सं० 'ध्य' से, यथा :—

हरि० संभा, सांम् ← सं० सन्ध्या, हरि० संभ्र्धार, ← सं० मध्यधारा,
हरि० मभ्र्ला ← सं० मध्य, हरि० बांम् ← सं० बन्ध्या ।

(४) सं० 'ध्' से, यथा :—

हरि० रीम् ← सं० ऋध्, हरि० √सीम् ← सं० √सिध ।

१७. हरियाणवी के आदि 'ट्' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) प्राकृ० के 'ट्' से, यथा :—

हरि० टक्कर ← प्राकृ० टक्कर, हरि० टीक्का ← प्राकृ० टिक्क,
हरि० टूँड्डा ← प्राकृ० टुंट, हरि० टोकणां ← प्राकृ० टोक्कण ।

(२) सं० के 'ट्' से, यथा :—

हरि० टटोहरी ← सं० टिट्ठिभ ।

(३) सं० 'त्र' से, यथा :—

हरि० टसर ← सं० त्रसर, हरि० टूट ← सं० तुट ।

(४) प्राकृ० 'त्' से, यथा :—

हरि० टाट्टी ← प्राकृ० तट्टी ।

१८. हरियाणवी के मध्य तथा अन्त्य 'ट्' की उत्पत्ति निम्न-लिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० ष्ट- प्राकृ० 'ट्' से, यथा :—

हरि० उणसट् ← प्राकृ० अउणसट्ठि ← सं० एकोनषष्टि, हरि० अड्सट् ←
प्राकृ० अट्टासट्ठि ← सं० अष्टाषष्टि, हरि० इक्सट् ← प्राकृ० एकसट्ठि ←
सं० एकषष्टि ।

(२) सं० 'ष्ट' से, यथा :—

हरि० ऊंष्ट ← सं० उष्ट ।

(३) सं० के 'ष्ठ' से, यथा :—

हरि० हौंष्ट, ← सं० ओष्ठ, हरि० चुखाट् ← सं० चतुर्कोष्ठी,
हरि० छटी ← सं० षष्ठी, हरि० वींष्ट ← सं० विष्ठा ।

- (४) सं० 'त्त' से, यथा :—
हरि० मद्रणां ← सं० उद्वर्तन, हरि० जाद् ← सं० जर्त ।
- (५) सं० 'ऋत्' से, यथा :—
हरि० काद् ← सं० कृत्, हरि० निमद् ← सं० निवृत्त, हरि० माँट्टी ← सं० मृत्तिका ।
- (६) सं० 'स्थ' से, यथा :—
हरि० कट्टा ← सं० एकस्थ ।
- (७) सं० 'ट्' से, यथा :—
हरि० नट् ← सं० नट, हरि० कंटील्ला ← सं० कंटाकल, हरि० घंटा ← सं० घण्टा, हरि० जटा ← सं० जटा ।
- (८) सं० 'ट्ट' से, यथा :—
हरि० ✓कूट् ← सं० ✓कुट्ट, हरि० रहद् ← सं० घरट्ट, हरि० हाद् ← सं० हट्ट ।
- (९) सं० 'ट्व' से, यथा :—
हरि० खाट् ← सं० खट्वा ।
- (१०) प्राकृ० 'त्' से, यथा :—
हरि० चो^०हटी ← प्राकृ० चहुँतिया ।
- (११) प्राकृ० 'ड्' से, यथा :—
हरि० भट्पट् ← प्राकृ० भडप्पड ।
- (१२) सं० 'ठ्' से यथा :—
हरि० लोट् ← सं० लुठ् ।
- (१३) सं० 'त्तम्' से, यथा :—
हरि० वाद् ← सं० वत्तम् ।
- (१४) सं० 'न्त्' से, यथा :—
हरि० भेंट् ← सं० वृन्त ।
१६. हरियाणवी के आदि 'ठ्' की उत्पत्ति निम्नलिखित स्रोतों से हुई है :—
(१) सं० 'ठ्' से, यथा :—
हरि० ठाक्कर ← सं० ठक्कुर, हरि० ठग् ← सं० ठक ।

(२) सं० 'स्थ' से, यथा :—

हरि० ठाण् ← सं० स्थान, हरि० ठेरा ← सं० स्थविर ।

(३) प्राकृ० 'ठ्' से, यथा :—

हरि० ठठेरा ← प्राकृ० ठठार, हरि० ठॉल्ली ← प्राकृ० ठलिय, हरि० ठीक्कर ← प्राकृ० ठिक्करिआ, हरि० ठूठ् ← प्राकृ० ठुंठ ।

२०. हरियाणवी के मध्य तथा अन्त्य 'ठ्' की उत्पत्ति निम्न-लिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० 'ष्ठ' से, यथा :—

हरि० काठ् ← सं० काष्ठ, हरि० रिठड़ा ← सं० अरिष्टक, हरि० जेठ् ← सं० ज्येष्ठ ।

(२) सं० 'ष्ट' से, यथा :—

हरि० आठ् ← सं० अष्ट, हरि० ठॉस्सी ← अष्टाशीति, हरि० साठ् ← सं० षष्टि, हरि० साम्ठा ← सं० समृष्ट ।

(३) सं० 'त्थ' से, यथा :—

हरि० उठाण् ← सं० उत्थान ।

(४) सं० 'स्थ' के 'थ्' से, यथा :—

हरि० कट्ठा ← सं० एकस्थ ।

(५) सं० 'न्थ' से, यथा :—

हरि० गांठ् ← सं० ग्रन्थि ।

(६) प्राकृ० 'ट्ठ' से, यथा :—

हरि० ठठेरा ← प्राकृ० ठठार ।

(७) सं० के 'ष्ट्र' से, यथा :—

हरि० भट्टा ← सं० भ्राष्ट्र, हरि० मराँट्टा ← सं० महाराष्ट्रीय ।

(८) सं० 'एठ' से, यथा :—

हरि० लंठ् ← सं० उल्लेख, हरि० कंठी ← सं० कण्ठिका, हरि० संठ् ← सं० शुण्ठी ।

२१. हरियाणवी के आदि 'ड्' की उत्पत्ति निम्न-लिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० 'ड्' से, यथा :—

हरि० डंडा ← सं० दण्ड, हरि० डंड् ← सं० दण्ड, हरि० डांस् ← सं० दंशक, हरि० डाभ ← सं० दभे, हरि० √डस् ← सं० √दंश्, हरि० डाह् ← सं० दाह ।

(२) सं० 'ड' से, यथा :—

हरि० डेरू←सं० डमरूक, हरि० डाण या डाँक्कण←सं० डाकिनी ।

(३) सं० 'त्र' से, यथा :—

हरि० डर्←सं० त्रास ।

(४) प्राकृ० 'ड' से, यथा :—

हरि० डंक←प्राकृ० डंक, हरि० डला←प्राकृ० डल्ल, हरि० डाल्ला←

प्राकृ० डाल्ही←प्राकृ० डाल, हरि० डूम्←प्राकृ० डुंब, हरि० डोई←

प्राकृ० डोव, हरि० डौल्ला←प्राकृ० डल्ल ।

(५) प्राकृ० 'द' से, यथा :—

हरि० डोल←प्राकृ० डोल्ल ।

२२. हरियाणवी में मध्य तथा अन्त्य ड् :

(१) सं० ड्र से :—

हरि० ओड्र←सं० ओड्र ।

(२) सं० -ण्ड से, यथा :—

हरि० गंडा←सं० गण्डिका, हरि० कूँडा←सं० कूँड, हरि० कुंडल्←

सं० कुण्डल, हरि० खाँड्←सं० खण्ड, हरि० चिंडाल्←

सं० चाण्डाल ।

(३) सं० -ट् से, यथा :—

हरि० कमड्डा←सं० कर्वट ।

(४) सं० -र्द से, यथा :—

हरि० कोड्डी←सं० कपर्दिका ।

(५) प्राकृ० -ड्ड- → हरि० -ड्ड-

हरि० गौड्डी←प्राकृ० गड्डिआ, हरि० जाँड्डा←प्राकृ० जड्डा,

हरि० डड्डू←प्राकृ० डेड्डुक ।

(६) प्राकृ० ड् → हरि० -ड्

हरि० खूड्←प्राकृ० खुड, हरि० धुलंडी←प्राकृ० धूलिंडी ।

(७) प्राकृ० -ट् से, यथा :—

हरि० टूँडा←प्राकृ० टुंट ।

२३. हरियाणवी में आदि 'ड्' नहीं मिलता । मध्य तथा अन्त्य 'ड्' पर

नीचे विचार किया जाता है:—

(१) सं० 'त्र' से, यथा :—

हरि० आंतड़ी ← सं० अन्त्रिका, हरि० कड़े ← सं० कुत्र, हरि० अड़े ← सं० अत्र ।

(२) प्राकृ० 'ड्' से, यथा :—

हरि० कावड् ← प्राकृ० कावड, हरि० अम्ड़ी ← प्राकृ० अम्मड़ी ।

(३) सं० 'ष्ट' → प्राकृ० 'ट्ठ' से, यथा :—

हरि० अड़तलीस् ← प्राकृ० अट्टचतालीस ← सं० अष्टाचत्वारिंशत्, हरि० अड़तीस् ← प्राकृ० अट्टतीस ← सं० अष्टात्रिंशत्, हरि० अड़सट् ← प्राकृ० अट्टासट्ठि ← सं० अष्टाषष्टि ।

(४) सं० 'ष्ट्र' से, यथा :—

हरि० जाड् ← सं० दंष्ट्र ।

(५) सं० 'ट्' से, यथा :—

हरि० थड़ा ← सं० स्थपुट, हरि० तूड़ी ← सं० त्रुटित, हरि० कपड़ा ← सं० कर्पट, हरि० किवाड़ ← सं० कपाट, हरि० घड़ा ← सं० घट, हरि० कडुआ ← सं० कटुक, हरि० अर्ड़ा ← सं० आ+रट्, हरि० बीडा ← सं० बीटग, हरि० राड़ ← सं० राटि, हरि० काकड़ी ← सं० कर्कटिका, हरि० भाड़न् ← सं० भाटन, हरि० वाड़ी ← सं० वाटिका, हरि० भड़ ← सं० भट, हरि० साड़ी ← सं० शाटिका ।

(६) प्राकृ० 'ल्ल' से, यथा :—

हरि० उखेड् ← प्राकृ० उखिल्ल ।

(७) प्राकृ० 'र' से, यथा :—

हरि० ओम्ड़ी ← प्राकृ० ओम्हरी, हरि० चीच्चड् ← प्राकृ० चिचर, हरि० फेफड़ा ← प्राकृ० फेफरा ।

(८) प्राकृ० 'ट्' से, यथा :—

हरि० चपेड् ← प्राकृ० चपेटा ।

(९) सं० 'ड्' से, यथा :—

हरि० कड्कड़ा ← सं० कडकडा, हरि० पीड् ← सं० पीडा, हरि० जड् ← सं० जड, हरि० नाड़ी ← सं० नाडी ।

(१०) सं० 'ज्' से, यथा :—

हरि० ✓जोड़्←सं० ✓योजय् ।

(११) सं० 'ठ्' से, यथा :—

हरि० जरड़्←सं० जरठ ।

(१२) सं० 'र्' से, यथा :—

हरि० कुहाड़ी←सं० कुठारी, हरि० चिंघाड़्←सं० चीत्कार, हरि० भक्खड़्←सं० भास्कर ।

(१३) सं० 'त्' से, यथा :—

हरि० पिडुआ←सं० प्रतिगदा, हरि० पड़छावा←सं० प्रतिछाया,
हरि० ✓पड़्←सं० ✓पत्, हरि० बहेड़ा←सं० विभीतक, हरि०
किराड़्←सं० किरात ।

२४. हरियाणवी में आदि 'ढ्' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई :—

(१) सं० ढ्- से, यथा :—

हरि० दुक्←सं० दौक ।

(२) प्राकृ० ढ्- से, यथा :—

हरि० ढक्कण्←प्राकृ० ढंकण, हरि० ढीक्खर←प्राकृ० ढखर,
हरि० ढल्←प्राकृ० ढल, हरि० ढील्ला←प्राकृ० ढिल्ल ।

(३) सं० -ध्- से, यथा :—

हरि० ढाई←सं० अध-तृतीय ।

२५. हरियाणवी में मध्य तथा अन्त्य 'ढ्' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई :—

(१) सं० 'ढ्' से, यथा :—

हरि० साढ्←सं० आसाढ, हरि० गाँड्ढा←सं० गाढ ।

(२) प्राकृ० -ढ्- से, यथा :—

हरि० ✓ओढ्←प्राकृ० ✓ओड्ढ, हरि० सौड्ढी←प्राकृ० सिड्ढिआ
हरि० गढ्←प्राकृ० गढ, हरि० चढ्←प्राकृ० चढ, हरि० डाँड्ढी←
प्राकृ० दाडिआ ।

(३) सं० 'ट्' से जबकि इसके पश्चात् हकार आए—

हरि० कढाई←सं० कटाह ।

(४) सं० 'थ्' से, यथा :—

हरि० काढ्←सं० क्वथ ।

(५) सं० '-ढ्-' में मिलने वाले 'ट्' से, यथा :—

हरि० कोड्ढी←सं० कुष्टिन् , हरि० लोड्ढी←सं० लोष्ट ।

(६) सं० '-ठ्-' से, यथा :—

हरि० कंठी←सं० कण्ठिका, हरि० मंढी←मठिका ।

(७) सं० '-द्ध्-' में मिलने वाले 'ध्' से :—

हरि० वूड्ढा←सं० वृद्ध ।

(८) सं० '-ऋध्-' से, यथा :—

✓बद्ध←सं० ✓वृद्ध , ✓बढा←सं० ✓वर्ध् ।

२६. हरियाणवी आदि 'त' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई :—

(१) सं० के '-त्-' से, यथा :—

हरि० ताम्बा←सं० ताम्र, हरि० तौक्कू←सं० तर्कु, हरि० तला←
तडाग, हरि० तत्←सं० तत्त्व, हरि० तौत्ता←सं० तप्त, हरि० तारा←
सं० तारक ।

(२) सं० 'तृ-' से, यथा :—

हरि० तइआ←सं० तृतीय, हरि० तणिआ←सं० तृणक, हरि०
✓तर्←सं० ✓तृ, हरि० तिस्←सं० तृषा ।

(३) सं० 'त्व-' से, यथा :—

हरि० तुरत्←सं० त्वरित, हरि० तौ←सं० त्वम् ।

(४) सं० 'त्रि' से, यथा :—

हरि० तिरलोककी←सं० त्रिलोकी, हरि० ताण्←सं० त्राण,
हरि० तास्←सं० त्रास् , हरि० तीन्←सं० त्रीणि, हरि० तिकूण←
सं० त्रिकोण, हरि० तिग्गी←सं० त्रिकक ।

२७. हरियाणवी मध्य तथा अन्त्य 'त्' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई :—

(१) सं० '-त्-' →हरि० -त्-

हरि० उणहत्तर←सं० एकोनसप्तति, हरि० चुहत्तर←सं० चतुस्सप्तति,
हरि० छूँत्ता←सं० छुप्त, हरि० तौत्ता←सं० तप्त ।

(२) सं० '-त्र्-' या '-न्त्र्-' से, यथा :—

हरि० चलत्तर←सं० चरित्र, हरि० उणत्ती←सं० एकोनत्रिंशत्,
हरि० जिन्←सं० यत्र, हरि० पून्←सं० पुत्र, हरि० कित्←सं० कुत्र,

हरि० गात् ← सं० गात्र, हरि० जात् ← सं० यात्रा, हरि० गोत् ← गोत्र ।

(३) सं० -त्व- से, यथा :—

हरि० अड़तालीस् ← सं० अष्टचत्वारिंशत्, हरि० माम्ता ← सं० ममत्व, हरि० तत् ← सं० तत्त्व ।

(४) सं० -त्- से, यथा :—

हरि० अत् ← सं० अति, हरि० इत् ← सं० इतः, हरि० धात् ← सं० धातु, हरि० मत् ← सं० मति, हरि० रीत् ← सं० रीति ।

(५) सं० -त्- से, यथा :—

हरि० उतार ← सं० उत्तार, हरि० चित् ← सं० चित्त, हरि० धतूरा ← सं० धत्तूर, हरि० पित् ← सं० पित्त, हरि० भीत् ← सं० भित्ति ।

(६) सं० -त्- से, यथा :—

हरि० कर्तब् ← सं० कर्तव्य, हरि० भर्तार् ← सं० भर्तृ ।

(७) सं० -द्- से, यथा :—

हरि० √छेत् ← सं० √छिद्, हरि० जस्त् ← सं० जसद् ।

(८) सं० 'क्त्र-' → -त्- से, यथा :—

हरि० जोत्ता ← सं० योक्त्र ।

(९) सं० 'नृत्-' → हरि० -त्-

हरि० नोत्ती ← सं० नपृक् ।

(१०) सं० -त्य्- से, यथा :

हरि० नित् ← सं० नित्य, हरि० मोत् ← सं० मृत्यु ।

(११) सं० 'क्त-' → -त्- या -त्-

हरि० भात् ← सं० भक्त, हरि० मोत्ती ← सं० मुक्ता, हरि० सत् ← सं० शक्ति, हरि० सत्त् ← सं० सक्तु ।

(१२) सं० -त्- से, यथा :—

हरि० सोत् ← सं० सपत्नी ।

२८. हरियाणवी के आदि 'थ्-' की उत्पत्ति निम्नलिखित स्रोतों से हुई :—

(१) सं० 'स्थ' से, यथा :—

हरि० थड़ा ← सं० स्थपुट, हरि० थली ← सं० स्थली, हरि० थलिआ ← सं० स्थालिका, हरि० थिर ← सं० स्थिर ।

(२) सं० 'स्त' से, यथा :—

हरि० थम्बा←सं० स्तम्भ, हरि० थण्←सं० स्तन ।

२६. हरियाणवी के मध्य तथा अन्त्य 'थ्' की उत्पत्ति निम्नलिखित स्रोतों से हुई है :—

(१) सं० 'त्-' से, यथा :—

हरि० कंथा←सं० कान्त ।

(२) सं० -थ्- से, यथा :—

हरि० चोथ्←सं० चतुर्थी ।

(३) सं० 'स्त्' से, यथा :—

हरि० सथिआ←सं० स्वस्तिका, हरि० हाथ्←हस्त, हरि० पाँत्थर्←सं० प्रस्तर, हरि० मॉत्था←सं० मस्तक ।

(४) सं० '-न्थ्-' से, यथा :—

हरि० ✓मथ्←सं० ✓मन्थ्, हरि० मथणी←सं० मन्थनिका ।

(५) सं० -र्थ- से, यथा :—

हरि० साथ्←सं० सार्थम् ।

(६) सं० '-स्थय्-' से, यथा :—

हरि० सुथ्रा←सं० सौस्थ्य ।

३०. हरियाणवी के आदि 'द्-' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई :—

(१) सं० 'द्-' से यथा :—

हरि० दिङ्गणा←सं० दक्षिणा, हरि० दांती←सं० दात्र, हरि० दाद्←सं० दाद, हरि० दिलदर←सं० दरिद्र ।

(२) सं० 'दृ' से, यथा :—

हरि० देख←सं० दृश् ।

(३) सं० 'द्र' से, यथा :—

हरि० दाख्←सं० द्राक्षा, हरि० दरब्←सं० द्रव्य ।

(४) सं० 'द्व' से, यथा :—

हरि० दर←सं० द्वार, हरि० दूणा←सं० द्विगुण, हरि० दो←सं० द्वौ ।

(५) सं० '-ध्' से, यथा :—

हरि० दाई←सं० धातृ ।

(६) प्राकृ० 'ढ-' से, यथा :—

हरि० दिल्ली ← ठिल्ली ।

३१. हरियाणवी के मध्य तथा अन्त्य 'द्' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई :—

(१) सं० 'ज्-' से, यथा :—

हरि० आद्दला ← सं० अब्जलि ।

(२) सं० 'त्र्-' से, यथा :—

हरि० आद् ← सं० अन्त्र ।

(३) सं० 'द्-' से, यथा :—

हरि० अदेस् ← सं० आदेश, हरि० गूंदणी ← सं० इङ्गुदी,
हरि० बिदेस् ← सं० विदेश ।

(४) प्राकृ० 'न्-' से, यथा :—

हरि० खाद् ← प्राकृ० खत्त ।

(५) सं० 'र्द-' से, यथा :—

हरि० चोदस् ← सं० चतुर्दशी, हरि० वाँदल ← सं० वार्दल ।

(६) सं० 'द्र-' से, यथा :—

हरि० चाद् ← सं० चन्द्र, हरि० दाद् ← सं० दद्रु, हरि० हलदी ←
सं० हरिद्रा ।

(७) सं० 'ह-' से, यथा :—

हरि० नणाद् ← सं० ननान्ह ।

(८) सं० 'न्त-' से, यथा :—

हरि० दांद् ← सं० दन्त, हरि० पांद् ← सं० प्रान्त ।

(९) सं० 'ध्-' से, यथा :—

हरि० खुद्या ← सं० जुधा ।

३२. हरियाणवी के आदि 'ध्-' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई :

(१) सं० 'ध्-' से, यथा :—

हरि० धूल ← सं० धूलि, हरि० धणी ← सं० धनिक, हरि० धान् ←
सं० धान्य, हरि० धन् ← सं० धन्य, हरि० धीरज् ← सं० धैर्य ।

(२) प्राकृ० 'ध-' से, यथा :—

हरि० धण् ← प्राकृ० धणिआ, हरि० धुणिआ ← प्राकृ० धुणिया ।

(३) सं० ध्र- से, यथा :—

हरि० धरू ← सं० ध्रुव ।

(४) सं० 'ध्व-' से, यथा :—

हरि० धुन् ← सं० ध्वनि ।

(५) 'ह्' से पूर्ववर्ती 'द्' से, यथा :—

हरि० धी ← सं० दुहिता ।

३३. हरियाणवी के मध्य तथा अन्त्य 'ध्' की उत्पत्ति निम्न-लिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० -ध्- से, यथा :—

हरि० अंधेरा ← सं० अंधकार, हरि० कांध् ← सं० स्कन्ध ।

(२) सं० -र्द्ध- से, यथा :—

हरि० गधा ← सं० गर्दभ ।

(३) सं० -घ्र- से, यथा :—

हरि० गीध् ← सं० गृध्र ।

(४) सं० -ग्ध्- -द्ध- से, यथा :—

हरि० दूध् ← सं० दुग्ध, हरि० सुध् ← सं० शुद्ध ।

(५) सं० -ध्य- से, यथा :—

हरि० मध् ← सं० मध्य ।

(६) सं० -द्धे- द्ध से, यथा :—

हरि० आद्धा ← सं० अद्धे ।

(७) सं० -र्ध- से, यथा :—

हरि० वधाई ← सं० वर्धन ।

३४. हरियाणवी के आदि -प्- की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० -प्- से, यथा :—

हरि० पांग्ला ← सं० पङ्गुल, हरि० पंछी ← सं० पक्षिन्, हरि० पांख ← सं० पक्ष, हरि० पचात् ← सं० पञ्चत्व, हरि० पांस्ली ← सं० पांशुलि, हरि० पाट्टी ← सं० पट्टिका, हरि० पर्वार ← सं० परिवार ।

(२) सं० -प्र- से, यथा :—

हरि० पोली ← सं० प्रतोली, हरि० पंजाली ← सं० प्राञ्जलि, हरि० पांद् ← सं० प्रान्त, हरि० पलीत्ता ← सं० प्रदीप्त, हरि० पहर ← सं० प्रहर,

हरि० पिआ ← सं० प्रिय ।

(३) सं० -पृ- से, यथा :—

हरि० पीठ ← सं० पृष्ठ ।

३५. हरियाणवी के मध्य तथा अन्त्य -प्- की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० -त्म्- से, यथा :—

हरि० आपणा ← सं० आत्मनः ।

(२) सं० -त्प- से, यथा :—

हरि० उपज् ← सं० उत्पद्य ।

(३) सं० -प्- से, यथा :—

हरि० ताप् ← सं० तप्, हरि० धूप ← सं० धूप, हरि० लेप्पण् ← सं० लेपन, हरि० ऊप्पर् ← सं० उपरि ।

(४) सं० -र्प्- से, यथा :—

हरि० पाप्ड़ी ← सं० पपेटिका, हरि० काप्ड़ा ← सं० कर्पट, हरि० साप् ← सं० सर्प, हरि० कपास् ← सं० कर्पास, हरि० कपूर ← सं० कर्पूर ।

(५) प्राकृ० -प्प्- से, यथा :—

हरि० बाप् ← प्राकृ० बप्प, हरि० लाप्सी ← प्राकृ० लप्पसिया ।

(६) सं० -प्य- से, यथा :—

हरि० रपइआ ← सं० रुप्य ।

३६. हरियाणवी आदि 'फ्-' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० फ्- से, यथा :—

हरि० फाग् ← सं० फल्गु, हरि० फल् ← सं० फल, हरि० फाल् ← सं० फालि ।

(२) सं० स्फ्- से, यथा :—

हरि० फाट् ← सं० स्फट्, हरि० फोड़ा ← सं० स्फोटिका, हरि० फुरण् ← सं० स्फुरण ।

(३) सं० प्- से, यथा :—

हरि० फास् ← सं० पाश, हरि० फर्सा ← सं० परशु ।

३७. हरियाणवी मध्य तथा अन्त्य 'फ्' की उत्पत्ति निम्नलिखित से हुई है :—

(१) सं० -ष्प्- से, यथा :—

हरि० भांफ् ← सं० वाष्प ।

(२) सं० -प्य्- से, यथा :—

हरि० ल्हेफ् ← सं० लेप्या ।

(३) सं० -त्प- से, यथा :—

हरि० उफण् ← सं० उत्पतन ।

(४) सं० -फ्- से, यथा :—

हरि० कफ् ← सं० कफ, हरि० सुफल् ← सं० सफल ।

(५) प्राकृ० -फ्- से, यथा :—

हरि० गोफिआ ← प्राकृ० गोफणा ।

३८. हरियाणवी के आदि व् की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :

(१) सं० व्- से, यथा :—

हरि० वली ← सं० वलिन्, हरि० वाँदी ← सं० बंदी, हरि० ✓वांथ् ← सं० ✓बन्ध्, हरि० विन्दी ← सं० विन्दु ।

(२) प्राकृ० व्- से, यथा :—

हरि० वेल्ल ← प्राकृ० बइल्ल, हरि० बाप्प ← प्राकृ० वप्प, हरि० बाबूरी ← प्राकृ० बबूरी ।

(३) सं० व्र- से, यथा :—

हरि० बाह्वण् ← सं० ब्राह्मण ।

(४) सं० द्व- से, यथा :—

हरि० बार् ← सं० द्वार, हरि० बत्ती ← सं० द्वात्रिंशत्, हरि० बिआलीस् ← सं० द्विचत्वारिंशत् ।

(५) सं० व्र- से, यथा :—

हरि० बोल् ← सं० ब्रू ।

(६) सं० वृ- से, यथा :—

हरि० बिच्छू ← सं० वृश्चिक, हरि० वूँड्ढा ← सं० वृद्ध, हरि० वरस् ← सं० वर्ष ।

(७) सं० भ्- से, यथा :—

हरि० बाँह्ण्^{*} ← सं० भगिनी ।

(८) सं० ज्व- से, यथा :—

हरि० √बल् ← सं० √ज्वल् ।

(९) सं० ब्र्- से, यथा :—

हरि० बर्त्ती ← सं० ब्रतिन् ।

(१०) सं० व्- से, यथा :—

हरि० बसाख् ← सं० वैशाख, हरि० बांका ← सं० वङ्क, हरि० बांम्ह ← सं० वन्ध्या, हरि० बांस् ← सं० वंश, हरि० बक्कल् ← सं० बल्कल, हरि० बर् ← सं० वर, हरि० बांस् ← सं० वास ।

(११) सं० व्य- से, यथा :—

हरि० बखाण् ← सं० व्याख्यानम्, हरि० बाघ् ← सं० व्याघ्र ।

(१२) सं० -प्- से, यथा :—

हरि० बी ← सं० अपि ।

३९. हरियाणवी मध्य तथा अन्त्य 'व्-' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० -ड्व्- से, यथा :—

हरि० छब्बी ← सं० षड्विंशति ।

(२) सं० -म्ब्व्- से, यथा :—

हरि० नींब्बू ← सं० निम्बुक, हरि० अटंबर् ← सं० आडम्बर, हरि० जंवू ← सं० जम्बुक, हरि० नींब् ← सं० निम्ब ।

(३) सं० -र्ब्व्- और -र्व्व्- से, यथा :—

हरि० पूरब् ← सं० पूर्वं, हरि० दूब्ला ← सं० दुर्बल, हरि० दूब् ← सं० दूर्वा, हरि० कब्रा ← सं० कर्बुर, हरि० सर्बस् ← सं० सर्वस्व ।

(४) सं० -व्व्- से, यथा :—

हरि० निव्वे ← सं० नवति, हरि० देव्वी ← सं० देवी, हरि० धोव्वी ← सं० धावक, हरि० सिब्जी ← सं० शिव ।

(५) प्राकृ० -व्व्- से, यथा :—

हरि० गोव्वर् ← प्राकृ० गोव्वोर ।

(६) सं० द्व्- से, यथा :—

हरि० चुबारा ← सं० चतुर्द्वार ।

(७) सं० -म्भ- से, यथा :—

हरि० कसूँबी ← सं० कुसुम्भी, हरि० थांवा ← सं० स्तम्भ, हरि० खंभा ← सं० स्कम्भ ।

(न) सं० -त्र- से, यथा :—

हरि० √इव् ← सं० √ब्रुड ।

(६) सं० -व्- से, यथा :—

परवल् ← सं० प्रवल ।

४०. हरियाणवी के आदि 'भ्-' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :

(१) सं० 'भ्-' से, यथा :—

हरि० भाड़ा ← सं० भाटक, हरि० भांड ← सं० भण्ड, हरि० भंडारा ← सं० भाण्डागार, हरि० भाग् ← सं० भाग्य, हरि० भड् ← सं० भट, हरि० भाण्जा ← सं० भागिनेय ।

(२) सं० 'भृ-' से, यथा :—

हरि० भांग् ← सं० भृग ।

(३) सं० 'भ्र-' से, यथा :—

हरि० भौरा ← सं० भ्रमर, हरि० भट्टा ← सं० भ्राष्ट्र, हरि० भाई ← सं० भ्रातृ ।

(४) सं० 'ब्-' से, यथा :—

हरि० भौक् ← सं० बुक्क, हरि० भुस् ← सं० बुस ।

(५) सं० 'म्-' से, यथा :—

हरि० मेड् ← म्हेड ← मेह + ड ← सं० मेष ।

(दे० भो० आ० सा० पृ० १४१)

(६) सं० तथा प्राकृ० 'व-' से, यथा :—

हरि० भडार ← प्राकृ० वडटार ← सं० वर्धय् ।

(७) सं० '-भ्य्-' से, यथा :—

हरि० भीत्त् ← सं० अभ्यन्तर, हरि० भीज् ← सं० अभ्यञ्ज ।

४१. हरियाणवी के मध्य तथा अन्त्य 'भ' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० '-व्-' से, यथा :—

हरि० कुभडडा ← सं० कबेट ।

- (२) सं० 'ह्व्' से, यथा :—
हरि० जीम् ← सं० जिह्वा ।
- (३) सं० 'भ्व्' से, यथा :—
हरि० डाभ् ← सं० दर्भ, हरि० ढूँभर् ← सं० दुर्भर ।
- (४) सं० 'व्व्' से, यथा :—
हरि० निम् ← सं० निर्वह् ।
- (५) सं० 'भृ' से, यथा :—
√सांभर् ← सं० सं+√भृ ।
- (६) सं० 'भ' से, यथा :—
हरि० सुभ् ← सं० शुभ ।

आधुनिक हरियाणवी के अनुनासिक

(ङ्, ञ्, ण्, न्, म्)

४२. हरियाणवी में अनुस्वार की ध्वनि संस्कृत की तरह किसी वर्ग के पंचम वर्ण जैसी होती है। अस्तु, 'ङ्' और 'ञ' की ध्वनियों का स्वरूप हरियाणवी में अनुस्वार के रूप में ही देखने को मिलेगा। इसके अतिरिक्त देवनागरी लिपि की वर्णमाला में स्वरों का उच्चारण करते समय 'अं' की ध्वनि 'अङ्' के रूप में उच्चरित होती हुई सुनाई देगी तथा कवर्ग का उच्चारण करते समय इसके पंचम वर्ण 'ङ्' का उच्चारण सामान्यतः 'अङ्ग' के रूप में मिलेगा।

'ङ्' और 'ञ' की ध्वनियां प्रा० भा० आ० भा० में भी अपने 'ङ्ङ्' का प्रयोग भी प्रा० भा० आ० भा० में देखने को मिलेगा^१। ये ध्वनियां अपभ्रंशों में नहीं मिलती तथापि डा० सुनीति कुमार चैटर्जी ने टिपरा (लोक नाथ) के शिलालेख में 'ङ्' की ध्वनि की विद्यमानता का उल्लेख किया है^२ परन्तु इसकी समकालीन अपभ्रंश कृतियों में 'ङ्' ध्वनि का प्रयोग नहीं मिलता^३, कदाचित् मध्यकालीन बंगला में इस ध्वनि अर्थात् 'ङ्' का अस्तित्व इस बात का द्योतक है कि बोलचाल की मागधी अपभ्रंश में यह ध्वनि विद्यमान रही हो।

संस्कृत में अपने वर्ग के व्यञ्जन के लोप के पश्चात् 'न्' के रूप में ही

१. स्था० द० श० : हरि० की भा० पृष्ठ १४ ।

२. उ० ना० ति० : भो० भा० सा० पृष्ठ १४२ ।

३. सु० कु० चै० : अं० लै० २८३ ।

४. स्था० दा० श० : हरि० भा० पृष्ठ १७ ।

मिलता है यथा—ज्ञान→ज्ञान, अन्य→अन्य'। इसके पश्चात् की प्राकृतों में इस वर्ण ने व्यञ्जन से पूर्व अनुस्वार का तथा पहली ओर -ण् का रूप धारण कर लिया था। सम्भवतः इसी लिए अपभ्रंशकाल में 'ञ्' का लगभग अभाव मिलता है और 'ण्' उसका स्थान ले लेता है।

प्रा० भा० आ० भा० का न् और ण्

४३. प्रा० भा० आ० भा० (वै० संस्कृत) में 'न' सभी अवस्थाओं में और 'ण्' शब्द के प्रारंभ के अतिरिक्त अन्य सभी स्थानों में बहुलता से प्रयुक्त होता है। लौकिक संस्कृत में 'न' और 'ण्' के प्रयोग को नियमित करने के लिए पाणिनि जी को सूत्र भी बनाना पड़ा, जिससे प्रतीत होता है कि 'न' और 'ण्' के प्रयोग में वैयक्तिक रुचि घर करने लग गई थी और इसे रोकना तात्कालिक वैयक्तिकरणों के लिए आवश्यक बन गया। प्राकृतों में 'ण्' के प्रति स्वाभाविक आकर्षण इस कथन की पुष्टि करता है। वहां संस्कृत के 'न' को—चाहे वह आदि, मध्य अथवा अन्त में हो—'ण्' हो गया और एक प्रकार से 'न' का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। (नो णः-प्राकृत मंजरी द्वि० परि० सूत्र सं० ३८ पर कात्यायिन कारिका)^१। अपभ्रंश की उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों में गड़बड़ घुटाला है। यहां केवल एक हस्तलिखित प्रति में कहीं 'न' मिलता है तो उसी अवस्था में कहीं 'ण्' मिलता है। इस लिए सम्पादकों ने सामान्य रूप से आदि अवस्था में 'न' और शेष सभी स्थानों पर 'ण्' अपनाया है^२।

'ण्' हरियाणवी का पुराना प्रिय अक्षर है—इतना प्रिय कि अपने अनुकूल वातावरण में उपलब्ध विदेशी नकार को भी इसने सर्वत्र गणकार का रूप दे लिया है। हरियाणवी में गणकार आदि अक्षर में नहीं मिलेगा किन्तु मध्य और अन्त की अवस्थाओं में इसका प्रयोग बहुलता से मिलता है। आदि अक्षर में यहां सवथा 'न' ही मिलेगा। हरियाणवी के मध्य तथा अन्त्य 'ण्' और आदि मध्य तथा अन्त्य 'न' की उत्पत्ति पर आगे चल कर विचार किया गया है। संस्कृत के संयुक्त 'ण्' और 'न' हरियाणवी में अनुस्वार के रूप में मिलेंगे।

प्रा० भा० आ० भा० का 'म्'

४४. प्रा० भा० आ० भा० का आदि 'म्' म० भा० आ० भा० में भी सुरक्षित रहा और हरियाणवी में वह अपरिवर्तित रूप में विद्यमान है। प्रा० भा० आ० भा० का मध्य तथा अन्त्य 'म्' प्राकृत में कहीं कहीं 'व्' या 'व्' में भी बदल गया। इस

१. उ० ना० ति० भो० भा० सा० पृष्ठ १४२।

२. सर्वत्र नस्य णत्वं स्यात् पानं पाणं, नदी णई।

३. गो० वा० त० : हि० प्रा० अप० पृष्ठ ७४ और ७५।

लिए हरियाणवी में प्रा० भा० आ० भा० का मध्य तथा अन्त्य 'म्', 'म' के रूप में भी मिलता है (यथा—सोमोत्ती←सं० सोमवती, गाम्←सं० ग्राम आदि)। प्राकृत '॰ब्' में बदलने वाली 'म्' की ध्वनि हरियाणवी में '॰व्' के रूप में (यथा—आंब्←प्राकृत० अंब←सं० आम्र) और '॰व' में बदलने वाली ध्वनि '॰अ' के रूप में मिलती है (यथा—कुंआरा←कुंवर←कुमार)। इसके अतिरिक्त हरियाणवी में प्रा० भा० आ० भा० का मध्य तथा अन्त्य 'म्' अनुस्वार के रूप में भी मिलता है, यथा—आं←सं० आम, नां←सं० नाम→नांव। कई एक उदाहरण ऐसे भी हैं जहां 'म्' का सव्था लोप हो गया है या 'म्' → 'प्' में बदल गया है, यथा—आँप्पा←आत्मा, के←किम्। इसके विपरीत, 'प्', 'द्', 'व्' या 'य्' से उद्भूत तत्सम शब्दों में स्वतः अनुनासिकत्व भी पाई जाती है या 'प्' या 'व्' आदि 'म्' में बदले पाए जाते हैं, यथा :—

हरि० उज्मण्←सं० उद्यापन, हरि० चमोल्ता←प्राकृत० चउबोल←सं० चौबोल,
हरि० भीम्मर←सं० धीवर, हरि० छां←सं० छाया, हरि० गोणां←सं० गमन,
हरि० सॉम्मण्←सं० सावन।

४५. आधुनिक हरियाणवी में आदि 'ण्' का अभाव है। म० भा० आ० भा० (प्राकृत) में आदि 'ण्' मिलता है परन्तु हरियाणवी में ऐसे सभी स्थानों पर दन्त्य 'न्' ही मिलता है।

४६. आधुनिक हरियाणवी मध्य तथा अन्त्य 'ण्' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० -ण्- से, यथा :—

हरि० कांगणी←सं० कङ्कण, हरि० काणा←सं० काण, हरि० ✓गिण्←
✓सं० ✓गण्य।

(२) सं० '-न्' से, यथा :—

हरि० धाणक्←सं० धानुष्क, हरि० उण्सट←सं० ऊनषष्टि, हरि०
उण्हत्तर←सं० ऊनसप्तति, हरि० हुणिआर्←सं० अनुहार, हरि०
कहण्←सं० कथन, हरि० काहणी←सं० कथानक, हरि० गिलाण्←
सं० ग्लानि।

(३) सं० '-ञ्' से, यथा :—

हरि० आण्←सं० आज्ञा, हरि० राणो←सं० राज्ञी।

४७. आधुनिक हरियाणवी के आदि 'न्' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० 'न्' से, यथा :—

हरि० निव्वे←सं० नवति, हरि० न्योला←सं० नकुल, हरि० नेण्←

सं० नयन, हरि० ना←सं० नौ, हरि० नेम्←सं० नियम ।

(२) सं० 'नृ-' से, यथा :—

हरि० नाच्←सं० नृत्य ।

(३) प्राकृ० 'ण्-' से, यथा :—

हरि० नाक्←प्राकृ० णक्क, हरि० नाथ्←प्राकृ० णत्था, हरि० नेहर्णां←प्राकृ० णहरणी ।

(४) सं० स्न्-→हरि० न्ह, हरि० √न्हा←सं० √स्ना, हरि० न्हाण्←सं० स्नान, हरि० न्हरुआ←सं० स्नायु ।

(५) सं० 'ञ्' अथवा 'ञ्' से, यथा :—

हरि० न्याणा←सं० अज्ञानक ।

(६) सं० -र्- से (कदाचित् र्→ल्→न्) यथा :—

हरि० नेञ्जू←सं० रञ्जु→प्राकृ० लञ्जु ।

४८. आधुनिक हरियाणवी के मध्य तथा अन्त्य 'न्' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० 'न्-' से, यथा :—

हरि० पोन्←सं० पवन, हरि० उन्तालीस्←सं० ऊनचत्वारिंशत्, हरि० जुन्←सं० योनि, हरि० अंजन्←सं० अब्जन ।

(२) सं० 'ण्' से, यथा :—

हरि० सुनार्←सं० स्वर्णकार, हरि० ऊन्←सं० ऊर्णा, हरि० कान्←सं० कर्ण, हरि० चून्←सं० चूर्ण, हरि० बानगी←सं० वर्णिका ।

(३) सं० 'ष्ण्' ←हरि० न्ह से, यथा :—

हरि० कन्हिआ←सं० कृष्ण ।

(४) सं० 'ञ्' से, यथा :—

हरि० चम्मन्←चव्वन←चउपन्न←चउपन्नास←सं० चतुष्वशात्, जनेऊ←जणोबई←सं० यज्ञोपवीत ।

(५) सं० 'न्य्' से, यथा :—

हरि० धान्←सं० धान्य, हरि० धन्←सं० धन्य ।

(६) सं० 'ण्य्' से, यथा :—

हरि० पुन्←सं० पुण्य ।

४६. हरियाणवी के आदि 'म्-' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० 'म्-' से, यथा :

हरि० मत् ← सं० मति, हरि० मोर् ← सं० मयूर, हरि० मक्ड़ा ← सं० मर्कट, हरि० मंग्ली ← सं० माङ्गलिक, हरि० मीँडङ्क् ← सं० मण्डूक ।

(२) सं० 'म्र-' से, यथा :—

हरि० माक्खन् ← सं० म्रक्ष्ण ।

(३) सं० 'मृ-' से, यथा :—

हरि० मोत् ← सं० मृत्यु, हरि० √मांज् ← सं० √मृज्, हरि० माँट्टी ← मृत्तिका ।

(४) सं० 'श्म-' से, यथा :—

हरि० मसाण् ← सं० श्मशान, हरि० मूँछ् ← सं० श्मश्रु ।

(५) प्राकृ० 'व्-' से, यथा :—

हरि० मुक्का ← प्राकृ० वुक्क ।

५०. हरियाणवी के मध्य तथा अन्त्य 'म्' की उत्पत्ति निम्न रूप से हुई :—

(१) सं० 'म्ब-' से, यथा :—

हरि० अम्डी ← सं० अम्बा, हरि० चूम् ← सं० चुम्ब ।

(२) सं० 'म्प-' से, यथा :—

हरि० उज्मण् ← सं० उद्यापन, हरि० चम्मन् ← सं० चतुःपञ्चाशत् ।

(३) सं० 'न्म्-' से, यथा :—

हरि० उमग् ← सं० उन्मग्न, हरि० उन्मण् ← सं० उन्मनस्, हरि० उम्हा → सं० उन्माथ ।

(४) सं० 'र्म-' से, यथा :—

हरि० धरम् ← सं० धर्म, हरि० करम् ← कर्मन्, हरि० घाम् ← घर्म, हरि० चाम् ← सं० चर्म ।

(५) सं० 'म्-' से, यथा :—

हरि० नेम् ← सं० नियम, हरि० गाम् ← सं० ग्राम, हरि० जम् ← सं० यम, हरि० जमाई ← सं० जामातृ ।

(६) सं० 'व्-' से, यथा :—

हरि० चमोँल्ला ← सं० चौबोल ।

- (७) सं० 'म्भ्' → हरि० म्भः—
 हरि० जम्हाई ← सं० जम्भा ।
- (८) सं० 'न्' से, यथा :—
 हरि० √जाम् ← सं० √जन् ।
- (९) सं० 'क्' से, यथा :—
 हरि० जूम् ← सं० यूका ।
- (१०) सं० 'व्' से, यथा :—
 हरि० भीम्मर् ← सं० धीवर, हरि० सीम् ← सं० सीव ।

अर्द्ध-स्वर 'य्', 'व्'

५१. हरियाणवी में यकार से आरम्भ होने वाले शब्दों की संख्या नगण्य है। इसका कारण यह है कि वैदिक काल में ही यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा से यकारादि शब्दों को जकारादि बोलने की प्रथा चल पड़ी थी और यही प्रथा प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं को प्रभावित करती हुई आ० भा० आ० भा० तक अलुण्ण बनी हुई है।

हरियाणवी के 'याणा' ← अज्ञानक और स्याणा ← सज्ञानक, शब्दों में स्पष्ट रूप से जकार को यकार हो गया है परन्तु ये अपनी किस्म के आप ही उदाहरण हैं।

यारी या याड़ी शब्द फारसी के यार का प्रतिरूप है। इसके अतिरिक्त सर्वनाम यो, योह या (स्त्री०) और ये (बहु व० रूप) में 'य्' देखने को मिलता है। 'त्योड़ी', 'ब्याल्' और 'ब्याह' वर्ग के शब्दों में प्राकृत के सम्पर्की स्वरों के पारस्परिक मेल से उद्भूत 'य्' दिखाई दे रहा है—त्योड़ी ← तिउरी ← त्रिपुरी, ब्याल् ← विआल्लिउ, ब्याह् ← विआह् ← विवाह् ।

हरियाणवी में उपर्युक्त उदाहरणों से भी अद्भुत एक दो अन्य उदाहरण मिलते हैं, यथा :—

'स्योम्मी' ← स्वामी, लोह्ठी ← यष्टि^१। जहां संस्कृत 'व्' का स्थान 'य्' ने और 'य' का 'ल' ने ग्रहण कर लिया है।

५२. मध्य तथा अन्त्य 'य्'—हरियाणवी में मध्य तथा अन्त्य 'य्' निम्नलिखित स्थितियों में मिलेगा :—

- (१) तत्सम अथवा अर्धतत्सम शब्दों में, यथा :—

काया, माया, पराया (परकीय) आदि ।

१. यष्टया लः ३० द्वि० परि० 'यष्टि' शब्दे भवेदोदर्यकारस्य लकारता' यष्टि स्तेन च लट्ठी स्यात् पूर्वसूत्रापवादतः प्राकृ मं० ।

(२) तालव्यीकरण के फलस्वरूप—खुद्या (जुधा) ।

(३) कृदन्त के रूपों में—तिसाया←तिसिय←तृषित ।

उपरिलिखित स्थिति के अतिरिक्त शेष स्थानों पर प्रा० भा० आ० भा० के 'य्' की निम्नलिखित स्थितियां द्रष्टव्य हैं :—

(१) 'य्' → 'ज्' :

हरि० संजोग्←सं० संयोग, हरि० बाँज्जा←सं० बाद्य, हरि० भाण्जा←
भागिनेय, हरि० काल्जा←सं० कालेयक ।

(२) 'य्' → ए, या ऐ :

हरि० कल्लेवार्←सं० कल्यवर्त, हरि० नेम्←सं० नियम, हरि० सेज्←
सं० शय्या, हरि० विसे←सं० विषय ।

(३) 'य्' → आ, ओ :

हरि० समों, समां←सं० समय, हरि० ओस्थॉल्ला←सं० औषधालय,
हरि० सिवॉल्ला←सं० शिवालय ।

(४) 'य्' → ० अर्थात् अन्तिम अक्षर का 'य्' लुप्त हो गया है ।

हरि० वा←सं० वायु, हरि० ल्हेफ्←सं० लेप्या, हरि० भाग्←
सं० भाग्य ।

जैसे तालव्यीकरण की मनमानी प्रवृत्ति हरियाणवी की स्वभावगत विशेषता मानी जाती है उसी प्रकार मध्य या अन्त्य 'य्' को लुप्त करने की प्रवृत्ति भी यहाँ स्वाभाविक है ।

५३. यद्यपि 'व्' ध्वनि हरियाणवी की प्रकृति के अनुकूल नहीं है तथापि आदि और मध्य की स्थितियों में 'व्' मिल ही जाता है, यथा—सर्व० 'वा', 'वे', 'वोह्', 'वो', 'वार', 'वारी' (देर से), वार् (पाणी का वार) सिवॉस्सण (सुवासिनी), ऐतवार्, भिस्पत्वार, कल्लेवार् आदि । सामान्यतः सं० 'व्' सभी स्थानों पर 'व्' में बदल जाता है । सं० 'व्' → प्राक० 'व्व्' → हरि० 'व्' या 'भ' के रूप में उपलब्ध होता है यथा—सर्वस्व→सर्वस्, चर्व्→चवा, सर्व्→सभ, निर्वह्→निभ । जहां 'व्' का 'व्' नहीं बना, वहां हरि० में इसका या तो सर्वथा लोप हो गया है यथा—दे←देव, सोमार्←सोमवार या यह 'उ आ' या 'ओ' में बदल गया है—ग्रामाक→गमार→गंवार→हरि० गुआर, सलवण→सलोणा । हिन्दी के अधिकांश शब्दों में उपलब्ध-मध्य 'व-', 'उ आ-' के रूप में मिलेगा—जवार→जुआर, दिवार→दुआल, किवाड→कुआड़ आदि ।

विदेशी शब्दों में मिलने वाला आदि 'व' → 'उ' में बदल गया है यथा—
वज्जीर → उज्जीर, वकील → उकील ।

हरियाणवी में उपलब्ध 'व्' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० 'व्' से, यथा :—

हरि० वार् ← सं० वार, हरि० वार् (दैर) ← सं० वारा, हरि० सिवाँ-
स्सण ← सं० सुवासिनी, हरि० ऐंत्वार ← सं० आदित्यवार ।

(२) सं० 'य्' से, यथा :—

हरि० सुहावणा ← सं० सुखायन ।

(३) सं० 'प्' से, यथा :—

हरि० रिवाड़ी ← सं० राजपाटिका, हरि० भाद्रा ← भाद्रपद, हरि०
सवाया ← सं० सपाद, हरि० पिड़्वा ← सं० प्रतिपदा ।

(४) सं० 'म्' से, यथा :—

हरि० सांव्ला ← सं० श्यामल ।

टिप्पणी :— 'भाद्वा' का 'भादुआ' और 'सवाया' का 'सुआया' रूप भी मिलते हैं । इसीप्रकार सर्व० 'वो' या 'वोह्' का 'ओ' या 'ओह्' बनता जा रहा है ।

[र तथा ल]

५४. भा० आ० भाषाओं में 'र्' और 'ल्' के पारस्परिक व्यत्यय का क्रम प्राचीन काल से चला आ रहा है। वैदिक काल में ही तीन ऐसी उपभाषाएं बताई जाती हैं जिनमें भारोपीय 'र्' और 'ल्' की ध्वनियों का परिवर्तन तीन प्रकार से हुआ है। एक उपभाषा के अन्तर्गत 'र्' और 'ल्' का अन्तर स्पष्ट रूप से विद्यमान रहा है, दूसरी में 'र्' के स्थान पर लगभग सभी जगह 'ल्' मिलता है और तीसरी में 'ल्' के स्थान पर 'र्' की प्रधानता है। परन्तु संस्कृत समन्वयात्मक भाषा रही है जिसमें दोनों ध्वनियों को प्रमुख स्थान मिला। सम्भवतः इसी लिए आज की लगभग सभी आ० भा० आ० भाषाओं में चाहे वे वैदिक 'ल्' प्रधान उपभाषा से विकसित हुई चाहे 'र्' प्रधान उपभाषा से विकसित हुई—'र्' और 'ल्' विद्यमान हैं। हरियाणवी में 'र्' और 'ल्' दोनों प्रमुख ध्वनियां हैं और 'ल्' से भी बढ़ कर मूर्धन्य 'ल्' और भी अधिक प्रिय ध्वनि है। मूर्धन्य 'ल्' का आदि अक्षर में अभाव है पर वह शब्द के मध्य और अन्त्य की अवस्थाओं में बहुलता से मिलता है। स्मरण रहे कि यहां 'ल' और 'ल्' एक ही वातावरण में भी उपलब्ध हैं :—

खाल (चमड़ा), गाल (कपोल), खाल (पानी की नाली)

गाल (गली या गाली) ।

परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि विकास कालमें 'र्' और 'ल्' में पारस्परिक व्यत्यय हुआ ही नहीं। संस्कृत का 'र्' कहीं 'ल्' हो गया तो कहीं कहीं सं० 'ल्', 'र्' में भी बदल गया है, यहां तक कि सं० रज्जु से हरियाणवा में एक और 'ला' बन गया है तो दूसरी ओर यही 'ल्' एक कदम और आगे बढ़ कर 'न्' में बदल गया है तथा सं० रज्जु का 'नेज्जु' बन गया है।

हरियाणवी 'र' और 'ल्' की व्युत्पत्ति पर आगे विचार प्रस्तुत किया गया है।

५५. हरियाणवी के आदि 'र' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :

(१) सं० 'र्' से, यथा :—

हरि० राच् ← सं० रब्ज्, हरि० √राख् ← सं० √रच्, हरि० रंधीण् ← रन्धन, हरि० रात् ← सं० रात्रि।

(२) सं० 'ऋ' से, यथा :—

हरि० रींछ् ← सं० ऋच्छ, हरि० √रीम् ← सं० √ऋध्, हरि० रिण् ← सं० ऋण, हरि० रूंख् ← सं० वृक्ष।

(३) सं० 'ल्' से, यथा :—

हरि० रूल् ← प्राकृ० रूल ← सं० लुठ।

५६. हरियाणवी के मध्य तथा अन्त्य 'र्' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० 'र्' से, यथा :—

हरि० अर् ← सं० अपर, हरि० हीर् ← सं० आभीर, हरि० काँक्कर् ← सं० कर्कर, हरि० खेर् ← सं० खदिर, हरि० च्यार् ← सं० चतुर, हरि० मंदर् ← सं० मंदिर।

(२) 'त्', द् → ल् → र् से, यथा :—

हरि० चुहत्तर् ← सं० चतुस्सप्तति, हरि० उणहत्तर् ← सं० ऊनसप्तति, हरि० ग्यार ← सं० एकादशन्, हरि० बारा ← सं० द्वादश।

(३) रेफ सहित संयुक्त व्यंजन से, यथा :—

हरि० तेरस् ← सं० त्रयोदशी, हरि० इंदर् ← सं० इन्द्र, हरि० कर्-
तब् ← सं० कर्तव्य, हरि० किरिआ ← सं० क्रिया, हरि० चूर्ण् ←
सं० चूर्ण, हरि० नरम् ← सं० नम्र।

(४) सं० ऋ से, यथा :—

हरि० भर् ← सं० भृ, हरि० √तर् ← सं० √तृ, हरि० √पहर् ←

सं० परि ✓धृ, हरि० पीहर् ← सं० पितृगृह. हरि० भरतार् ← सं० भर्तृ ।

(५) सं० विसर्ग या 'स्' से, यथा :—

हरि० वॉहर् ← सं० बहिः या बहिस् ।

(६) सं० 'ल्' से, यथा :—

हरि० लंगूर ← सं० लाङ्गूलिन् ।

५७. हरियाणवी के आदि 'ल्' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० 'ल्' से, यथा :—

हरि० लाम्बा ← सं० लम्बक, हरि० लाक्ड़ी ← सं० लकुट, हरि० लाख् ← सं० लक्ष, हरि० लंगड़ा ← सं० लगण्ड, हरि० लगन् ← सं० लग्न ।

(२) सं० 'र्' से, यथा :—

हरि० ला ← सं० रज्जु, हरि० ल्हूँखा ← सं० रुक्ष ।

(३) सं० 'य' से, यथा :—

हरि० लॉट्टी ← सं० यष्टि ।

(४) सं० 'श्ल्' → हरि० ल्ह् :

हरि० लिहसू ← शिल्प् ।

(५) सं० 'उल्ल' से, यथा :—

हरि० लंठ् ← सं० उल्लण्ठ ।

५८. हरियाणवी के मध्य तथा अन्त्य 'ल्' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० 'ल्' से, यथा :—

हरि० आंचल् ← सं० अब्चल, हरि० इम्ली ← सं० अम्लिका, हरि० अलख् ← अलक्ष्य ।

(२) सं० उत् + ल् से, यथा :—

हरि० ✓उलांक् ← सं० उत् + ✓लङ्घय् ।

(३) सं० 'र्' से, यथा :—

हरि० किर्कल् ← सं० कर्कर ।

(४) सं० 'न्' से, यथा :—

हरि० सल्लान् ← सं० सन्तान, हरि० जलम् ← सं० जन्म ।

- (५) सं० 'त्य-' से, यथा :—
हरि० कलाल् ← सं० कल्यपाल, हरि० मोल् ← सं० मूल्य,
हरि० अमोल् ← सं० अमूल्य ।
- (६) सं० 'ड-' से, यथा :—
हरि० सोला ← सं० षोडश ।
- (७) सं० लल् → ल्ह् विकल्प से, यथा :—
हरि० गाल्ह् या गाल् ← सं० गल्ल, हरि० चूलहा ← सं० चुल्ली,
हरि० माल्ह् ← सं० मल्ल, हरि० भाल्ल् ← सं० भल्लूक ।
- (८) सं० + गल् से, यथा :—
हरि० गिलाण् ← सं० ग्लानि ।
- (९) सं० ल्- से, यथा :—
हरि० दूलहा ← सं० दुर्लभ ।
- (१०) सं० 'द्व' से, यथा :—
हरि० बुल्वला ← सं० बुद्बुद् ।
- (११) सं० 'द्र' से, यथा :—
हरि० भला ← सं० भद्र ।
- (१२) सं० 'य्' से, यथा :—
हरि० पिलंग् ← सं० पर्यङ्क ।
५६. हरियाणवी में मूधन्य 'ल्' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—
- (१) सं० 'र्' से, यथा :—
हरि० उन्तालीस् ← सं० ऊनचत्वारिंशत्; हरि० गाल् ← सं० उद्-
गार (?), हरि० लाल् ← सं० लार (?) ।
- (२) सं० 'ल्' से, यथा :—
हरि० कलंक ← सं० कलंक, हरि० अंगंगाल् ← सं० अङ्गुल,
हरि० अरली ← सं० अर्गला, हरि० अलग् ← सं० अलग्न,
हरि० आल् ← सं० आल ।
- (३) सं० 'व्' से, यथा :—
हरि० उल्गास् ← सं० अवकाश ।
- (४) सं० 'क्ल' से, यथा :—
हरि० क्लेस् ← सं० क्लेश, हरि० सुक्ल् ← सं० शुक्ल ।
- (५) प्राकृ० 'ल्ल' ← हरि० ल्ह् :
हरि० डाल्ह् ← प्राकृ० डल्ल ।

(६) सं० 'ङ्' से, यथा :—
हरि० तला←सं० तडाग ।

(७) सं० 'त्' से, यथा :—
हरि० पीला←सं० पीत ।

(८) सं० 'त्र्' से, यथा :—
हरि० पुत्ली←सं० पुत्रिका ।

शिन् ध्वनियां

६०. हमें प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) में शिन् ध्वनियां श्, ष्, स् के रूप में मिलती हैं परन्तु आगे चल कर इन ध्वनियों में परिवर्तन आरम्भ हो गया और अपभ्रंश काल तक पहुँचते पहुँचते पूर्वी अपभ्रंश (अर्थात् मागधी अपभ्रंश) को छोड़ कर शेष अपभ्रंशों में सर्वत्र सकार ही परिलक्षित होता है^१। मागधी श् प्रधान भाषा रही। इसके फलस्वरूप मागधी प्रसूत सभी आ० भा० आ० भा० में 'श्' ही मिलना चाहिए था परन्तु इसके विपरीत पूर्वी तथा पश्चिमी सभी आ० भा० आ० भाषाओं में दन्त्य 'स्' ही मिलता है। डा० चैटर्जी के मतानुसार उत्तर भारत की अन्य बोलियों के प्रभाव से पूर्वी बोलियों में भी 'श्' के स्थान पर 'स्' हो गया है^२।

दन्त्य 'स्' हरियाणवी की एक मात्र शिन् ध्वनि है। प्रा० भा० आ० भा० के 'श्' और ष् के स्थान पर सभी अवस्थाओं में लगभग 'स्' ही मिलता है। सं० 'ष्' → हरि० 'छ' के कुछ ही उदाहरण मिलेंगे यथा—षष् → छे या छेह्, षट्-सप्तति → छिअत्तर या छिहत्तर, षट्-षष्ठि → छिआसट् या छिहासट् आदि।

उत्तर भारत की कुछ भाषाओं और बोलियों में यथा पंजाबी में सं० 'ष्' का उच्चारण 'ख' के रूप में पाया जाता है। इस उच्चारण ने कुछ सीमा तक हरियाणवी को भी प्रभावित किया होगा। 'लक्ष्मी चन्द' का 'लख्मी चन्द' परन्तु 'लक्ष्मी देवी' का 'लिख्मी देवी' रूप संदिग्ध अवस्था का द्योतक है।

म० भा० आ० भा० काल (विशेषतः अपभ्रंश काल) में प्रा० भा० आ० भा० की शिन् ध्वनि (विशेषतः 'श्') 'ह्' में परिवर्तित होता हुई पाई जाती है। हरियाणवी में यह 'ह्' या तो लुप्त हो गया है या लुप्त होने की प्रक्रिया में है, अर्थात् यह हकार विकल्प से मिलता है। इसके निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

षट्-सप्तति ← छिअत्तर या छिहत्तर, षट्-षष्ठि ← छिआसट् या छिहासट्,
स्युश → छू या छूह, चतुर्दश → हि० चौदह → हरि० चोदा, षोडश → हि० सोलह → हरि० सोला।

१. ग० वा० तः हि० ग्रा० अप० पृष्ठ ७७।

२. सु० कु० चैः वै० ले० २९७।

निम्नलिखित उदाहरणों में 'ह्' विद्यमान है :—

स्नान→न्हाण्, स्नायु→न्हारु ।

आगे हरियाणवी शिन् ध्वनि (स्) की व्युत्पत्ति पर विचार करेंगे ।

६१. हरियाणवी का आदि, मध्य तथा अन्त्य 'स्' प्रा० भा० आ० भा० सं० के 'श', 'ष्' और 'स्' से आया, यथा :—

हरि० सलोणा←सं० सलवण, हरि० से←सं० शत्, हरि० सोण्←सं० शकुन, हरि० सोत्←सं० सपत्नी, हरि० संख्←सं० शंख, हरि० सांम्←सं० सन्ध्या, हरि० साट्←सं० षष्ठि, हरि० तांस्←सं० त्रास, हरि० तिरसूल←सं० त्रिशूल, हरि० त्योस्←सं० त्रयोदशी, हरि० देस्←सं० देश, हरि० तिस्←सं० तृषा ।

(२) सं० श्, ष्, स् + अर्ध-स्वर (य्, व्) अथवा इर्, र् आदि व्यञ्जन समूह हरियाणवी में 'स्' में परिवर्तित हो गए, यथा :—

स्र : सोत् या सोता←सं० स्रोत ।

श्य : सांवला←सं० श्यामल, साला←सं० श्याल ।

स्व : सुभा←सं० स्वभाव, सौज्जन्←सं० स्वजन, सगा←सं० स्वक ।

श्र : सेट्←सं० श्रेष्ठिन्, सुण्←सं० श्रु, सौम्मण्←सं० श्रावण ।

शृ : साँक्कल्←सं० शृंखला, सीग्←सं० शृङ्ग, सिंगार←सं० शृङ्गार ।

स्म : सिमरण या सुमरण←सं० स्मरण, सिमर् या सुमर्←सं० स्मृ ।

श्व : सांस्←सं० श्वास, सुस्त्रा←सं० श्वसुर ।

स्य : अलकस्←सं० आलस्यक, कांस्सी←कांस्य ।

घोष तथा अघोष ह्

६२. प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) के 'ह्' की उत्पत्ति वास्तव में भारत-इरानी 'ध्*', 'म्', (zh) एवं आंशिक रूप से *ध् तथा *म् से हुई है। हरियाणवी का 'ह्' संस्कृत के 'ह्' का तद्वत रूप है अर्थात् हरियाणवी का 'ह्' संस्कृत के 'ह्' की भांति पूर्णरूप से एक घोष ध्वनि है। यही स्थिति लगभग प्रत्येक प्रा० भा० आ० भा० के 'ह्' की होनी चाहिए परन्तु जहां परम्परागत 'ह्' अथवा विकास स्तर पर किसी घोष व्यञ्जन का प्रतिरूप 'ह्' लुप्त होने की प्रक्रिया में है, वहां उसका सूक्ष्म उच्चारण अघोष भी हो सकता है। हरियाणवी में भी कई एक स्थान पर इस प्रकार की ध्वनि मिलती है जिसका विवेचन आगे किया जाएगा ।

६३. हरियाणवी के आदि 'ह्' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० के 'ह्-' से, यथा :—

हरि० हाँसी ← सं० हास, हरि० हाद ← सं० हट्ट, हरि० हाथ ← सं० हस्त, हरि० हिरण ← सं० हरिण, हरि० हलदी ← सं० हरिद्रा ।

(२) सं० 'घ्-' से, यथा :—

हरि० हलुआ ← सं० लघुक ।

(३) सं० 'भ्-' से, यथा :—

हरि० √हो ← सं० √भव्, हरि० सुहाग् ← सं० सौभाग्य, हरि० गहरा ← सं० गभीर, हरि० हीर् ← सं० अभीर ।

(४) आगम द्वारा :—

हरि० होंद ← सं० ओष्ठ, हरि० हां ← सं० आम्, हरि० √हिलोड् ← सं० √आलोड्य, हरि० हाँसी ← सं० आसिक, हरि० ल्हसण् ← सं० लशुन, हरि० ल्हीख् ← सं० लिन्हा ।

(५) सं० 'ख्' से, यथा :—

हरि० हेड़ी ← सं० आखेटिक ।

(६) सं० 'घ्-' से, यथा :—

हरि० होंट्टा ← सं० अर्द्ध-चतुर्थ ।

६४. हरियाणवी के मध्य तथा अन्त्य 'ह्-' की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

(१) सं० 'स्' से, यथा :—

हरि० √न्हा ← सं० √स्ना, हरि० न्हारू ← सं० स्नायु, हरि० उण्हत्तर ← सं० ऊनसप्तति (इस श्रेणी में विकल्प से) ।

(२) सं० 'ष्-' से, यथा :—

हरि० कन्हइआ ← सं० कृष्ण ।

(३) सं० 'श्-' से, यथा :—

हरि० सोल्ही ← सं० षोडशिका ।

(४) सं० 'थ्-' से, यथा :—

हरि० √कह्^x ← सं० √कथय्, हरि० कॉहणी ← सं० कथानक ।

(५) सं० 'भ्-' से, यथा :—

हरि० कुम्हार ← सं० कुम्भकार, हरि० गहरा ← सं० गभीर, हरि० जम्हाई ← सं० जृम्भा, हरि० लहणा ← सं० लभन ।

- (६) सं० '-ठ-' से, यथा :—
हरि० कुहाड़ा←सं० कुठार ।
- (७) सं० '-ध्-' से, यथा :—
हरि० साहू←सं० साधु, हरि० गीहूँ←सं० गोधूम, हरि० दही←
सं० दधि, हरि० लहू←सं० रुधिर, हरि० बहरा←सं० बधिर ।
- (८) सं० '-ह्-' से, यथा :—
हरि० गहण् ←सं० ग्रहण, हरि० गाहक् ←सं० ग्राहक, हरि० नेह्←
सं० स्नेह, हरि० द्योहता←सं० द्यौहित्र, हरि० पहर←सं० प्रहर ।
- (९) सं० 'क्ष्' से, यथा :—
हरि० दाहणा←सं० दक्षिण ।
- (१०) सं० -गह- →घ् → -ह्- से, यथा :—
हरि० पीहर←सं० पितृगृह ।
- (११) सं० '-घ्-' से, यथा :—
हरि० माह्←सं० माघ, हरि० मीह्←सं० मेघ ।
- (१२) सं० '-ख्-' से, यथा :—
हरि० मूह्←सं० मुख ।
- (१३) आगम द्वारा :—
हरि० काल्ह्←सं० कल्य, हरि० गाल्ह्←सं० गल्ल, हरि० सिल्ह्←
सं० शिला, हरि० पील्ह्←सं० पीलु ।

औरस्य ध्वनि वाला 'ह्' (अधोष 'ह्')

६५. 'ह्' वर्ण को संस्कृत के ध्वनिशास्त्रियों ने प्रायः कण्ठ्यध्वनि ही माना है परन्तु कुछ एक आचार्य इसे औरस्य ध्वनि भी बता गए हैं। आज का उच्चारण करने वाला व्यक्ति अपने अनुभव से यह बात स्पष्ट रूप से कह सकता है कि हृदय से ऊपर की ओर आता हुआ वायु कण्ठ में आकर ध्वनि रूप धारण करता है। यही बात पाणिनि जी ने भी मानी है—“वक्त्रमापद्य मारुतः वर्णान् व्यञ्जयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः ।” (पाणिनी शिक्ता) पर इसके साथ ही पाणिनि जी ने 'ह्' का एक औरस्य रूप भी स्वीकार किया है :—

हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्चसंयुतम् । औरस्यं तं विजानीयात् कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥
(पाणिनि शिक्ता)

'ण्', 'न्', 'म्' अथवा 'य्', 'र्य्', 'ल्य्', 'व्य्' से युक्त हकार का उच्चारण करते समय यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो उरस् (हृदय) में से ध्वनि का आना भले ही प्रतीत न होता हो परन्तु उरो भाग में एक आघात से—वायु का एक धक्का सा लगता

हुआ अवश्य प्रतीत होता है। इसी अनुभूति के आधार पर पाणिनि जी तथा अन्य ध्वनि-शास्त्रियों ने इसे औरस्य माना प्रतीत होता है। परन्तु हरियाणवी में असंयुक्त 'ह' के अतिरिक्त जिस अघोष ह्कार का हमने उल्लेख किया है वह इससे भिन्न है। उस 'ह' का श्रवण 'पीहर्', 'बाँहर्' शब्दों में स्पष्ट रूप से अनुभव होता है। इन दोनों शब्दों में 'र' से पूर्व 'ह' की ध्वनि लगभग सुनाई देती है। इन शब्दों में पहले से जो ह्कार ध्वनि थी वह मन्द पड़ते पड़ते कम रह गई। इसी लिए कुछ विद्वान् कहते हैं कि पीहर् और बाँहर् के 'ह' से पूर्ववर्ती स्वरों को थोड़ा सा दबा कर अर्थात् 'ई' और 'आ' के साथ साथ उरो भाग से थोड़े भटके के साथ वायु निकालने पर हरि० का पीहर् तथा बाँहर् शब्द बोले जाते हैं। उनके अनुसार 'पीहर्' और 'बाँहर्' के 'आ', 'ई' क्रमशः कण्ठ्य और तालव्य होने के साथ साथ औरस्य भी है। इन शब्दों में मिलने वाली ह्कार की एक चौथाई ध्वनि इतनी क्षीण है कि उसमें घोषता बिल्कुल नहीं है। उसे ही हम ने अघोष ह्कार की संज्ञा प्रदान की है।

६६. हरियाणवी में अघोष ह्कार के निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

$\begin{matrix} \sim & x & \sim & x & x & x & x & \sim & x & \sim & x & \sim & x \end{matrix}$
 पीहर्, सीहर्, बाँहर्, सँहर्, चाँहना, ओहल्ला, चूहल्ला, चूहल आदि।

द्वितीय खण्ड

(रूप-तत्त्व)

पहला अध्याय

प्रत्यय तथा उपसर्ग

१. प्रस्तुत अध्याय में देशी तथा विदेशी प्रत्ययों और उपसर्गों पर विचार किया जा रहा है। प्रत्यय अथवा उपसर्ग ही पद की वह मूल इकाई है जिसकी सहायता से कोई भी पद अपने मूल-पद-ग्राम से सम्बन्धित अर्थ को प्रकट कर पाता है। इसे संरचनात्मक पदग्राम भी कहा जा सकता है। मूल-पद-ग्राम के आरम्भ में लगने वाले पदग्रामों को उपसर्ग तथा बाद में लगने वाले पदग्रामों को प्रत्यय की संज्ञा प्रदान की जाती है।

प्रत्येक पद में एक या अधिक पदग्राम होते हैं और प्रत्येक पदग्राम किसी न किसी अर्थ को प्रकट करता है। उदाहरणार्थ :—

रांड :—एक पदग्राम वाला पद है जिसका अर्थ है कि विधवा स्त्री।

रांडिआ :—इस पद में 'रांड + इआ' दो पदग्राम हैं। दूसरे पदग्राम का अर्थ है 'सरीखा', अतः इस पद का अर्थ हुआ 'रांड सरीखा'।

रांडिआं :—इस पद में 'रांड + इआ + आं' तीन पदग्राम हैं। तीसरा पदग्राम बहुवचन का द्योतक है।

इस प्रकार भाषाक्षेत्र में छोटे-छोटे पदग्राम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करते हैं और इनकी सहायता से ही अनेक प्रकार के संज्ञा, विशेषण और क्रिया-विशेषण पद बनाए जाते हैं। यही नहीं, अपितु विभिन्न प्रकार की सकर्मक अथवा प्रेरणार्थक क्रियाएँ भी इन्हीं से ही बनती हैं तथा पदों के लिंग, वचन तक इनके द्वारा व्यक्त किए जाते हैं।

यहां संज्ञा, विशेषण तथा क्रिया-विशेषण पदों के निर्माण में सहायक पदग्रामों-प्रत्ययों तथा उपसर्गों पर विचार किया जाएगा तथा अन्य पदग्राम यथा-स्थान दिए जायेंगे।

२. संज्ञा-पद निर्माण में सहायक प्रत्यय वर्ण-क्रम से नीचे दिए जा रहे हैं :—

१. ॠ सामान्य प्रातिपादिक संज्ञाएँ जो प्रा० भा० आ० भा० में पुंलि०, स्त्रीलि० अथवा नपुं० लि० से सम्बन्ध रखती थीं—

माणस् ← मानुषः, डाँगर् ← सं० कडङ्गर → प्राकृ० कडंगर, पात् ← सं० पत्रम् → प्राकृ० पत्त, रात् ← सं० रात्रि, नार् ← नारी।

व्युत्पत्ति :—हरियाणवी की हलन्त संज्ञाएं प्रा० भा० आ० भा० के पुंलि०, स्त्री लि० और नपुं० लि० से आई हैं। अतः इसे तीनों लिंगों के एक व० प्रथमान्त रूप बनाने के लिए अन्त में जोड़े जाने वाले 'सु' का प्रतिरूप समझना चाहिए। ये संज्ञाएं हलन्त कब हुई इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से इस लिए नहीं कहा जा सकता कि आज प्रा० तथा म० भा० आ० भा० के केवल लिखित रूप ही उपलब्ध हैं और लिखित प्रणाली के अनुसार हिन्दी की संज्ञाओं को आज भी हलन्त नहीं कहा जा सकता, वैसे उच्चारण के दृष्टिकोण से अन्तिम 'अ' का लोप हो चुका है। विद्वानों का मत है कि अपभ्रंश काल के अन्तिम चरण में अन्तिम स्वर लुप्त होने लग गया था।

२. —ॠ धातु पदों के साथ इस प्रत्यय के संयोग से संज्ञाएं बनती हैं। इसी तथ्य को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि कतिपय धातुएं अपने मूलरूप में संज्ञाओं का भी काम देती हैं, यथा :—

काट् , बांध् , मार् , भाल् , देख् , ऊठ् आदि।

ये सभी पद क्रियाएं भी हैं और संज्ञाओं के रूप में भी प्रयोग में लाए जाते हैं।

व्युत्पत्ति :—यद्यपि धातुओं को वैयाकरणों की उपज माना जाता है तथापि सामान्य से सामान्य वक्ता को भी क्रियापद का आभास अवश्य रहता है और थोड़ा सोचने पर उसे अनेक शब्दों के मूल में धातुएं दिखाई देने लगती हैं। इसका कारण सम्भवतः यह है कि शब्दों के मूल रूप धातुएं ही होती हैं^१। यास्क ने स्पष्ट रूप से कहा है कि सारे नाम-शब्द धातुओं से ही बनते हैं। ऐसा शाकटायन का मत है तथा ऐसा ही निरुक्त वालों का मत है। संस्कृत में दृश् , भुज् , भू , पृच्छ् आदि शब्द संज्ञा तथा क्रिया दोनों रूपों में प्रयुक्त होते हैं। संश्लेषात्मक भाषा होने के कारण व्यवहार के समय संस्कृत में प्रत्येक शब्द के रूप चलाए जाते थे। परन्तु बाद में विकास होने पर कर्त्ता के एक व० में शब्दों के मूल रूप ही रह गए। इस प्रकार धातु संज्ञापदों के अनेक रूप आ० भा० आ० भा० में आए। आधुनिक भारोपीय भाषाओं में भी इस प्रकार के धातु संज्ञापद विद्यमान हैं।

हरियाणवी धातुओं के विकास के इतिहास पर अलग से विचार किया जाएगा^२। हरियाणवी में इस प्रकार की अनेक धातुएं जो अपने मूल रूप में ही संज्ञाओं की भांति प्रयुक्त होती हैं।

१. उ० ना० ति० : हि० उ० वि० पृष्ठ ४९१।

२. नामान्याख्यातजानि—इति शाकटायनः, नैरुक्तसमयश्च। (यास्क कृत निरुक्त पहला अध्याय, १ पाद)।

३. देखिए अध्याय ६ जहां आरम्भ में ही हरि० धातुओं के उद्गम और विकास पर विचार किया गया है।

३. अंगङ् या अंगङ्—यह प्रत्यय संज्ञाओं के साथ लगता है। इसका अर्थ अगुआ या मुखिया (लठंगङ् अर्थात् लठधारियों का मुखिया, इसी प्रकार अन्य पदों के अर्थ समझ लेने चाहियें)। इस प्रत्यय वाली संज्ञाओं के उदाहरण निम्न-लिखित हैं :—

वतंगङ्, गितंगङ्, लुचंगङ्, बुढंगङ् ।

व्युत्पत्ति :—सम्भवतः सं० -अग्र (?) से है यथा—धूर्ताग्र, पंडिताग्र ।

४. -अक्—विशेषण और धातु पदों के साथ संयुक्त होता है, यथा :—

पीलक्, लील्लक्, ठंडक्, चसक् ।

व्युत्पत्ति :—इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा० ‘अक्’ से हुई है, जैसे—
सं० पावक्, पाचक् आदि ।

५. -अक्कङ्—यह प्रत्यय सामान्यतः धातु पदों के साथ संयुक्त होकर संज्ञाएं बनाता है। इसके उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

लुअक्कङ् = अधिक खाने के स्वभाव वाला ।

घुमक्कङ् = अधिक घूमने के स्वभाव वाला ।

व्युत्पत्ति :—प्राकृ० -अक्क + -ट → -अक्कङ् ।

६. -अङ्—यह प्रत्यय धातुपदों अथवा विशेषणों के साथ लग कर संज्ञाएं बनाता है। कई बार संज्ञापदों के साथ भी लग कर संज्ञाएं बनती हैं। हरियाणवी में इस प्रत्यय के उदाहरण भी कम ही मिलेंगे ।

उदाहरण :—भाँज्जङ् (भगदङ्), छीद्दङ् (छीङ्), दुहँत्थङ् (द्विहस्तताङ्) ।

व्युत्पत्ति :—प्राकृ० स्वार्थे प्रत्यय -ङ् । इसके साथ मूल पदग्राम का पदांत -अ लग गया है और अब यह -अङ् प्रत्यय बना हुआ प्रतीत होता है ।

७. -अण् या -अम्—यह प्रत्यय धातु पदों से मिल कर भाव-वाचक क्रिया-मूलक विशेष्य-पद बनाता है। इसके कतिपय उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

चलन्, जलन्, भाँज्जण्, भाङ्गण्, बर्तन्, चीत्तण् ।

व्युत्पत्ति :—यह प्रत्यय प्रा० भा० आ० भा० -अन् से है। यह अन्य आ० भा० आ० भा० में भी अत्यधिक प्रचलित है ।

८. -अत्—धातुपदों के साथ संयुक्त होता है, यथा :—

लॉगत्, जलत्, लिखत्, माँगत् ।

व्युत्पत्ति :—इसका विकास प्रा० भा० आ० -अत् से हुआ है। आरम्भ में ये क्रिया विशेषण रहे होंगे और अर्थविकास से ये संज्ञा पद बन गए ।

६. -अम्—गणना वाचक विशेषणों के साथ संयुक्त हो कर यह प्रत्यय तिथिवाचक संज्ञाएं बनाता है, यथा :—

पाँचवम्, सौत्तम्, आँटठम् आदि ।

व्युत्पत्ति :—इसकी उत्पत्ति सं० -मी से हुई है (यथा पञ्चमी, सप्तमी आदि) ।

१०. -अस्—इस प्रत्यय से निर्मित संज्ञाओं के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

छाणस्, ढाढस्, कालस् आदि ।

इस प्रत्यय के उदाहरण बहुत कम मिलेंगे ।

व्युत्पत्ति :—फा० -इश (?) (यथा वारिश, खारिश आदि) ।

११. -आ—धातु-पदों के साथ संयुक्त होता है, यथा :—

ढुका (ढुकाव), मंढा (मंढप), भका (वहकाव), सिखा (सीख), वचा (बचाव) ।

व्युत्पत्ति :—यह प्रत्यय हिं० -आव् का ही प्रतिरूप अथवा विकसित रूप है । हरि० -आ तथा हिं० -आव् की उत्पत्ति णिच् -आप् + आ से मानी जाती है । ध्वनि लोप से हरि० में -आ शेष रहता है ।

१२. -आ—यह प्रत्यय भिन्न-भिन्न अर्थ प्रकट करता है, यथा सामान्यतः पुल्लिङ्ग का बोध कराता है, गुरुत्व सूचक है । इसके अतिरिक्त यह सम्बन्ध सूचक तथा स्वार्थे प्रत्यय कहा जा सकता है :

लिङ्ग सूचक :

घड़ा (घोटकः), छोहरा^x, बेट्टा^५ आदि ।

गुरुत्व सूचक :

घोड़ा, लोट्टा, चरखा आदि ।

सम्बन्ध सूचक :

ठेल्ला (ठेल्), (ठेला गाड़ी), मेला (मिल्), (सं० मेलकः) आदि ।

स्वार्थे :

कौंगगा (कौआ) (काकः), पौत्ता (पत्रम्), सूआ (शुकः) ।

व्युत्पत्ति :—इसकी उत्पत्ति वैदिक आक, सं० अक→मं० भा० आ० भा० -आअ से है । स्वार्थे प्रत्यय के रूप में इसे -सु (:) से विकसित भी माना जा सकता है जिसका राजस्थानी में ओकारान्त रूप उपलब्ध है तो हिन्दी तथा हरियाणवी आदि भाषाओं में आकारान्त रूप मिलता है ।

१३. -आ—इस प्रत्यय के संयोग से क्रियामूलक विशेष्य-पद सम्पन्न होते हैं, यथा :—भगड़ा, घेरा, लटका, भटका, फटका, गटका आदि ।

व्युत्पत्ति :—इस प्रत्यय की उत्पत्ति कर्मवाच्य कृदन्त -क्त, -त्त, -इत् → म० भा० आ० भा० -अ, -इअ + स्वार्थे -आ से हुई है ।

१४. -आई—इस प्रत्यय को धातुओं के साथ लगा कर क्रियाजात विशेष्य-पद तथा भाववाचक संज्ञाएं बनाई जाती हैं, यथा :—

चराई, भराई, पिसाई, हंसाई, लिखाई, खुदाई आदि ।

व्युत्पत्ति :—डा० चैटर्जी ने इसकी उत्पत्ति निम्नलिखित प्रकार से मानी है—
प्रा० भा० आ० भा० -आप् + -इका → -आविआ, -आविअ, -आवी → -आई ।

१५. -आई—यह प्रत्यय संज्ञा तथा विशेषणों के साथ संयुक्त होकर भाव-वाचक संज्ञाएं बनाता है ।

उदाहरण :—मिठाई, सफाई, मिसराई (मिश्र जी की वृत्ति), भलाई, सचाई, लड़ाई आदि ।

व्युत्पत्ति :—डा० वानी कान्त काकती ने इसकी उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से मानी है—वैदिक ताति → म० भा० आ० * -ताइ → आ० भा० आ० भा० -आई, -आइ । ताति के उदाहरण लौकिक संस्कृत में मिलते हैं^१ ।

१६. -आक—धातुओं के साथ इस प्रत्यय के संयोग से संज्ञाएं बनती हैं :—
तैराक (तैरने वाला), चलाक (चाल चलने वाला) ।

व्युत्पत्ति :—डा० हार्नल ने इसकी उत्पत्ति सं० -आपक से बताई है परन्तु डा० चैटर्जी इसे प्राकृ० -अवक या -आवक से विकसित मानते हैं^१ ।

१७. -आट्—इस प्रत्यय से ध्वन्यात्मक संज्ञाएं और क्रियामूलक विशेष्यपद बनते हैं :—

दन्दनाट्, मल्लमलाट्, किल्विलाट्, बिल्विलाट्, खिल्विलाट्, घबराट्, जग्मगाट्, गड्गडाट् आदि ।

व्युत्पत्ति :—यह प्रत्यय हिं० -आहट यथा घबराहट, जगमगाहट का प्रतिनिधि है । टर्नर ने इसकी उत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा० -धा → -हा, -आहा + -आवट से होने की सम्भावना व्यक्त की है^१ ।

१८. -आइ—इसके स्थान सूचक पद सिद्ध होते हैं । हरि० में इसका एक ही उदाहरण है—सुसाइ । यह सं० -आलय से निष्पन्न हुआ है । सं० -आलय → हिं० -आल, ब्रज-आरि, हरि० -आइ के रूप में विद्यमान है ।

१९. -आड़, -वाड़ा—यह प्रत्यय भी स्थान सूचक संज्ञाओं का निर्माण करता

१. उ० ना० ति० : हि० उ० वि० पृष्ठ ४०३ ।

२. ने० डि० पृष्ठ ३९ ।

है। इसके उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

सुराड़ा या सुरवाड़ा (सूअर बांधने का स्थान)। गितवाड़ा (पशु बांधने और उपले पाथने का स्थान)। सेंसीवाड़ा (सैंसियों की बस्ती)। नाई-आड़ा या नई-वाड़ा (नाइयों की बस्ती)। मालीवाड़ा (मालियों की बस्ती)।

व्युत्पत्ति :— इसकी उत्पत्ति सं० तथा प्राकृ० -आट → 'आड़ा'। प्राकृ० -वाट का उद्गम सं० -वृत्त ← √वृ से है।

२०. -आड़ी—यह भी स्थान सूचक प्रत्यय है जो क्रिया-विशेषणों के साथ लग कर संज्ञापं बनाता है :—

अगाड़ी, पिछाड़ी।

व्युत्पत्ति :— इसकी उत्पत्ति सं० -अग्रे से प्रतीत होती है। 'अग्रे' में अन्तिम -अग्रे → -आड़ी बन गया है जहां 'ग' के लोप के पश्चात् -रे → -ड़ी में परिणत हो गया है। डा० तिवारी जी ने इसकी उत्पत्ति सं० वृत्, वैदिक वृता (कार्य, परिश्रम) गति बोधक शब्द मानते हुए विकासक्रम निम्नलिखित रूप से दिया है— -वट → प्राकृ० वड्ड → वड़ + इक (ई) → -ड़ी।

२१. -आड़ी—यह प्रत्यय आरी का ही दूसरा रूप है। इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

खिलाड़ी (खेलने वाला), अनाड़ी, लवाड़ी (बकवास करने वाला)।

व्युत्पत्ति :— इसकी उत्पत्ति सं० कारी से हुई है तथा -र- → -ड़- में बदल गया है।

२२. -आण—इस प्रत्यय को धातुओं के साथ जोड़ कर भाव-वाचक संज्ञापं बनाई जाती हैं :—

भराण, नुलाण, प्याण, सिमाण, लिखाण, पढाण, खंदाण, ढिलाण।

व्युत्पत्ति :— आप + अन् → आपन -क → आवणव → आवण → -आणव → -आण।

२३. -आंत या -आत्—प्रत्यय सर्वनाम अथवा संज्ञा के साथ लगकर सम्बन्ध सूचक संज्ञापं बनाता है। हरि० में इसके बहुत कम उदाहरण मिलते हैं।

उदाहरण :—अपणा + आत् → अपणात् (अपनापन)।

औरस + आंत → अड्सांत (संतति सम्बन्ध)।

परौरस + आंत → पड्सांत।

व्युत्पत्ति :— इस प्रत्यय की उत्पत्ति प्रेरणार्थक तथा शत्रु प्रत्यय -आपन्त से हुई है : -आपन्त → -आयन्त → प्राकृ० -आवन्त, -आअन्त ← हरि० -आंत, -आत्।

२४. आँन्ना—संज्ञाओं के साथ संयुक्त होता है :—

तलबाँन्ना, नजराँन्ना, जरिवाँन्ना (जुरमाना), घराँन्ना, हरजाँन्ना।

व्युत्पत्ति: —फा० -आना (आँ) ।

२५. -आँप्पा—इस प्रत्यय के उदाहरण निम्नलिखित हैं :—
पुजाँप्पा, बुढ़ाँप्पा, रंडाँप्पा ।

व्युत्पत्ति :—यह प्रत्यय सं० -आप् का विकसित अथवा गुरु रूप है और इसका विकास-क्रम इस प्रकार है : सं० -आत्मन→ -अप्→ -आप, -आँप्पा ।

२६. -आर्—संज्ञाओं के साथ संयुक्त होता है और सम्बन्धित संज्ञा के व्यावसायिक का बोधक है, यथा :—

सुनार्, कुम्हार, लुहार, मणिआर् ।

व्युत्पत्ति :—सं० -कार→प्राकृ० -आर→ -आर् ।

२७. -आर्—संज्ञाओं के साथ जोड़ा जाता है तथा स्थानबोधक है :—
भण्डार्, कुठार् ।

व्युत्पत्ति :—इस की उत्पत्ति सं० -आगार से हुई है, यथा—कोष्ठागार→कुठार् ।

२८. -आरी—संज्ञाओं के साथ जोड़े जाने वाला प्रत्यय है तथा व्यवसाय बोधक है :—

भिखारी, जुआरी, पुजारी ।

व्युत्पत्ति :—सं० -कारिक→ -आरी ।

२९. -आरी—यह भी व्यवसाय बोधक संज्ञापं वनाता है, यथा :—
कुठारी, भण्डारी ।

व्युत्पत्ति :—इसकी व्युत्पत्ति सं० -आगरिक से हुई है ।

टिप्पणी :—हमारे विचार में उपरिनिर्दिष्ट उदाहरणों में -ई प्रत्यय ही माना जाए और इन्हें भण्डार् + -ई→भण्डारी, कुठार् + -ई→कुठारी, माना जाए तो अधिक उत्तम है । -ई पर यथा स्थान विचार किया जाएगा ।

३०. -आला, -आँल्ला—यह स्थान सूचक प्रत्यय है । इसके उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

बिचाल = बी, गन्तव्य स्थान के ठीक ठीक बीच का स्थान ।

निबाल = वह स्थान या इहाता जहाँ नीम का वृक्ष हो ।

सिवाँल्य = शिवालय ।

व्युत्पत्ति :—इस प्रत्यय की उत्पत्ति सं० -आलय से हुई है । दूसरी ओर -वाला→ -आला बन जाता है । -वाला←सं० -पालक का विकसित रूप है । 'निबाला' में इस प्रत्यय की संभावना भी की जा सकती है ।

३१. आवट्—इस प्रत्यय से क्रियामूलक पद बनते हैं :—

✓बण् + आतट् → बणावट्, ✓रुक् + आवट् → रुकावट्,

✓लिख् + आवट् → लिखावट्, ✓सज् + आवट् → सजावट्,
 ✓थक् + आवट् → थकावट् आदि ।

व्युत्पत्ति :—इसकी उत्पत्ति सं० -आप् + वृत्ति से हुई है। इसका प्रचार हिन्दी के प्रभाव से प्रतीत होता है जिसके कारण मध्यवर्ती 'व्' अभी तक ज्यों का त्यों पड़ा हुआ है तथापि कई स्थानों पर यह 'उ' में बदल कर पूर्ववर्ती स्वर के संयोग से 'ओ' में परिवर्तित हो रहा है तथा इस प्रकार 'बणोऽट्', 'सजोऽट्' जैसे रूप सम्पन्न कर रहा है।

३२. -आवा—इस प्रत्यय के संयोग से भाववाचक संज्ञाएं बनती हैं, यथा :—

दिखावा, बुलावा, परा^xहवा, चलावा ।

पराहवा—पहर, हिं० पहन से है और इसका अर्थ है पहनने का रिवाज अर्थात् वह पोशाक जिसके पहनने का फैशन प्रचलित हो ।

चलावा—चाल से है और मुकलावे के बाद की रस्म है ।

व्युत्पत्ति :—इसकी उत्पत्ति -आप् + -अ + -क से हुई है ।

३३. -आस्—यह प्रत्यय धातुओं अथवा विशेषणों के साथ लग कर भाववाचक संज्ञाएं बनाता है :—

प्यास्, मिठास्, खटास्, थमास्, ठ्हास्, सिल्हास् (शीतलता) ।

व्युत्पत्ति :—डा० तिवारी जी ने इस की उत्पत्ति प्रेरणार्थक -आप् + -वश् से मानी है (भो० भा० सा० पृष्ठ १०१) ।

३४. -इआ—इस प्रत्यय के संयोग से कर्तृवाचक अथवा किसी स्थान से सम्बन्धित व्यक्ति अथवा वस्तु का बोध करने वाली संज्ञाएं बनती हैं :—

जड़िआ, अड़िआ (अड़ियल), भोज्जिणिआ, सुणनिआ, हिसारिआ आदि ।

व्युत्पत्ति :—वस्तुतः इसका प्रयोग अधिकांशतः सम्बन्धवाचक विशेषण बनाने के लिए होता है और उपर्युक्त उदाहरण भी मूलतः विशेषण हो कर कर्तृवाचक संज्ञाओं के रूप में प्रचलित हो गए हैं। इसकी उत्पत्ति सं० -इक् → म० भा० आ० भा० -इअ + आ से हुई है ।

३५. -ई—संज्ञाओं, विशेषणों, धातुओं और संख्यावाचक विशेषणों के साथ यह प्रत्यय पाया जाता है :—

हाली, बिज्वान्नी (मेजवानी), नदो^xन्नी, परा^xहनी, चला^xक्की आदि ।

गणनावाचक विशेषणों के साथ लग कर बनने वाली संज्ञाएं :—

तीस्सी, बीस्सी, अट्ठी, सत्ती ।

धातुओं से बनने वाली संज्ञाएं :—

खाँसी, फाँसी ।

विशेषणों से बनने वाली संज्ञाओं के उदाहरण हरियाणवी में कम मिलेंगे, एक उदाहरण देखिए—लॉल्ली ।

व्युत्पत्ति :—यह आ० भा० आ० का सर्वाधिक प्रिय प्रत्यय है जिसका विकास सं० -इक, -इका से है और फा० के विशेषणीय तथा सम्बन्ध वाची प्रत्यय -ई ने भी इसे परिपुष्ट किया है ।

३६. -ईक्—हरियाणवी में इसका एक ही उदाहरण मिलता है : गडीक् ।

व्युत्पत्ति :—-ईक←सं० (-अनीक -सेना) ।

३७. -उआ—इस प्रत्यय के संयोग से कर्तृवाचक संज्ञापद बनते हैं, यथा :—

नाचण+उआ→नचणुआ, टहल+उआ→टहलुआ ।

हरियाणवी में इस प्रत्यय से निर्मित बहुत कम संज्ञाएं मिलती हैं ।

व्युत्पत्ति :—यह प्रत्यय सं० -उक→प्राकृ० -उअ का विस्तृत रूप है ।

३८. -ऊ—इस प्रत्यय से कर्तृवाचक संज्ञाएं निर्मित होती हैं :—

खाऊ, पीऊ, रट्टू ।

करणवाचक उदाहरण : भाडू ।

व्युत्पत्ति :—सं० -उक→प्राकृ० उअ→ऊ ।

३९. -एर्, -एरा—इस प्रत्यय के संयोग से भाववाचक संज्ञाएं निष्पन्न होती हैं । हरि० में इसका एकमात्र उदाहरण 'कमेर्' ← -कमँ -कर है ।

-एरा इसी से कर्तृवाचक संज्ञाएं बनाता है, यथा—कमेरा, चितेरा ।

व्युत्पत्ति :—-एर्← -अ+अर←अ+ -कर, -एरा← -एर + -आ (स्वार्थे)← -अ + -अर← -अ + -कर ।

४०. -एल्—हरि० में इस प्रत्यय से निर्मित संज्ञाओं के कम उदाहरण मिलते हैं, यथा—नकेल्, फुलेल् आदि ।

व्युत्पत्ति : इस प्रत्यय की उत्पत्ति भी सं० -इल→प्राकृ० -इल्ल से है ।

४१. -एल्ला—हरि० में इस प्रत्यय से निर्मित संज्ञाओं के बहुत ही न्यून उदाहरण मिलते हैं, यथा :—

संपैल्ला, भणैल्ला (साथी) ।

व्युत्पत्ति :—सं० स्वार्थे तथा विशेषणीय प्रत्यय -इल→प्राकृ० -इल्ल→-एल, एल्ल+आ (स्वार्थे) ।

४२. -ऐत्—इस प्रत्यय के संयोग से कर्तृवाचक तथा समूहवाचक संज्ञाएं बनती हैं, यथा :—

लठेत् (लठधारी), डकेत् (डाका डालने वाला), जटेट् (जाटों का समुदाय), ठकरेत् (ठाकुरों का समुदाय)।

व्युत्पत्ति :—इस प्रत्यय का प्राचीन रूप भोजपुरी में मिलता है—

-आइत् (यथा डकाइत्, नताइत् -नाती)। स्वराघात के कारण -आइत् → -ऐन् बना है। डा० तिवारी जी ने इस की उत्पत्ति सं० -आपन्त से निम्नलिखित रूप में मानी है :—

सं० आपन्त → -आवन्त → प्राकृ० -आवन्त, आ अन्त, भो० पु० आयवन्त → आ इत् → हरि० -ऐत्।

४३. ओक्कड़ा—इस प्रत्यय के संयोग से स्वभाववाचक संज्ञाएं बनती हैं, यथा—
लड़ोकड़ा, लड़ोकड़ी, पढोकड़ा, पढोकड़ी, जलोकड़ा, जलोकड़ी
आदि।

व्युत्पत्ति :—उक + ड → ओकड़ + आ या -ई।

४४. -ओड़—यह प्रत्यय संज्ञाओं के साथ संयुक्त होकर समुदायवाची संज्ञाओं का निर्माण करता है, यथा :—

मटोड़ (मिट्टी का ढेर), मखोड़ (मक्खियों का ढेर), गपोड़ (गपशप)
आदि।

व्युत्पत्ति :—इस प्रत्यय के उद्गम के सम्बन्ध में दो प्रकार की संभावनाएं की जा सकती हैं :—

(१) पट्ट (यथा लिंग -पट्ट → लंगोट) ओट् → ओड़।

(२) -वर्त → वट्ट → -ओट्, -ओड़।

४५. -ओड़ा—यह प्रत्यय उपरिनिर्दिष्ट प्रत्यय का विस्तृत रूप है। हरि० में इसका उदाहरण 'बिटोड़ा' है। ओड़ के साथ -आ (स्वार्थे) शामिल है।

४६. -ओतरी—घातुपदों के साथ संयुक्त होकर भाववाचक संज्ञाओं की रचना करता है। इसके उदाहरण भी हरि० में अधिक उपलब्ध नहीं होते—बढोतरी, घटोतरी।

व्युत्पत्ति :—इस प्रत्यय की उत्पत्ति सं० -उत्तर + -इक से है।

४७. -ओर—इस प्रत्यय के संयोग से स्वभाववाची संज्ञाएं बनती हैं, यथा :—
हंडोर (घूमने वाला), बकोर (बकने वाला)।

व्युत्पत्ति :—फा० खोर के सादृश्य पर प्रतीत होता है।

— ४८. -ओली—वृत्त-वाचक संज्ञाओं के साथ लग कर उनकी फलवाचक संज्ञाएं बनाता है, यथा—निबोली, किकरोली।

व्युत्पत्ति :— इसकी उत्पत्ति सं० -गुलिका से है, यथा :—

निम्बगुलिका → गिंबोलिया → निंबोली ।

४६. -का—इस प्रत्यय के निम्नलिखित उदाहरण हैं :—

फट्का, ढक्का, भक्का, गुट्का ।

व्युत्पत्ति :— सं० -अक + -आ (स्वार्थे) ।

५०. -कार्—यह प्रत्यय विशेषणों के साथ लग कर कर्तृवाचक संज्ञाएं बनाता है, यथा—बट्कार् (बुरा करने वाला) ।

व्युत्पत्ति :— सं० -कार → -कार् ।

५१. -कार्—धातुओं के साथ लग कर भाववाचक संज्ञाएं बनाता है :—

फट्कार्, दुत्कार्, फुंकार् आदि ।

व्युत्पत्ति :— -कार ← √कृ ।

५२. -कारा—इस प्रत्यय के संयोग से भाववाचक संज्ञाएं बनती हैं, यथा :—

फट्कारा, चमकारा, दुत्कारा, धुत्कारा, छुट्कारा, भल्कारा ।

व्युत्पत्ति :— सं० -कार + -आ ।

५३. -खोर्, -खोरा, -खोरी—संज्ञाओं के साथ लग कर कर्तृवाचक संज्ञाएं निष्पन्न करता है, यथा :—

चुगलखोर (चुगली करने वाला), हरामखोर (हराम की खाने वाला),

नकलखोर (नकल करने वाला), गूंखोरी (अनुचित खुशामद) ।

व्युत्पत्ति :— इसकी उत्पत्ति फा० खोर (خوَر) → -खोर् से हुई है । इसके साथ + -आ स्वार्थे प्रत्यय के संयोग से -खोरा और + -इक प्रत्यय के संयोग से -खोरी सम्पन्न होते हैं ।

५४. -खॉन्ना—संज्ञाओं के साथ लग कर स्थानवाची संज्ञाओं का निर्माण करता है :—

गुसलखॉन्ना, बूचडखॉन्ना, दीवानखॉन्ना, कबूतरखॉन्ना, पटवार्-
खॉन्ना, पोंगलखॉन्ना ।

व्युत्पत्ति :— इसकी व्युत्पत्ति फा० खान: (خان) से हुई है ।

५५. -गर्—इस प्रत्यय के संयोग से व्यवसाई वाची संज्ञाएं बनती हैं :—

कारीगर्, सुदाँगर्, कामगर् ।

व्युत्पत्ति :— इसकी उत्पत्ति फा० -गर (گر) से हुई है ।

५६. -ची—इस प्रत्यय के संयोग से स्वभाववाची संज्ञाएं बनती हैं :—

नकलची, अमलची, फीम्ची, खजानची ।

व्युत्पत्ति :—इस प्रत्यय की उत्पत्ति फा० -ची से हुई है। वस्तुतः इसका उद्गम तुर्की भाषा से है जो फा० के माध्यम से आया है।

५७. -जॉदा—इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

शहजॉदा, हरामजॉदा, पीरजॉदा।

व्युत्पत्ति :—इसकी उत्पत्ति फा० -जादः (oaj) से हुई है।

५८. -जा, -जी—इस प्रत्यय के संयोग से सम्बन्धवाची संज्ञाएं बनती हैं, यथा

भाण्जा, भाण्जी, भतीज्जा, भतीज्जी।

व्युत्पत्ति :—सं० -जात → जा।

५९. -ड़ा, -ड़ी—-ड़ा -ड़ी आ० भा० आ० का स्वार्थे प्रत्यय है। इसका उद्गम म० भा० आ० भा० के स्वार्थे प्रत्यय -ड में खोजा जा सकता है जिसके साथ पु० में + आ और स्त्री० में + ई लग जाते हैं। यह प्रत्यय पंजाबी, राजस्थानी, हरि० आदि भाषाओं में अत्यधिक प्रचलित है।

म० भा० आ० भा० का स्वार्थे प्रत्यय -ड ← सं० -र, -त का विकसित रूप है। डा० उदय नारायण तिवारी जी का विचार है कि कर्मवाच्य कृदन्तीय प्रत्यय जो तद्धित प्रत्यय के रूप में संज्ञा तथा विशेषण पदों के साथ लगता था स्वतः मूर्धन्यीकरण के कारण -ट में परिणत हो गया जिससे ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के कारण -ड की उत्पत्ति हुई। आ० काल में यही -ड़ा, -ड़ी के रूप में मिलता है। हरि० में इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

बछड़ा, बछड़ी, छोहरड़ा, छोहरड़ी, गामड़ा, गामड़ी, गोरड़ा (गोरी), टोरड़ा (पत्थर का टुकड़ा)।

स्वार्थे प्रत्यय होने के कारण छोटा, प्यारा आदि अनेक अर्थों में इसका मनमाना प्रयोग मिलेगा।

६०. -णा, -णी—यह प्रत्यय धातुओं के साथ संयुक्त हो कर भाववाचक संज्ञाएं तथा अन्य प्रकार की संज्ञाएं बनाता है :—

भाववाचक :

आणा, जाणा, गाणा।

अन्य संज्ञाएं :

पालणा (पंघूड़ा), सोहरणा (बुहारी), छालणा (छानने का कपड़ा), छालणी (छलनी)।

व्युत्पत्ति :—सं० -अन, -न + -आ, या -ई।

६१. -त्, -ता, -ती—इस प्रत्यय की उत्पत्ति सं० -त्व से है और इसके साथ

स्वार्थे -आ लग कर -ता तथा ई लग कर -ती प्रत्यय बनते हैं । इसके उदाहरण निम्न-लिखित हैं :—

-त् → भाम्मत् (हजामत्), रंगत् आदि ।

-ता ← माम्ता (ममता) ।

-ती → भरती, गिणती, कम्ती आदि ।

विशेष :—अरबी, फा० प्रत्यय -त ने भी इसे पुष्ट किया है यथा :—

ज्यादः → ज्यादती ।

६२. -दड़—हरि० में इस प्रत्यय का केवल एक उदाहरण मिलता है :—

सीखदड़ इसकी उत्पत्ति सं० -अत् + स्वार्थे -ङ् से प्रतीत होती है ।

६३. -दान्, दाँन्नी—यह प्रत्यय फा० दान्, दानी (دانی) से विकसित हुआ है । हरि० इसके निम्नलिखित उदाहरण हैं :—

-दान् : कलम्दान्, फूलदान्, कटोर्दान् ।

-दाँन्नी : चूहेदाँन्नी, सुरमाँदाँन्नी, मोँच्छर्दाँन्नी ।

६४. -दार्—यह प्रत्यय भी फा० दार से आया है । इसके उदाहरण निम्न लिखित हैं —

चोक्कीदार्, होल्दार्, विस्वेदार्, लम्बरदार्, थाणेदार्, सिरदार्, दुकन्दार्, मजेदार् आदि ।

व्युत्पत्ति :—फा० दार → -दार् ।

६५. -पणा—यह प्रत्यय भाववाचक संज्ञाएं बनाता है । इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

लुचपणा, ऊत्पणा, रिस्तापणा ।

व्युत्पत्ति :—इस प्रत्यय की उत्पत्ति पन् + आ से है । पन् ← प्रा० भा० आ० भा० -त्वन से है । -त्वन प्रत्यय से निर्मित शब्द वैदिक भाषा में मिलते हैं, यथा—मर्त्यत्वन, महित्वन । इसी का दूसरा रूप -त्व से निष्पन्न होता था । अतः प्रा० भा० आ० भा० -त्व, -त्वन से एक और -प्प, -प्पा और दूसरी ओर -पण्, -पणा विकसित हुए हैं ।

६६. -पा—यह उपरिनिर्दिष्ट प्रत्यय का ही दूसरा रूप है । इसका विकास-क्रम इस प्रकार है : सं० -त्व, -त्वन, → -प्प → -प्पा, पा । इसके उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

बुढाँप्पा, रंडाँप्पा, मुटाँप्पा ।

६७. -पोस्—यह प्रत्यय फा० पोश् से आया है । इसके उदाहरण निम्न-लिखित हैं :—

मेज्-पोस्, पिलंग्-पोस्, धोल्-पोस् (सफेद-पोश) ।

६८. -बन्द्—इस प्रत्यय से निर्मित संज्ञाओं के निम्नलिखित उदाहरण हैं :—

गुल्बन्द्, कमरबन्द्, बॉब्जबन्द् (एक आभूषण) ।

व्युत्पत्ति :—फा० -बन्द (بند) है ।

६९. -वाज्—संज्ञाओं के साथ संयुक्त होता है और उससे स्वभाव को व्यक्त करने वाली संज्ञाएं बनती हैं :—

चाल्वाज्, धोकखेवाज्, कवूतरवाज् आदि ।

व्युत्पत्ति :—इसका मूल फा० वाज (واج) है ।

७०. -वा—धातुओं के साथ संयुक्त होकर कर्तृवाचक संज्ञाएं बनाता है :—

उदाहरण :— ✓ले+वा→लेवा (लेने वाला), ✓दे+वा→देवा (देने वाला),
✓खे+वा→खेवा (सहन करने वाला), ✓खो+वा→खोवा (खोने वाला) ।

व्युत्पत्ति :— -पाल → -वाल → -वा ।

७१. -वाल, -वाला—यह प्रत्यय उपरनिर्दिष्ट प्रत्यय का दूसरा रूप है । इसके उदाहरण काफी मिलते हैं :—

खाईवाल, लग्वाल, ऊंट्वाल, गड्वाला ।

व्युत्पत्ति :— -पाल → -वाल → -वाल्, + स्वार्थे -आ या -ई ।

७२. साला—इस प्रत्यय के संयोग से स्थानवाची संज्ञाएं बनती हैं ।

उदाहरण :—पाठसाला, गऊसाला, धरमसाला ।

व्युत्पत्ति :— -शाला → -साला ।

७३. -हरा, -हारी—इस प्रत्यय से निर्मित संज्ञाओं के उदाहरण निम्नलिखित हैं —

पीण्सहारी, कॉत्तएहारी, लकड़हारा, पणहारी, पणिहारा, कलिहारी आदि ।

व्युत्पत्ति :—सं० -हारक → -हारअ → -हार + स्वार्थे -आ या -ई ।

लघ्वर्थक प्रत्यय

३. भाषाओं में कुछ ऐसे शब्द हुआ करते हैं जिनसे वस्तुओं के छोटा अथवा बड़ा होने का भेद स्पष्ट विदित होता है । छोटे आकार को प्रकट करने वाले शब्दों के साथ अलग से लगे हुए, परन्तु पद के साथ पूरी तरह से घुले-मिले प्रत्यय दिखाई देते हैं । इन्हीं प्रत्ययों को लघ्वर्थक प्रत्ययों की संज्ञा प्रदान की जाती है । । यहां हरि० के कुछ लघ्वर्थक प्रत्ययों पर विचार किया जाएगा । पहले प्रत्यय, उसके सामने कोष्ठों में उनकी व्युत्पत्ति और फिर उनके उदाहरण प्रस्तुत किए जायेंगे ।

१. -अक्, -अकी (सं० -अक्, -क) ढोल्लक्, छोल्लक्, ढोल्ली ।
२. -इआ←(इक→ -इअ + आ) लुटिआ, डिबिआ, पुड़िआ, हंडिआ, टिकिआ आदि ।
३. -आ←अक→ -आअ→ -आ) टीकड़ा, छोल्ला आदि ।
४. -ई (सं० -इक→ई) टीकड़ी, चिम्टी, फिरकी, गाँड्डी, मट्की, हाँड्डी ।
५. -उआ (सं० -उक → -उअ + आ) बेलुआ, घडुआ ।
६. -एली (सं० -इल→प्राकृ० -इल्ल → -एल + -ई) हथेली ।
७. -ओल्ला, -ओल्ली (ओला का प्रतिरूप, खटोल्ला, -ओला←ओलिया←खटोल्ली । गुलिका ।)
८. -चा, -ची ←तुर्की -चा, + -ई) डेग्चा, डेग्ची, संदूख्चा, संदूख्ची ।
९. -डा, -ड़ी (प्राकृ० -ड्) संदूखड़ा, संदूखड़ी, गामड़ा, गामड़ी, छाब्ड़ा, छाब्ड़ी ।
१०. -टा, -टी, (-ट+स्वार्थे -आ या -ई) नाइटा, चोर्टा, होक्टी, चोर्टी ।
११. -ता, -ती (सं० -त, -ट → -त + स्वार्थे -आ या -ई) घोड़ता, घोड़ती ।
१२. -णां (बीम्स -ण+आ को लघ्वर्थक प्रत्यय मानता है) विलोट्णा, मटक्णां ।
१३. -ला (-टा, -डा → -ला) कुट्ला, चुट्ला, चुड़्ला, मोघ्ला ।

उपसर्ग

४. हरियाणवी के उपसर्गों पर वर्णक्रम से विचार किया जा रहा है। यह उपसर्ग देशी तथा विदेशी उद्गम से सम्बन्ध रखते हैं ।

१. -अ- (सं० अ-) अकाज्, अमर्, अडिग्, अटल्, अवेर् (देर) ।
२. अण्-, अन्-, (सं० अन्-) अण्बोल्, अण्खूच्चा, अण्होणी ।
३. ओ- (सं० अव-) ओगण्, ओक्कल् (बेचैनी) ।
४. क (सं० कु-) कपूत्, कसूत्, कबीज्, करूप् ।
५. कु- (सं० कु-) कुढाल्, कुजात्, कुनाज्, कुरोग् ।
६. गेर्- (गैर् ५६) गेर्-माणस्, गेर्-ठिकाणां, गेर्-वखत्, गेर्-हॉज्जर् !
७. दुर्- (सं० दुर-) दुर्देन्, दुर्भाग ।
८. दू- (सं० दुर-) दूब्भर्, दूब्ला ।
९. न- (सं० न- फा० ना-) नपूत्ता, नलेक् ।

१०. नि-, निर्- (सं० निर-) निलज्, निर्लज्, निरास्, निर्दोस्, निकर्मां,
निडर् ।
११. ना- (फा० ना- ७) नासमम्, नामेदी ।
१२. नु- (सं० निर्-) नुग्रा ।
१३. विन्-, विना- (सं० विना-) विन्वात्, विनावात् ।
१४. वे- (फा० वे- ८) वेसरम्, वेहाल्, वेडोल् ।
१५. वद्- (फा० वद्- ९) वद्ग्रांङ्, वद्खोर्, वद्कार् ।
१६. ला-, ल- (फा० ला- १०) लापता, लापरवा, लचार् ।
१७. स-, सु- (सं० सु-) सफल, सुफल, सुघड्, सुदिन्, सुगम्, सपूत ।
१८. हर्- (फा० हर्- ११) हरेक् (हर्-एक), हर्गाम्, हर्घडी, हर्काम्,
हर्वात् ।

विशेषण बनाने वाले प्रत्यय

५. विभिन्न पदों के साथ प्रत्ययों के संयोग से निर्मित विशेषण :—

१. -अल्, -अल् या अल्य्—संज्ञाओं के साथ लगा कर विशेषण बनाए जाते हैं :—

हाँथल् (हाथ पड़ी हुई), मूँच्छल् (बड़ी मूँछों वाला), डाँड्डल् (बड़ी दाढ़ी वाला), होट्टल् (बड़े और मोटे होंठों वाला) ।

व्युत्पत्ति :—सं० -इल् → -अल्, -अल् ।

विशेष :—कहीं कहीं हाथल् → हाथल्य् रूप भी मिलता है ।

२. -अड् या -अड्य्—यह प्रत्यय भी संज्ञाओं के साथ लग कर विशेषण बनाता है :—

घॉम्मड्, खेत्तड्, चॉम्मड्, दुहाँथड् ।

व्युत्पत्ति :—प्राकृ० -ड → -ड → अड् ।

३. -आ—संज्ञाओं के साथ लगता है । इसके अनेक उदाहरण मिल सकेंगे :

रुखाला, भूख्वा, खोट्टा, लील्ला, सॉच्चा, भूट्टा, पोल्ला आदि ।

व्युत्पत्ति :—इसकी उत्पत्ति वै० अवक, सं० अक → प्राकृ० -आअ → हरि० -आ ।

४. -आऊ या -ऊ—मूल धातुओं के साथ या प्रेरणार्थक क्रियाओं के साथ 'आऊ' या 'ऊ' प्रत्यय के संयोग से विशेषण पद बनते हैं, यथा :—

खोऊ-खिडाऊ (फिजूल खर्च करने वाला), कटाऊ, लुटाऊ, कडाऊ

कड़ाऊ, बिकाऊ, टर्काऊ आदि ।

व्युत्पत्ति :—आऊ←प्रो० भा० आ० भा० -आप् + -उक (क्रियामूलक विशेषण प्रत्यय) -ऊ ← -उक् ।

५. -आया—संज्ञाओं के साथ जोड़ा जाता है और कई बार (विदेशी) विशेषणपदों के साथ भी लगता है :—

गढ़ाया, भरमाया, मुताया, हगाया, तिसाया, गरमाया, मस्ताया आदि ।

व्युत्पत्ति :— -त, -इत → -अ, -इअ + आ या ई ।

६. -आर्—संज्ञाओं के साथ संयुक्त होता है :—

दुधार् (दूध देने वाला पशु), गंवार् (गांव का रहने वाला), दातार् (दाता, सखी) ।

व्युत्पत्ति :— -आर←सं० कार ।

७. -आला—संज्ञाओं के साथ संयुक्त हो कर संभवतः सर्वाधिक विशेषण बनाता है :—

टोप्पी-आला, बेंत-आला, खंडके-आला (साफे वाला) ।

व्युत्पत्ति :—आला←सं० -पालक→वाल् + -अ या -ई ।

८. -ई—इस प्रत्यय का प्रयोग सम्बन्ध-द्योतन के लिए होता है, चाहे वह समय के साथ हो, चाहे स्थान के साथ अथवा किसी वस्तु के साथ । इसके उदाहरण भी बहुत मिलेंगे :—

रोहतकी, भोज्जरी, कलजुगी, सतजुगी, धर्मी, पोंप्पी, सूत्ती आदि ।

व्युत्पत्ति :—सं० -इक, इका → -ई । यह प्रत्यय फा० -ई से भी पुष्ट हुआ है ।

९. -ईन—संज्ञाओं के साथ जुड़ता है । विदेशी शब्द प्रत्यय सहित अपनाए जाते हैं पर इसके उदाहरण बहुत कम मिलेंगे ।

उदाहरण :—नमकीन, सुकीन आदि ।

व्युत्पत्ति :— फा० -ईन ।

१०. -इअल्—संज्ञाओं और धातुओं के साथ संयुक्त होता है :—

सड़िअल्, घड़िअल्, मरिअल्, अड़ियल, पड़िअल आदि ।

व्युत्पत्ति :— -इअल ← -इक + -ल→इअल ।

११. -इआ—संज्ञाओं और धातुओं के साथ संयुक्त होता है :—

गुणिआ, लंगोटिआ, कालिआ, धौलिआ, सुखिआ, छलिआ, तेलिआ, लवाड़िआ ।

व्युत्पत्ति :— -इक → -इअ + (आ) ।

१२. -ईल्ला—संज्ञाओं के साथ जोड़ा जाता है :—

गंठील्ला, हठील्ला, फुर्तील्ला, रसील्ला, छवील्ला, सुरील्ला आदि ।

व्युत्पत्ति :—ईल्ला←सं० -इल + (आ या ई) ।

१३. -ऊ—विशेषणों के साथ जुड़ता है :—

छोद्दू, लीलू, कालू, लॉलू, भूरू, दोनू, तीनू, चारू आदि ।

व्युत्पत्ति :—सं० -उक → -उअ → -ऊ ।

१४. -(वा) उआ—संज्ञाओं के साथ लगता है :—

दांदुआ, भडुआ, कडुआ, नचणुआ ।

व्युत्पत्ति :—सं० -वन्त् → वत् → -उअ + (आ) ।

१५. -उआ—इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

सेरुआ, टहलुआ, बन्धुआ ।

व्युत्पत्ति :—सं० उक → प्राक० उअ (+आ) ।

१६. -एड़ी—संज्ञाओं के साथ संयुक्त होता है—नसेड़ी, गंजेड़ी ।

व्युत्पत्ति :—संस्कृत -अक + -ड + इक ।

१७. -एरा—इसके निम्नलिखित उदाहरण हैं :—

लुटेरा, कमेरा, सपेरा, कसेरा ।

व्युत्पत्ति :—सं० -अ -कर → -अ -अर → -एर् + -आ या -ई ।

१८. -एरा—हरियाणवी में इसका केवल एक उदाहरण है—भतेरा । इसका उद्गम और विकास इस प्रकार हुआ है : सं० -अ -तर → -अ -अर → -एर् + -आ या -ई ।

१९. -एरा—इसके निम्नलिखित उदाहरण हैं :—

चचेरा, फुफेरा, ममेरा ।

व्युत्पत्ति :—सं० कार्यक → केरअ → केर → -एर् + -आ या -ई ।

२०. -एल—संज्ञापदों के साथ संयुक्त होता है :—

भकैल्, गुसैल्, नसैल्, चुडैल्, भगडैल् आदि ।

व्युत्पत्ति :—इसकी उत्पत्ति सं० स्वार्थे तथा विशेषणीय -इल → प्राक० -इल → -ऐल्, से हुई है ।

२१. -एसरी—साधारणतः धातुओं के साथ और कभी कभी विशेषणों के साथ लगता है, यथा :—

पढेसरी, धनेसरी, बडेसरी, हंडेसरी ।

व्युत्पत्ति :—-एसरी←सं ऐश्वरीय ।

२२. -ऐहंडा—संज्ञाओं के साथ लगता है—आलैहंडा, धूलैहंडा ।

व्युत्पत्ति :—हिंडितः → -हंडा तथा पूर्व पदान्त के अन्तिम स्वर के फैलाव से -ऐ और लग गया ।

२३. -ओ—संज्ञाओं के साथ लगता है । इस प्रकार निर्मित विशेषण केवल स्त्री-लिंग में प्रयुक्त होते हैं :—

भंभो, भोंगो, लोंडो, धन्नो, बत्तो, नक्को ।

व्युत्पत्ति :—ओ←सं० -वती → -वई → -उई, -उ जहां यह पदान्त -अ से मिल कर -ओ में बदल गया है ।

२४. -ओकड़ा—धातुपदों के साथ लग कर विशेषणों का निर्माण करता है :

हंसोकड़ा, लड़ोकड़ा, जलोकड़ा, बलोकड़ा, पिटोकड़ा, खिजोकड़ा, भिड़ोकड़ा, बतोकड़ा ।

विशेष :—इस प्रत्यय का रूप 'ओड़्' और 'आड़ा' भी पाया जाता है यथा—हंसोड़, चिताड़ा आदि । स्त्रीलिंग में -ओकड़ा के स्थान पर 'आकड़्' प्रत्यय पाया जाता है या -ओकड़ को विकल्प से 'ई' प्रत्यय का आगम हो जाता है, यथा—गुआँकड़ (गाने वाली), धराँकड़ (करेवे से लाई हुई), हंसोकड़, हंडोकड़ (व्यर्थ घूमने वाली, लडोकड़ी, बलोकड़ी (ईर्ष्यालु) । संक्षेप में यह प्रत्यय स्वभावजन्य विशेषता का द्योतक है ।

व्युत्पत्ति :—हानल इसकी उत्पत्ति -आपक से मानते हैं परन्तु डा० चैटर्जी इसे प्राकृ० -अक्क या -आक्क से मानते हैं । हमारे विचार में इसे -अक्कड←प्राकृ० अक्क + ट का ही विस्तृत रूप समझना अधिक संगत होगा ।

२५. -जा, -था, -मां, -टाया -ठा—संख्यावाची पदों प्रश्नवाची सर्वनामों के साथ लगते हैं :—

-जा : दूँज्जा (दूसरा), तीँज्जा (तीसरा) ।

-था : चोत्था (चौथा), कोत्था (कौन सा) ।

-टा या -ठा : छटा या छठा ।

-मां : सात्मां (सातवां), आठमां (आठवां) ।

धातुओं के साथ—मुड्मां (मुड़ी हुई), तुड्मां (टूटी हुई) ।

व्युत्पत्ति :—टा या -ठा←सं० -ठः + (-आ या -ई) ।

-था←सं० -थः + (-आ या -ई) ।

-मां←सं० -मः + (-आ या -ई) ।

-जा←सं० -ईयः → -ज + (-आ या -ई) ।

२६. -णां—धातुओं के साथ संयुक्त होकर विशेषण बनाता है :—

फुदकणां (फुदकने वाला), मारणां, भाजणां, चिलकणां (चमकने वाला),

चिमकणां (विदकने वाला) ।

व्युत्पत्ति :—सं० -अन + (-आ या ई) ।

२७. दा—धातुओं के साथ वर्तमान कालिक कृदन्त बनाने के लिए लगाया जाता है और वह कृदन्त विशेषण का काम भी देता है, यथा :—

हाल्दा, कूल्हा, सौंदा, रौंदा, धौंदा (धोता हुआ) ।

व्युत्पत्ति :—इसका विकास शतृ अन्त से हुआ है ।

२८. -न्दड़ा—धातुओं के साथ संयुक्त किया जाता है तथा स्वभाव-वाची प्रत्यय है :—खिलन्दड़ा, रौन्दड़ा, सिखन्दड़ा, भुलन्दड़ा ।

व्युत्पत्ति :—यह प्रत्यय शतृ अन्त + प्राकृ० स्वार्थे ङ (ङ) (-आ या -ई) से बना है ।

२९. -टा—संज्ञाओं के साथ लगता है :—

बहकटा, सहकटा, ओपटा, चोरटा ।

व्युत्पत्ति :—स्वभाव-वाची प्रत्यय -टा ← प्रा० भा० आ० भा० -वर्त (✓वृत् → म० भा० आ० भा० -वट् → -ट (+ -आ या -ई) ।

३०. -ड़ा—संज्ञाओं के साथ, यथा :—

जनान्^xड़ा, छोह^xर्ड़ा, ऊत्^xड़ा ।

व्युत्पत्ति :—प्राकृ० स्वार्थे -ङ → -ड (+ -आ या -ई) ।

३१. -बर्गा—संज्ञाओं और सर्वनामों के साथ समानता बताने के लिए प्रयुक्त होता है :—

मां-बर्गा (मां के समान), तेरे-बर्गा (तेरे समान), मेरे-बर्गा, उस-बर्गा, गधे-बर्गा आदि ।

व्युत्पत्ति :—वर्गकः → बरगा ।

३१. (क) -लड़ा—संख्याओं के साथ संयुक्त होता है :—

इकलड़ा, दोलड़ा, तिलड़ा, चारलड़ा, पंचलड़ा, सत्लड़ा ।

व्युत्पत्ति :—लट् → -लड् (+ आ) ।

३२. -ला—संज्ञाओं, विशेषणों और कुछ संख्याओं के साथ लगता है :—

कांचला, चींचला, दुभांतला, रोगला, पहला, एकला, दोकला आदि ।

व्युत्पत्ति :—यह प्रत्यय संस्कृत के विशेषण-प्रत्यय -ल से निष्पन्न हुआ है ल- (+ -आ या + -ई) ।

३३. -वर्—संज्ञाओं के साथ लगता है :—

जानवर्, ताकतवर्, नामवर् ।

व्युत्पत्ति :—वर् ← फा० वर (,१) ।

३४. -वा—संज्ञाओं के साथ लगता है :—

पिछ्वा, पिर्वा ।

व्युत्पत्ति :—पूर्व से बहने वाली—सं० पूर्ववा→पर्वा या पिर्वा । इसी के सादृश्य पर पिछ्वा बना है ।

३५. -वान्, -वान्—संज्ञाओं के साथ लगते हैं :—

गाँड्डीवान् या गाँड्डीवान् , ऊँदवान् , पीलवान् , रथवान् ,
ड्योड्डीवान् ।

व्युत्पत्ति :—इस प्रत्यय का मूल फा० -वान (وَان) है ।

३६. -सा—संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण के साथ संयुक्त होता है :—

लाल-सा, पीला-सा, ऊँद-सा, बाँदूर-सा, मेर-सा, तेर-सा आदि ।

‘ठीक वही नहीं प्रत्युत उसके समान’ अर्थ को द्योतित करने के लिए इसका प्रयोग सामान्य रूप से किया जाता है ।

व्युत्पत्ति :—सं० सम→सअं→सा ।

६७. -सरा—संख्याओं के साथ संयुक्त होता है :—दूसरा, तीसरा ।

व्युत्पत्ति :—हानले ने इसकी व्युत्पत्ति (गौ० ग्रे० ३७१) ‘सृतः’ से मानी है ।
डा० चैटर्जी इसे ✓सृ→सर् से मानते हैं ।

३८. -हरा—संख्याओं के साथ संयुक्त होता है :—

कैहरा, दूहरा, तीहरा, चोहरा, छंहरा आदि ।

व्युत्पत्ति :—इसकी व्युत्पत्ति सं० हार (विभाग) से बताई जाती है ।

५. (क) अंगङ्, -आना, -बाज्, -खोर्, -दार्, -हार् के संयोग से भी विशेषण पद निर्मित होते हैं । इन पर संज्ञाओं के अन्तर्गत वर्णक्रम से विचार किया जा चुका है, अतः इनकी आवृत्ति यहां नहीं की जा रही है ।

(ख) विशेषण निर्माण में सहायक उपसर्ग भी लगभग वही हैं जिन पर संज्ञाओं के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है । ‘वेसरम्’, ‘बेल्हूयाज्’ आदि पद मूलतः विशेषण ही हैं । अतः इनकी भी यहां आवृत्ति नहीं की जा रही है ।

क्रिया-विशेषण बनानेवाले प्रत्यय

६. क्रियाविशेषण निर्माण में सहायक प्रत्यय नीचे दिए जाते हैं :—

१. -अम्—इसका केवल एक उदाहरण उपलब्ध है : पहलम् । इसका दूसरा रूप पहल्यां या पहलां भी मिलता है । इसका मूलरूप सं० -अम् है । -लां या ल्यां वाले रूप के साथ सं० -इल→प्राकृ० -इल्ल भी जुड़ा हुआ है । अन्तिम अनुस्वार के लिए पूर्व-निर्दिष्ट -अम् ही जिम्मेवार है ।

२. -ई, -ई, -ए, -एं, ऐ—यह प्रत्यय वस्तुतः एक ही है जो विभिन्न रूपों में पाया जाता है। इसका मूल रूप सं० के अधिकरण का चिह्न -ए है। इसके उदाहरण नीचे प्रस्तुत किए जाते हैं :—

-ई, ई : पहली, पहली (पहले)।

-ए : चौथे (चौथी बार), छटे (छठी बार), दूज्जे (दूसरी बार) तीज्जे (तीसरी बार)।

-एं : ठाँडें (जोर से), वाँत्ते (बातों से या में), हॉल्लें (अभी)।

ऐ : म्हारें (हमारे यहां), थारें (तुम्हारे यहाँ), चोत्थे (चौथी बार), दूज्जे (दूसरी बार), तीज्जे (तीसरी बार)।

टिप्पणी—इसी अर्थ में कहीं-कहीं -आं प्रत्यय भी मिलता है, यथा :—लात्यां (लातों से), बात्यां (बातों से), डाड्यां (जोर से)। यह प्रत्यय वस्तुतः बहु व० बनाने वाला प्रत्यय ही है।

३. -एँ, -यें, -यां—यह प्रत्यय भी उपरिनिर्दिष्ट प्रत्यय ही है। यह कृदन्त रूपों के साथ भी पाया जाता है और -यां रूप का उल्लेख भी ऊपर की टिप्पणी में किया जा चुका है। कृदन्त रूपों में इसका प्रयोग कुछ विचित्र सा प्रतीत होता है। इसीलिए इसे अलग से रखा गया है ताकि बात स्पष्ट हो जाए। इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं—

रहें (रहने पर), जाएं (जाने पर), जांदे जांद्यां (जाते हुए)।

४. -इआ या -इआं—संज्ञाओं के साथ लगाया जाता है—कसमिआं, कसमिआ, इलानिआ, धर्मिआ, धर्मिआं।

व्युत्पत्ति :—कुछ विद्वान् इसे सं० स्रोत से मानते हैं, यथा—इक + -आ (स्वार्थे) और अन्य इसे अर० प्रत्यय ही मानते हैं।

५. -आऊ—ऊपर की भांति यह प्रत्यय भी धातुओं के साथ और इसी अर्थ में जोड़ा जाता है, यथा :—

लिक्ड़ाऊ : (हे उठ् ले क्यूं नां, दिखे दिन् लिक्ड़ाऊ हो र्हा से)।

बरसाऊ : (दिखे राम् बरसाऊ हो र्हा से, टुकेक् छतरी ले कें जाइए)।

व्युत्पत्ति :—आपक + -उक्।

६. -देसी (दे सी)—यह प्रत्यय सामान्यतः मूलभाव की व्यञ्जना के लिए अथवा गत्यात्मकता के बोध के लिए जोड़ा जाता है :—

गट् दे-सी, खट् दे-सी, पट् दे-सी, चट् दे-सी, गध् दे-सी, टुलक् दे-सी।

हिन्दी में इसी भाव को 'से' द्वारा व्यक्त किया जाता है, जैसे चट से खा लो।

व्युत्पत्ति :—दे + ल्यप (इ) देइ, अदे + सम → सअं → सा, सी।

७. -सिर्, -सर्—यह प्रत्यय संज्ञाओं के साथ जोड़ा जाता है, यथा :—
 मत्बल्-सिर्, -सर्, बखत्-सिर्, -सर्, ढाल्-सिर्, -सर्
 (ठीक तरह से)।

व्युत्पत्ति :—सदृश→सरिस→सरिह→सरिह→सरि→सर्, सिर्।

८. -हान्—संज्ञा अथवा विशेषणों के साथ जोड़ा जाता है :—
 पराहन् (दूसरी ओर), उराहन् (इस ओर), निचाहन् (नीचे की ओर)
 तलाहन् (नीचे की ओर), ईधान (इधर), न्यूधान (इस ओर)।

व्युत्पत्ति :—कर्मकारक का परसर्ग 'ने' मूल पदग्रामों के साथ इस प्रकार घुल-
 मिल गया है कि उसका रूप पहचानने में नहीं आ रहा है। पराहन् → परांह + ने है।
 परांह → पर + आंह है। 'ने' के ऊपर संज्ञाओं के अध्याय में परसर्गों के अन्तर्गत विचार
 किया जाएगा। आंह → प्राक्० अहिं ← स्मिन् ही प्रतीत होता है।

दूसरा अध्याय

समास

१. प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) में समास का विशेष महत्त्व था। समास और सन्धि का आश्रय लेकर संस्कृत का प्रचण्ड साहित्यकार एक वाक्य को कई-कई पृष्ठों तक जारी रख सकता था और लम्बे-लम्बे समस्त पदों से आक्रान्त उसकी रचना शैली संस्कृत-साहित्य में विशेष आदर की दृष्टि से देखी जाती थी क्योंकि समास और सन्धियों द्वारा वह थोड़े अक्षरों में अधिक भाव व्यक्त कर जाता था जो उस समय की मांग के नितान्त अनुकूल भी था। साहित्यिक भाषा में समासों का इतना महत्वपूर्ण स्थान होते हुए भी तात्कालिक सामान्य बोलचाल की भाषा में इनका प्रचलन संभवतः इतना ही रहा होगा जितना कि यह आज की भाषा में विद्यमान है। हमारे इस कथन की पुष्टि संस्कृत नाटकों के सरल और सुबोध कथोपकथनों से भी होती है और जहाँ-कहीं लेखक समास-सन्धि का आश्रय त्यागने में असमर्थ रहता है, वहाँ अभिनेता अथवा पाठक लोग मुख-सुविधा और सहज बोधगम्यता के सिद्धांतों का आश्रय लेकर गुंफित वाक्य खंड को अलग-अलग करके ही बोलते देखे गए हैं। अस्तु, आ० भा० आ० भा० चाहे संहित नहीं है फिर भी इनके अन्दर समस्त पद एक अमूल्य निधि के रूप में सुरक्षित हैं।

२. समासों की रचना और इनका महत्त्व--दो अथवा अधिक पद एक दूसरे के समीप आ कर एक दूसरे में इस प्रकार घुल-मिल जाते हैं कि उनकी अलग सत्ता नहीं रह जाती। वस्तुतः इस प्रकार का पारस्परिक संयोग ही एक समस्त-पद को जन्म देता है। ऐसे समस्त पदों में समस्यमान पदों के प्रत्यय और उपसर्ग तो ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हैं (क्योंकि उनके बिना संभवतः समस्यमान पदों का अस्तित्व ही न रहे) परन्तु उन में प्रत्येक पद की पृथक्-पृथक् विभक्तियों अथवा परसर्गों का लोप हो जाता है। इस के अतिरिक्त लिंग और वचन के विकारी चिह्न भी प्रायः लुप्त हो जाते हैं और ये केवल समस्त पद के साथ ही लगते हैं। कहीं-कहीं विभक्ति चिह्न अथवा उनके अवशिष्ट रूप अलग-अलग पदों के साथ भी देखने को मिलेंगे और ऐसे समासों को 'अलुक समास' की संज्ञा दी जाती है। ऐसी स्थिति बहुत कम देखने को मिलेगी।

आ० भा० आ० भा० प्राचीन भारतीय भाषा का विकसित रूप हैं। अतः आ० भा० आ० भा० के सूक्ष्म निरीक्षण से विदित होगा कि संस्कृत की समास-प्रियता इस की जड़ों में इतनी गहरी प्रवेश कर गई कि हम लोग अपने बच्चों के नाम भी प्रायः समस्त-पद में ही रखते हैं, यथा—स्योचन्द (शिव-चन्द), स्योद्याल (शिव-दयालु)। इसके अतिरिक्त साधारण प्रयोग में कई बार ऐसे समस्त पद मिलते हैं कि हमें यह मानना

पड़ता है कि यद्यपि आ० भा० आ० भा० विश्लेषण की ओर अग्रसर हो रही हैं तथापि उनके पद-निर्माण में समासों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

३. समासों के अध्ययन और उनके वर्गीकरण का उद्देश्य—आ० भा० आ० भा० की मूलप्रवृत्ति सामासिकता की ओर नहीं है और न ही समस्त पद साहित्यिक भाषा अथवा रचनाशैली के उत्कृष्ट आभूषण हैं, परन्तु समास की सहायता से आ० भा० आ० भा० के कुछ पदों का निर्माण अवश्य होता है। अतः प्रस्तुत अध्ययन में हमारा उद्देश्य यहीं तक सीमित रहेगा कि हरि० परम्परागत समासों को किस सीमा तक सुरक्षित रख पाई है। इस उद्देश्य को सामने रखते हुए हम ने इनके वर्गीकरण की और इतना ही ध्यान दिया है कि वह अध्ययन को सरल तथा सुचारु बनाने में सहायक हो सके^१। अतः हम इस दिशा में डा० सु० कु० चाटुर्ज्या के वर्गीकरण का अनुसरण करेंगे।

समासों का वर्गीकरण

४. समास के विभिन्न भेद-प्रभेदों का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप से किया जा सकता है :—

१. समुच्चय-मूलक (द्वन्द्व-समास)—इस में संयुक्त होने वाले दो या अधिक पद अपना-अपना अर्थ स्वतन्त्र रूप से नियत रखते हैं और समस्तपद दो या अधिक वस्तुओं अथवा भावों के समुच्चय को प्रकट करता है। चूँकि इसके पद अपना अर्थ प्रकट करने में स्वतन्त्र होते हैं, इस लिए इसे स्वतन्त्र समास की संज्ञा भी प्रदान की जा सकती है।

२. आश्रय मूलक समास—इस प्रकार के समासों में दोनों पद अपना अर्थ प्रकट करने में एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं। पहला पद या तो विशेषण होता है या दूसरे पद के अर्थ को सीमित करता है। इसके प्रमुख भेद निम्नलिखित माने गए हैं :—

(क) तत्पुरुष—उप-पद, अलुक्, नञ्, प्रादि, अव्ययीभाव, सुपसुपा और नित्य समास।

(ख) कर्मधारय—रूपक, उपासित, उपमान और मध्यमपदलोपी।

(ग) द्विगु।

३. बहुव्रीहि समास—समस्यमान पदों के अर्थों से जहाँ किसी अन्य अर्थ

१. डा० जगदेवसिंह ने अपनी पुस्तक 'बांगरू का संरचनात्मक अध्ययन' की धारा ५, २ तथा इसकी अन्य उपधाराओं में समास-रचना और वर्गीकरण की समस्याओं और रीतियों पर विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। परन्तु हमारा उद्देश्य भाषा का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करना है, अतः यहाँ वर्गीकरण की विभिन्न पद्धतियों के विवेचन की उलझन में न पड़ कर हम ने परम्परागत अमूल्यनिधि का लेखा-जोखा ही लिया है। डा० केलाग ने हिन्दी समासों का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए मोनियर विलियम का वर्गीकरण अपनाया है, परन्तु हमने उससे मिलते-जुलते डा० सु० कु० चाटुर्ज्या के वर्गीकरण को अधिक उपयोगी समझा है।

का बोध हो वहां बहुव्रीहि समास होता है। इसके चार भेद हैं :—

(१) व्यधिकरण, (२) समानाधिकरण, (३) व्यतिहार और (४) मध्यम-पदलोपी।

(१) समुच्चयमूलक (द्वंद्व समास)

५. हरियाणवी में द्वंद्व समास प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। जैसे संस्कृत में—
'रामश्च लक्ष्मणश्च' के स्थान पर 'रामलक्ष्मणौ' कहना अधिक उपयुक्त समझा जाता था। उसी प्रकार हरियाणवी में 'राम् अर् लक्ष्मन्' के स्थान पर 'राम्-लक्ष्मन्' कहना ही संगत समझा जाता है।

इस समास में समस्यमान पद इकट्ठे बोल दिए जाते हैं और उनके बीच में से 'अर्', 'र', 'ओर्' आदि संयोजक अव्ययों का लोप हो जाता है। समस्त-पद में रहने वाले दो या अधिक पद अपने अर्थ-प्रकाशन में सर्वथा स्वतन्त्र होते हैं और वे समस्त-पद में अविकृत रूप से संयुक्त रहते हैं। इनमें पहला पद प्रायः गौरव-बोधक होता है, यथा—'राम्-लक्ष्मन्' या 'राम्-सीता' में पहले 'राम' है अथवा उच्चारण की सुविधा से अपेक्षाकृत छोटा शब्द रहा करता है, जैसे नूण्-मिरच्। परन्तु इसके कुछ अपवाद भी देखे जाते हैं।

हरियाणवी में 'द्वन्द्व' के उदाहरण: —

(क) दो समान पदों से निर्मित : सीत्-रावड़ी, दाल्-चौल्, खीर-लाप्सी, साग्-सिब्जी, दही-चूरमा, तेल्-खटाई, गां-भोट्टी, बुल्ध-बाँछ्डी-पाँड्डा, पाँड्डी, मीम्मां-मीम्मी, गधी घोड्ती, मोर्-मोरणी, माँक्खी-माँच्छर्, चील्ह-कोतरी, हांड्डी-डोई, धोन्वी-तेल्ली, हीर्-गूजर्, जाट्-माली, सांम्-तड्का, घोट्टा-बाँड्धा, कूआ-जोड्ड, न्याम्-नफा, हकीम्-डाक्दार्, मां-बाँब्बू, भूआ-भाण्जी, दुराणी-जिठाणी, चूल्हा-चौक्का।

(ख) संज्ञाओं की भांति विशेषणों में भी द्वन्द्व समास देखिए—आँच्छा-भूँडा, काला-पीला आदि।

(ग) दो से अधिक पदों से निर्मित समस्त-पद :—

कलम्-दुआत्-बस्ता, लॉड्हु-जलेब्बी-पेड़ा, नींबू-नोरंगी-केला, लोटा-लुटिया-बखोरा, बूढा-बुढिया-छोरा।

(घ) 'मां-बाप' या 'मां-बाँब्बू' और 'बाप-बेटा' क्रमशः 'माता-पिता', 'पिता-पुत्र' आदि संस्कृत समस्त पदों के प्रतिनिधि ही हैं, वैसे मामूली पढ़े-लिखे व्यक्ति ऐसे संस्कृत समस्त-पदों का प्रयोग भी करते देखे जाते हैं।

(ङ) आँटटे-बाँटटे, दही-चटॉके, गोरी गां के धौले बाँछे के आँटटे-बाँटटे जैसे समस्त पदों में अलुक् द्वन्द्व है। अन्य उदाहरण—आँगे-पाँछे, तड़के-साँभ घणो-सारे, टोटटे-नफे आदि, इन शब्दों में विकारी प्रत्यय ज्यों के त्यों विद्यमान हैं, अतः यहां अलुक् द्वन्द्व है।

(च) इत्यादि-अर्थ-बोधक द्वन्द्व 'इत्यादि' का अर्थ निम्नलिखित कई-एक रीतियों से व्यक्त किया जाता है :—

- (१) एकार्थक पदों के समास से यथा—गां-गोखड़ी, साग-पान, रोटी-टीकड़ा, ईट-रोड़ा, कुआड़-पाट, हाँड्डी-बरोल्ली।
- (२) अनुचर शब्दों के सम्पर्क से, यथा—दाणे-दुण्के, चणे-चांचणे, बेच्-बूच, अड़ोस्-पड़ोस्, चोरी-चकोरी, सांप-सप्लोटिआ, टुकड़ा-टेरा।
- (३) प्रतिचर शब्दों के सहयोग से, यथा—हाली-पाली, डोल-रस्सी, धूप-छाँह, चांद-तारे, चोर्-जार्, बाँहर-भीतर।
- (४) विकृत शब्दों सहित—(विकृत शब्द अनुचरों में भी आ जाते हैं) यथा—न्यार-न्यूर, घास्-घूस, ज़ला-जलू।
- (५) ध्वनिसाम्य से निर्मित अनुचर शब्दों सहित—मोटटर-सोट्टर, रिक्स्या-पिक्स्या, लॉड्ड-पाँड्ड, ढेरे-परे (जूं आदि)।
- (६) समानार्थक शब्दों के संयोग से भी द्वन्द्व-समास बनता है :— हाँस्सी-मसखरी, चिट्ठी-पत्त्री, लाड-चा, लाड-प्यार।

(२) आश्रयमूलक समास

६. हरियाणवी में आश्रयमूलक समासों के लगभग सभी भेद मिलते हैं। प्रत्येक पर नीचे विचार किया जाता है :—

(क) तत्पुरुष—तत्पुरुष का अर्थ है—उसका सम्पर्की पुरुष। यह समस्त-पद के प्रतीक अथवा नाम स्वरूप से व्यवहृत होता है^१।

तत्पुरुष में द्वितीय पद प्रमुख होता है और पहले पद का दूसरे पद के साथ अन्वय बना रहता है।

तत्पुरुष के विभिन्न भेदों में उपपद तथा अलुक् तत्पुरुष को ही प्रधान समझना चाहिए। शेष नञ् तत्पुरुष, जिसमें नहीं आदि का भाव 'अ' 'अन' 'ना' 'वे' आदि उपसर्गों की सहायता से व्यक्त किया जाता है, प्रादि तत्पुरुष (भी उपसर्गों की सहायता से बनते हैं), अव्ययीभाव (जिसमें पहला पद अव्यय होता है यथा—हर्-रोज)

आदि) आदि पर उपसर्गों के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है। संस्कृत में भले ही प्रतिदिन और अनुदिन जैसे शब्दों में समास देखने की पद्धति रही हो, पर आ० भा० आ० भा० में ऐसे शब्दों को उपसर्ग के संयोग से निर्मित मात्र मानना ही अधिक संगत जान पड़ता है, इन्हें दोनों ओर स्थान देना 'केवल पिष्टपेषण' है। इसी प्रकार 'नित्य समास' और 'सुपसुपा' का महत्त्व प्रा० भा० आ० भा० संस्कृत तक ही सीमित समझना चाहिए।

उप-पद तत्पुरुष-संस्कृत में प्रथमाविभक्ति के अतिरिक्त शेष विभक्तियों के तत्पुरुष मिलते हैं। इसी प्रकार हरियाणवी में भी तत्पुरुष न्यूनाधिक रूप से विद्यमान हैं, परन्तु इनमें षष्ठी तत्पुरुष को ही अधिकता प्राप्त है। नीचे प्रत्येक तत्पुरुष के उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं:—

द्वितीया तत्पुरुष—ऊत्-जाणिआ।

तृतीया तत्पुरुष—आख्यां-देक्खी।

पंचमी तत्पुरुष—नॉक्कू-छोड्या, मां-विछड्या, देस्-लिकाड्या।

षष्ठी तत्पुरुष—वैल्-गोडडी, घोड़ा-गोडडी, कण्-फूल, बाँजु-बंद, मोट्टर-अड्डा, नाज्-मंडी (आदि देशी और विदेशी तथा मिश्रित शब्दों से उपलब्ध हैं)।

सप्तमी तत्पुरुष—वर्-घुसडू, गार्-धस्या, बांस्-टंग्या (लाँबा जरा बांस् टंग्या)।

अलुक् तत्पुरुष—में विकारी चिह्न का सर्वथा लोप नहीं होता। यथा—गोड्डे-पाणी, हाथें-बातें, आंक्खें-कान्यां आदि।

(ख) कर्मधारय—हरियाणवी में साधारण कर्मधारय और मध्यमपद-लोपी के ही उदाहरण मिलेंगे। शेष कर्मधारय हरि० में नहीं मिलते। अतः यहां केवल प्रथम दो पर विचार किया जाएगा।

साधारणतः कर्मधारय की छः अवस्थाएं मानी गई हैं:—

(१) जहां पूर्वपद विशेषण हो, (२) जहां उत्तरपद विशेषण हो, (३) जहां दोनों पद विशेषण हों, (४) जहां दोनों पद विशेष्य हों, (५) अवधारण पूर्वपद और (६) जहां पूर्व पद सर्वनाम या संख्यावाचक हो (कई एक विद्वान् यहां उपसर्ग को भी प्रथम पद मान लेते हैं यथा—कपूत्, सपूत् आदि)।

१. जहां पूर्व पद विशेषण हो—हरियाणवी में इस प्रकार का कोई समास नहीं

१. जैसा कि हम आगे देखेंगे, आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में कर्मधारय नाममात्र को ही रह गया है। वस्तुतः इसकी सत्ता मिट चुकी है।

बनता। संभव है कुछ विद्वान् इस कथन को देख कर चौंक उठें, पर वस्तुतः बात ऐसी ही है। संस्कृत में 'कृष्णसर्पः' अवश्य समस्त-पद है परन्तु हरियाणवी में 'लाल् किला' अथवा 'काला नाग्' जैसे पदों को समस्तपद नहीं कहा जा सकता। इस कथन की पुष्टि के लिए निम्नलिखित कारण प्रस्तुत किए जाते हैं :—

(क) कर्मधारय का अर्थ है कर्म, वृत्ति या गुण धारण करनेवाला। संस्कृत के 'कृष्णसर्पः' के स्थान पर 'कृष्णः सर्पः' कह देने पर भी गुण, वृत्ति या कर्म धारण करने में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ता। पर क्या इस आधार पर 'कृष्णः सर्पः' को समस्त पद कहा जा सकेगा ? 'कृष्णः सर्पः' समस्त-पद इस लिए नहीं कि दोनों पद अलग-अलग और स्वतन्त्र रूप से दो पद हैं और उन दोनों ने मिलकर एक पद को जन्म नहीं दिया है। इसके विपरीत 'कृष्णसर्पः' एक पद है और इस में 'कृष्ण' अथवा 'सर्प' की अलग सत्ता नहीं रहती। इसी लिए 'कृष्णसर्पः' समस्तपद है। परन्तु हरियाणवी के 'लाल् किला' और 'काला नाग्' पदों को एक पद नहीं, दो पद ही कहेंगे, अर्थात् ये दोनों पद अलग-अलग पूर्ण रूप से उसी प्रकार स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए हुए हैं जैसे 'कृष्णः सर्पः' के दोनों पद। दोनों के एक पद बनने के लिए उन में विशेषण और विशेष्य का पूर्वापर सम्बन्ध ही अपेक्षित नहीं प्रत्युत पूर्वपद का अपनी स्वतंत्र सत्ता खो कर दूसरे में पूर्ण रूप से समाहित हो जाना भी अपेक्षित है।

(ख) यहां यह भी आपत्ति की जा सकती है कि 'कृष्णः सर्पः' में विसर्ग रूप से विभक्तियों का व्यवधान शेष है। इस लिए इनको दो पद कहना ही उचित है, परन्तु हरियाणवी के 'लाल् किला' और 'काला नाग्' पदों में इस प्रकार का कोई व्यवधान है ही नहीं। फिर इनको समस्त-पद मानने में क्या आपत्ति है ? इस का उत्तर यही है कि निःसन्देह 'काला नाग्' और 'लाल् किला' पदों के बीच किसी प्रकार का व्यवधान नहीं है पर ज्यों ही 'काले नाग्' और 'काली नागण्' आदि पदों पर दृष्टि जाती है तो व्यवधान का तुरन्त पता चल जाता है और यह भी पता लग जाता है कि 'काला नाग्' में 'काला' पद अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए हुए है और भाषा-रचना के नियमों के अधीन प्रत्येक प्रकार के (अर्थात् लिंग और वचन-सम्बन्धी) विकार को ग्रहण करने के लिए तैयार है। 'लाल् किले' के 'लाल्' में यदि किसी भी अवस्था में कोई विकार नहीं होता तो इस का यह अभिप्राय नहीं कि 'लाल् किले' के 'लाल्' ने अपने स्वतंत्र अस्तित्व का ही परित्याग कर दिया। सभी हलन्त विशेषणों की यही स्थिति है। इस लिए विशेषणों में लिंग और वचन-सम्बन्धी विकार के नियमों का अध्ययन करने पर पता लगता है कि हरियाणवी भाषा के केवल आकारान्त विशेषण ही इस विकार को ग्रहण करते हैं। इससे पता चलता है कि विशेषण अपना अलग अस्तित्व बनाए हुए हैं। इसी बात को प्रकारान्तर से यों भी कह सकते हैं कि ये पद विशेषण रहते हुए भी शब्द में अपने अस्तित्व को विलीन नहीं कर पाते और 'कृष्णः सर्पः' की भांति दो अलग-अलग पद ही बने रहते हैं।

२. जहां उत्तर पद विशेषण हो—इस प्रकार के उदाहरण शायद ही देखने को मिलेंगे। गीतों या भजनों में इस प्रकार का कोई कोई पद अवश्य मिलता है : 'काल-बली मारंगा ठोकर, पड़े खाट में व्याकुल हो कर', परन्तु अन्वय करते समय यहां भी विशेषण को अपने विशेष्य से पहले रखा जा सकता है। अतः ऐसे पदों पर भी ऊपर वाली आपत्ति लागू होती है।

३. विशेषण-विशेष्य—काला-काला, काला-पीला, आँद्धा-ढूँढ़, आदि पदों को यदि समास मानना हो तो इनके बीच समास द्योतक चिह्न (-) रखना चाहिए, अन्यथा काले-काले, काले-पीले, काली पीला, आँद्धे-ढूँढ़, आँद्धी ढूँढ़, पदों से इन पदों की स्वतंत्र सत्ता ही सिद्ध होगी और इन में समस्त पदों के गुणों का अभाव मिलेगा।

४. जहां दोनों पद विशेष्य हों—इसके उदाहरण 'सेठ-साहूकार' जैसे अनेक शब्द मिल सकते हैं परन्तु इन्हें भी 'हाली-पाली' की तरह द्वंद्व समास के अन्तर्गत ही मान लेना अधिक संगत है तथा इस कर्मधारय के एक भेद की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

५. अवधारण पूर्वपद—जहां पहले पद के अर्थ पर विशेष बल रहता है। इस भेद के निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं—काली-जाल्, अकखन्-वाद्स्या, लट्ठ-मोग्गर।

६. जहां पूर्वपद सर्वनाम या संख्यावाचक हो—आपूर्वीत्ती, पन्सेरी।

७. मध्यमपदलोपी—इस प्रकार के कर्मधारय के उदाहरण हरियाणवी में प्रचुर मात्रा में मिलेंगे। इस में मध्यवर्ती अर्थात् व्याख्यान सूचक पद का लोप होता है यथा—तिल्-चावली, चून्कचरिआ।

(ग) द्विगु—जहां पूर्व पद संख्यावाचक हो और समस्त पद समष्टि बोधक हो वहां द्विगु होता है। हरियाणवी में इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

तिर्वेणी, चुराह्या, चुकन्ना, तिबारी, चुबारा।

(घ) बहुव्रीहि—

७. बहुव्रीहि समास में दोनों पद अप्रधान होते हैं। हरियाणवी में लगभग प्रत्येक प्रकार के बहुव्रीहि के उदाहरण मिल सकेंगे, परन्तु ये संख्या में अधिक नहीं हैं।

(क) व्यधिकरण बहुव्रीहि—में पूर्व पद विशेषण नहीं होता :—

चिड़ी-मार्, निर्देयी, गोव्वरखाणा।

(ख) विशेषण विशेष्य के योग से निर्मित बहुव्रीहि को समानाधिकरण बहुव्रीहि कहते हैं :—

ऐण्डी खोप्पर (टेढ़ी खोपरी वाला), लालू टोपी (पुलिस), लम्छड़ (लम्बा व्यक्ति), लम्टंगा (लम्बी टांगों वाला)।

(ग) व्यतिहार—इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

जूतम्-जूत्ती, गाली-गलोच् ।

(घ) मध्यमपद लोपी—इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

पां-पां=पच्चिस्, छे—छे=छत्तिस् ।

यहां द्वंद्व समास नहीं है । द्वंद्व होने पर ५—५=१० और छे—छे=बारह हो जाता, परन्तु यह मध्यमपदलोपी समास है । दोनों स्थानों पर मध्य से 'वार्' शब्द का लोप हुआ है । इसका पुनः अध्याहार करने पर वाक्य बनता है 'पांच् वार् पांच्'=पच्चिस् । अतः यह मध्यमपद लोपी है ।

तीसरा अध्याय

संज्ञा के रूप

१. प्रा० भा० आ० भाषाओं में संज्ञा के रूपों की प्रणाली पर्याप्त जटिल और विषम थी। एक ओर लिंग और वचन का भेद और दूसरी ओर प्रत्येक लिंग में भी अकारान्त, आकारान्त, इकारान्त, उकारान्त आदि अजन्त और हलन्त संज्ञाओं के रूपों में भेद विद्यमान था। विकासोन्मुख भाषा सरलीकरण की ओर बढ़ने लगी। म० भा० आ० भा० में द्विवचन का सर्वथा लोप हो गया^१ और कारकों की संख्या घटते-घटते दो या तीन तक सीमित रह गई^२। अपभ्रंश-काल में प्राकृत वैयाकरणों को ही अपभ्रंश का लिंग-भेद दूषित और अनियमित दिखाई देने लगा। इस काल में नपुंसक लिंग मिट चुका था और परम्परागत लिंग के स्थान पर पदान्त स्वरों के आधार पर निर्धारित किए हुए लिंग प्रयोग में आने लगे थे^३। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि इस काल में आ० भा० आ० भा० का मार्ग प्रशस्त हो रहा था^४।

२. हरियाणवी संज्ञाएं व्यंजनान्त हैं या दीर्घान्त हैं, अर्थात् उनके अन्त में दीर्घस्वर (आ-ई-ऊ) हैं। ओकारान्त संज्ञाओं की गणना नगण्य है^५। ओकारान्त कतिपय संज्ञाएं ऐसी हैं जो केवल स्त्रियों के नामों के रूप में प्रयुक्त होती हैं। वस्तुतः ये विशेषणपद हैं, जो संज्ञाओं के रूप में प्रयुक्त होने लगे हैं, यथा—कालो (काले रंगवाली) भुराड़ो (चेचक के चिह्नोंवाली) बाँजो (चलते समय आवाज़ करने वाली) फर्रो (चिड़िया की भांति फुदकने वाली) जींदो (जींद की रहने वाली), बादलो (बादली की रहने वाली) आदि।

३. प्र० भा० आ० भा० (संस्कृत) की अकारान्त संज्ञाएं तो व्यंजनान्त हो ही गईं। उनके साथ इकारान्त तथा उकारान्त संज्ञाएं भी अधिकतर व्यंजनान्त बन गईं, यथा—गति-गत्, मति-मत्, साधु-साध्। जहां संज्ञाएं इकारान्त उकारान्त रहीं उनके अन्तिम स्वर दीर्घ बन कर ही जीवित रह सके, यथा—हरि→हरी, मणि→मणी,

१. ग० वा० तगरे : हि० ग्रा० आफ अपभ्रंश पृ० १०४।

२. महनडेल : हि० ग्रा० आफ इन्स० प्रा० इन्द्रोडक्शन पृ० २५।

३. ग० वा० तगरे हि० ग्रा० आफ अपभ्रंश पृ० २७।

४. ग० वा० तगरे वही पृ० १०४।

*प्यो (पानी पीने का स्थान प्याऊ), लो (सं० लव-) ध्यान, जैसी एक आध संज्ञा ही इधर उधर दीख पड़ेगी।

बलि→बली, गुरु→गरु, प्रभु→पिरभू आदि। तात्पर्य यह कि पदान्त के ह्रस्व स्वर सवेथा लुप्त हो चुके हैं। यहां तक भी कहा जा सकता है कि पदान्त के वे दीर्घ स्वर भी लुप्त हो गए हैं जिन्होंने अपनी दीर्घता छोड़ कर किसी कारण से ह्रस्व रूप धारण कर लिया था। यथा—शाला-सालू, नारी नार्। (विशेष विवरण के लिए देखिए प्रा० भा० आ० भा० के अन्तिम स्वर।)

४. हरियाणवी आकारान्त संज्ञाओं की उत्पत्ति—हरि० की आकारान्त संज्ञाएं या तो तत्सम हैं, यथा—राजा, पिता, दाता, माता आदि, या वे ऐसे तद्भव शब्द हैं जिनके अकारान्त मूल रूप के साथ संस्कृत अथवा प्राकृत में स्वार्थे प्रत्यय 'क' जोड़ा जाता था। कालान्तर में 'क' का लोप हो गया और मूल शब्द आकारान्त बन गया, यथा—सं० घट→प्राकृ० घटक→घडअ→घड़ा, मेलक→प्राकृ० मेलअ→मेला। इसके अतिरिक्त जहां व्यंजनान्त शब्द का अन्तिम व्यंजन लुप्त हुआ है वहां उस व्यंजन के पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ कर दिया गया है।

हरि० ईकारान्त तथा ऊकारान्त संज्ञाओं के सम्बन्ध में ऊपर भी कहा जा चुका है। उसके अतिरिक्त यह 'क' जोड़ने वाली और कालान्तर में इस लोप के फलस्वरूप ईकार या ऊकार बनने की पद्धति भी चलती रही है, यथा—सं० बालुका→बालुआ→बालू, मौक्तिकम्→मौक्तिअ→मोती आदि।

५. हरि० संज्ञाओं की पद की रचना—हरि० में क्रिया, क्रियाविशेषण, विशेषण आदि पदों से प्रत्ययों के संयोग द्वारा संज्ञाएं बनती हैं। इनके लिए देखिए २, १, २। वहीं इनकी उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध में भी विचार किया जा चुका है।

६. हीनता अथवा लघुता वाची संज्ञाएं—ये संज्ञाएं कुछ एक प्रत्यय के संयोग से बनती हैं। यथा—नाई + टा → नाइटा, जाट् + डा → जाट्ड़ा, रांड् + डी →रांड्डी, वूड्ढा + डा → वुड्ड़ा आदि।

लिंग

७. प्रा० भा० आ० भाषा की लिंग-पद्धति में परिवर्तन के चिह्न अशोक के शिलालेखों, पाली और प्राकृतों में ही दृष्टिगोचर होने लगते हैं, परन्तु अपभ्रंश में लिंग-विपर्यय चरम-सीमा को पहुँच गया था। इसका मूल कारण संज्ञा के रूप के सरलीकरण की प्रवृत्ति ही प्रतीत होती है। अपभ्रंशों में भी पश्चिमी अपभ्रंश की अपेक्षा पूर्वी अपभ्रंश में अधिक गड़बड़घुटाला था। फलस्वरूप पश्चिमी हिन्दी की अपेक्षा पूर्वी हिन्दी में लिंग का कोई ध्यान नहीं रखा जाता। डा० उदयनारायण तिवारी जी लिखते हैं—“किन्तु इस बात को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि खड़ी बोलीवालों की भांति भोजपुरी भाषा-भाषियों के मन में यह स्पष्ट धारणा नहीं होती कि 'घर' पुल्लिंग तथा 'पोथी' स्त्रीलिंग

है। इसके अतिरिक्त भोजपुरी क्रियापदों में लिंग का पार्थक्य खड़ी बोली के प्रभाव से आया है।

८. हिन्दी और पंजाबी के समान हरियाणवी में दो ही लिंग हैं—पुंलिंग और स्त्रीलिंग। यहां सामान्यतः पदान्त स्वर लिंग और वचन के बोधक हैं, तथापि लिंग-विचार के लिए कोई भी दृढ़ नियम स्थिर करना भूल होगा।

मोटे तौर पर सारी शब्दावली को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) व्यंजनान्त, (२) आकारान्त और (३) ईकारान्त पद। इन में प्रथम दो सामान्यतः पुंलिंग होंगे और अन्तिम श्रेणी के स्त्रीलिंग। परन्तु इसे स्थिर नियम इस लिए नहीं कहा जा सकता कि जोगी, तेल्ली, धोब्वी, हाली, जैसी ईकारान्त संज्ञाएं पुंलिंग हैं और नार, धार आदि संज्ञाएं व्यंजनान्त होते हुए भी स्त्रीलिंग हैं। अतः ऐसा स्थूल नियम सर्वथा भ्रामक ही सिद्ध होगा। तथापि लिंग-भेद को कुछ अधिक स्पष्ट करने के लिए यों कहा जा सकता है कि ईकारान्त, (यथा—सुनारी, हीरी; गूजरी) णीकारान्त (यथा—साधणी, मोड़णी, डूमणी, जाटणी) णकारान्त (यथा—छीबण, तेल्लण, धोब्वण) और 'इआ' पदान्तवाली संज्ञाएं (यथा—कुत्तिआ, बछिआ) स्त्रीलिंग होती हैं।

९. भ्रामक स्थितियों में लिंग निर्धारित करने के लिए क्रिया अथवा विशेषण या भेदक की सहायता लेनी पड़ेगी। उदाहरणार्थ—माली प्योद् लावे था, इस्कूल खुल् गया से, नार कड़े डिगर्गी, पतंग कटगी, गाम् का पाली, खंडक आला हाली, रीता डोल, दूटटी खाट्। यहां 'माली', 'हाली', 'इस्कूल' और 'डोल' पुंलिंग संज्ञाएं हैं और 'नार' 'पतंग', 'खाट्' स्त्रीलिंग श्रेणी की संज्ञाएं हैं।

१०. हरि० में प्राणिवाचक संज्ञाओं के लिंग उनके वाच्य प्राणियों के लिंग-भेद के आधार पर निश्चित किए जाते हैं, यथा—माणस्, नारा (वैल), कुत्ता, गधा, तोत्ता, चिड़ा आदि संज्ञाएं पुंलिंग हैं और लुगाई, गां, कुत्तिआ, गधी, मॅन्ना और चिडिआं आदि स्त्रीलिंग हैं। अप्राणी-वाचक वस्तुओं के लिंग सामान्यतः परम्परागत प्रथा के अनुसार निर्धारित किए जाते हैं। स्थूल रूप से दीर्घाकारी वस्तुओं की बोधक संज्ञाएं पुंलिंग और लघ्वाकारी वस्तुओं की बोधक संज्ञाएं स्त्रीलिंग होंगी। यह वर्गीकरण लिंग विचार से—(जैसा कि इन संज्ञाओं को प्रयोग में लाने के लिए इनका खयाल रखा जाता है)—किया जाता है, अन्यथा कतिपय विद्वान् इन शब्दों के साथ लगने वाले स्त्रीलिंग प्रत्ययों को लघुतावाची पदों की रचना के लिए प्रयोग में आने वाले प्रत्ययों की संज्ञा देना ही अधिक पसंद करते हैं।

११. हरि० में कतिपय संज्ञाएं केवल पुंलिंग ही अथवा केवल स्त्रीलिंग ही हैं। इस का कारण यह हो सकता है कि उन संज्ञाओं का प्रयोग उस विशिष्ट लिंग में

ही परम्पराभुक्त है अथवा यह कि उनकी जाति का ज्ञान साधारणतः नहीं हो सकता। ऐसे कुछ शब्द नीचे दिए जाते हैं :—

केवल पुंलिंग—सूहसा (शशक), भावा (जंगली कंटीला चूहा), न्योल् (नकुल), काँगगा (कौआ), मकोड़ा, भूँड़ (कीट विशेष) तीत्तर, जम्बू (जम्बुक)।

केवल स्त्रीलिंग संज्ञाएँ—लोब्बा (लोमड़ी), चील्ह (चील) वत्तक्, कीड़ी, माँकली, घूग्घी (पत्ती विशेष) आदि।

१२. नीचे हरि० की समुदायवाची संज्ञाएँ दी जाती हैं। इनमें कुछ केवल पुंलिंग हैं तो कुछ दूसरी केवल स्त्रीलिंग हैं।

चोणां (पुंलिंग) यथा—डांगर्यां का चोणां।

भीड़ (स्त्रीलिंग) यथा—माणस्यां की भीड़।

जेल् (टोली) (स्त्रीलिंग) यथा—लुगाइआं की जेल्।

जोल् (,,) (पुंलिंग) यथा—बहुआं का जोल्।

कटक् (पुंलिंग) यथा—बहुआं का कटक्। माणस्यां का कटक्।

टोल् (पुंलिंग) यथा—लुगाइयां का टोल्। लुगाइआं का टोल्।

टोली (स्त्रीलिंग) यथा—सांगिआ की टोली। छोहरियां की टोली।

१३. जहाँ हमारा उद्देश्य स्त्रीलिंग और पुंलिंग दोनों प्रकार के व्यक्तियों अथवा वस्तुओं का बोध कराना हो वहाँ सामान्यतः पुंलिंग संज्ञा प्रयोग में लाई जाती है, यथा—उन के घणो बटेऊ जुड़ रहे सें (उन के यहाँ बहुत अतिथि आए हुए हैं) यहाँ 'बटेऊ' संज्ञा पुंलिंग है पर स्त्री पुरुष दोनों प्रकार के अतिथियों की बोधक है। इसी प्रकार 'माणस्' और 'बालक्' शब्द दोनों लिंगों के व्यक्तियों का बोध कराने में समर्थ हैं।

स्त्रीप्रत्यय

१४. हरि० पुंलिंग संज्ञाओं से स्त्रीलिंग रूप प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित प्रत्यय प्रयोग में लाए जाते हैं :—

(क) (१) आकारान्त संज्ञाओं के अन्तिम 'आ' को 'ई' में बदल दिया जाता है। यह 'ई' संस्कृत के 'इका' का प्रतिनिधि है—

बछेरा बछेरी, बेंहड़ा बेंहड़ी, काँक्का (चाचा) काँक्की, माँम्मां माँम्मीं,।

(२) इसी प्रत्यय -इका → -इआ को लगा कर भी आकारान्त पुं० संज्ञाओं से स्त्रीलिंग रूप निमित किए जाते हैं, यथा—

कुत्ता—कुतिआ, बाँच्छा—बछिआ, काँट्टा—कटिआ, बूँड्डा—बुडिआ।

(ख) व्यंजनान्त संज्ञाओं के साथ 'ई' (सं०-ई) जोड़ दी जाती है, यथा—

हीर् → हीरी, भीम्मर् → भीमरी, सुनार् → सुनारी, धाणक् → धाणकी ।

(ग) कतिपय अन्य व्यंजनान्त संज्ञाओं के साथ 'णी' (सं०-इनि) जोड़ कर,

यथा :—

जाट् → जाटणी, नाट् → नाटणी, ऊट् → ऊटणी, सेर् → सेरणी ।

(१) कहीं कहीं उपरि 'ग्नी' का विस्तृत रूप 'आणी' भी पाया जाता है :—

ठाक्कर् → ठक्राणी, सुक्ल् → सुक्लाणी ।

(२) अन्य भाषाओं की संज्ञाओं के साथ भी 'णी' का प्रयोग किया जाता है :—

डाक्दार् → डाक्दार्णी, सॉह्व् → सॉह्वणी, मास्टर् → मास्टर्णी ।

(३) कहीं-कहीं आकारान्त संज्ञाओं के साथ भी 'णी, नी', (सं०-इनि) प्रत्यय देखा जाता है, यथा :—

मोड्डा → मोड्डणी, वाणित्रां → वाण्नी, भूमलिआ → भूमल्नी ।

(घ) (१) ईकारान्त संज्ञाओं के साथ 'न्' (सं०-नि) प्रत्यय मिलता है, यथा—

सॅह्सी → सॅह्सण्, खॉत्ती → खॉत्तण्, धोब्बी → धोब्बण्,

तेल्ली → तेल्लण्, भाई → भाण्, नाई → नाण् ।

(२) कई एक आकारान्त तथा हलन्त संज्ञाओं के साथ भी 'रण्' (सं०-नि) प्रत्यय मिलता है, यथा :—

भड़भूज्जा → भड़भूज्जण्, पणिहार् → पणिहारण्, मॅणिआर् → मणि-
आरण्, नाग् → नाग्गण् ।

(३) विदेशी ईकारान्त शब्दों के साथ भी 'ण' (सं०-नि) प्रत्यय मिलता है, यथा :—

चपडॉस्सी → चपडॉस्सण् ।

(४) हॉत्थी-हथ्णी इस नियम का अपवाद है। यहां 'णी' (-इनि) प्रत्यय प्रयुक्त हुआ है।

(ङ) ऊकारान्त संज्ञाएं, जो कि नगण्य हैं, परम्परागत अथवा मुख-सुविधा के अनुसार स्त्री-प्रत्यय अपनाती हैं, यथा :—

ताऊ ताई (प्रत्यय -ई ← सं० इका) ।

साँधू → साध्णी (प्रत्यय -णी ← सं० इनि) ।

गरू गुरवाणी (प्रत्यय -णी ← सं० इनि का विस्तृत रूप) ।

१५. निम्नलिखित संज्ञाओं में स्त्रीलिंग पदों से पुल्लिंग बनते हुए पाए जाते हैं—

नणंदः नणदोइआ←प्रत्यय -उक + -इक + -आ→ओ इ आ ।

पीतस्ः पीतस्रा (प्रत्यय-केरक → -केरअ → केरा → -एरा→ -रा ।

तायस्-तायस्रा, दादस्-दादस्रा, नानस्-नानस्रा, मौलस्-मौलस्रा ।

१६. हरि० में ऐसे संज्ञापद भी विद्यमान हैं जिनमें लिंग-परिवर्तन के लिए प्रत्ययों की सहायता नहीं ली जाती, प्रत्युत उनके लिंग परम्परागत हैं :—

बाँप्पू→मां, आँकल्→गां, भोट्टा→म्हेंस, फूप्फा→भूआ ।

संज्ञा के रूप

१७. रूप भेद से समस्त संज्ञाओं को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—कर्तृ, विकारी और सम्बोधन, यथा :—

	व्यंजनान्त	-आ	-ई	-ऊ
कर्तृ	माणस्	घोड़ा	घोड़ी	साँझू
विकारी	माणस्	घोड़	घोड़ी	साँझू
सम्बोधन	माणस्	घोड़े	घोड़ी	साँझू
कर्तृ	बालक्	छोहरा	छोहरी	बहू
विकारी	बालक्	छोहरे	छोहरी	बहू
सम्बोधन	बालक्	छोहरे	छोहरी	बहू

उपरि-लिखित रूपों से स्पष्ट है कि हरि० में केवल आकारान्त पदों के विकारी रूप -ऐ प्रत्यय और सम्बोधन के रूप -ए प्रत्यय के संयोग से बनते हैं ।

१८. विकारी -ऐ तथा सम्बोधन के -ए की व्युत्पत्ति—हरि० 'ऐ' हिन्दी के विकारी 'ए' का रूपान्तर है, जो हरि० सम्बोधन रूप के साथ ज्यों का त्यों देखा जाता है । प्राचीन वेसवाड़ी में विकारी एक व० रूपों के साथ 'हि', '-हि' विकारी प्रत्यय पाए जाते हैं जो क्रमशः अप० '-हे' (संबंध कारक प्रत्यय सं० -स्य) और -हि (अधिकरण प्रत्यय सं० -स्मिन्) के प्रतिनिधि हैं । कालान्तर में प्राकृ० पदान्त '-अक या अको+हि के 'क्' तथा ह का लोप हो गया और सम्पर्की स्वरों में सन्धि होने से—ऐ→ए या ऐ रूप सम्पन्न हुए ।

इसी के साथ 'रामेण रामे' न → राम ने या रामे ने आदि रूपों की स्थिति पर भी विचार किया जा सकता है । यदि हम विकारी रूपों के अनुगामी-कारक चिह्न 'ने' या न के विकास की संभावना 'एण' से कर सकते हैं (दे० आगे ३३) तो विकारी 'ए' या 'ऐ' के विकास-क्रम को संबंधकारक में खोजना असंगत बन जाता है । एक रूप का

अन्यत्र अनुकरण सहज और स्वाभाविक है।

वचन

१६. म० भा० आ० भा० में प्रा० भा० आ० भा० के द्विवचन का सर्वथा लोप हो चुका था। फलस्वरूप हरि० में भी द्विव० नहीं है। यहां एक व० और बहु व० से ही काम चलाया जाता है। द्विव० का काम दो की संख्या अथवा इससे निर्मित पदों से चलाया जाता है।

२०. कर्तृ रूपों के बहु वचन—आकारान्त संज्ञाओं के अतिरिक्त अन्य संज्ञाओं के कर्तृ रूप का बहु व० नहीं बनता। आकारान्त संज्ञाओं का बहु व० 'आ' के स्थान पर '-ए' जोड़ कर सम्पन्न किया जाता है, यथा—घोड़ा-घोड़े, गधा-गधे, घड़ा-घड़े आदि।

विशेष :—(१) यहां ध्यान रखना चाहिए कि हरि० में विकारी प्रत्यय 'ऐ' है तो कर्तृ बहु व० का प्रत्यय 'ए' है। हिन्दी में दोनों प्रत्यय एक सामान हैं।

(२) हरि० में आकारान्त संज्ञाओं के संबोधन के एक व० के रूप हिन्दी के समान 'ए' प्रत्यय द्वारा ही संपन्न होते हैं। इसी प्रकार संबोधन के बहु व० के रूप भी हिन्दी की तरह 'ओ' प्रत्यय लगा कर बनते हैं।

२१. (१) व्युत्पत्ति—हिन्दी में विकारी प्रत्यय और कर्तृ रूप के बहु व० का प्रत्यय 'ए' ही है। अतः डा० केलाग मि० हार्नल के इस विचार से सहमत हैं कि बहु व० बनाने वाले प्रत्यय की व्युत्पत्ति भी विकारी प्रत्यय के समान ही समझनी चाहिए। इसके लिए वे कारण प्रस्तुत करते हैं कि आ० भा० आ० भा० में लोग, वृंद आदि शब्द लगा कर भी बहु व० सम्पन्न किए जाते हैं। यदि आकारान्त संज्ञाओं के साथ 'लोग' आदि शब्द जोड़े जाएं तो इन संज्ञाओं के विकारी रूपों का प्रयोग किया जाएगा। अतः 'गधा'→बहु व० 'गधे' देख कर यह समझना चाहिए कि यहां 'गधे' पद विकारी है और 'लोग' पद-जो वस्तुतः यहां होना चाहिए था लुप्त हो गया है तथा जनमानस इस का अभ्याहार कर लिया करता है। दूसरे शब्दों में 'गधे' कहने से हमारा भाव गधे लोग कहने का होता है^१। कितनी हास्यास्पद कल्पना है। इसकी अपेक्षा डा० तिवारी का यह मत कि यह '-ए' ← सं० 'ऐस्' से बना है^२, कुछ न्याय-संगत भी जान पड़ता है। परन्तु इस व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में आपत्ति यही की जा सकती है कि कर्तृ रूप का बहु व० बनाने के लिए 'ऐस्' प्रत्यय का प्रयोग क्यों किया गया, विशेषकर ऐसी स्थिति में जबकि विकारी रूप का बहु व० सम्पन्न करने के लिए हमें कर्ता या कर्म के बहु व० के

१. ग० वा० त० : हि० ग्रा० आफ अप० पृ० १०४।

२. दे० पीछे १८।

३. कै० : हि० ग्रा० पृ० १२७।

४. उ० ना० ति० : भो० भा० और सा० पृ० १८७।

प्रत्ययों की ओर दौड़ना पड़ता है'। अतः इस सूत्र में नपुं० संज्ञाओं के साथ लगने वाले कर्ता कारक के द्विवचन के प्रत्यय 'ए', यथा 'फले' पर भी विचार किया जा सकता है।

२२. समस्त संज्ञाओं के विकारी रूपों के बहु व० 'आ', 'यां' लगा कर सम्पन्न किए जाते हैं, यथा—

पद	विकारी ए० व०	विकारी बहु व०
घड़ा	घड़ें	घड़्यां
घोड़ा	घोड़ें	घोड़्यां
कुत्ता	कुत्तें	कुत्त्यां
चौँची	चौँची	चौँचियां
बहू	बहू	बहुआं
सौँदू	सौँदू	सौँदूआं

२३. व्युत्पत्ति :—डा० तिवारी जी लिखते हैं—संस्कृत बहु व० के कतिपय रूप भोजपुरी में भी मिलते हैं। उदाहरण स्वरूप भोजपुरी में बहु व० 'अन्', 'अनि', 'अन्ह', 'अन्हि', 'न्ह', 'न्हि', 'न्' 'नि' प्रत्ययों की सहायता से बनते हैं। ये वास्तव में सम्बन्ध के बहु व० प्रत्यय एवं संबंध एवं करण के बहु व० के प्रत्ययों के सम्मिश्रण हैं और आज भोजपुरी के कर्ता कारक के बहु व० में इनका प्रयोग होता है। इसी प्रकार हिन्दी, पंजाबी तथा राजस्थानी के अन्य कारकों के विकारी बहु व० रूप वस्तुतः सम्बन्ध कारक के ही अवशिष्ट हैं। यथा—घोटकानाम्—हि० घोड़ों, पंजाबी घोड़ां, राजस्थानी घोड़ां।

पंजाबी तथा राजस्थानी का 'घोड़ां' हरि० का घोड़्यां है। तथापि बहु व० का प्रत्यय '-आं' ही है जैसा कि बहुआं, सौँधुआं आदि अन्य रूपों से स्पष्ट है। 'घोड़्यां' 'भें' -आं- के साथ दिखाई देने वाला '-य्-' हरि० की अपनी प्रवृत्ति-सामान्यतः अन्तिम वर्ण के तालव्यीकरण की प्रवृत्ति ही है। अतः हम यहां '-आं' पर विचार करेंगे।

इस में कोई संदेह नहीं कि आ० भा० आ० भा० के विकारी रूप सामान्यतः सम्बन्ध कारक के विकारी रूप से ही सम्पन्न होते हैं (दे० २.५.३.१ मेरं, म्हारं आदि)। अतः डा० तिवारी जी का उपरि निर्दिष्ट मत तर्कसंगत जान पड़ता है। परन्तु हमारे विचार में हरि० '-आं' को व्युत्पत्ति सं० के सम्बन्ध कारक के प्रत्यय '-नाम्' में खोजने के बजाए सं० कर्म कारक के बहु व० के प्रत्यय '-आन्' में खोजनी अधिक संगत जान पड़ती है, क्यों कि—

(क) हरि में कर्ता तथा कर्म के कारक चिह्न एक जैसे हैं (दे० २.३.३०)।

१. दे० आगे २३।

२. उ० ना० ति० : भो० भा० और सा० पृ० १८७।

(ख) संस्कृत के कर्मकारक के बहु व० के रूप 'रामान्', 'घोटकान्', 'बालकान्', आदि से 'रामा', घोटकां → 'घोड़ा', आदि सुगमता पूर्वक बनते दिखाई देते हैं।

यहां इस बात का उल्लेख कर देना भी संगत रहेगा कि कैलाग आदि विद्वानों ने सं० नपुं० लिंग कर्त्ता के बहु व० के प्रत्यय '-अनि' से '-आई', '-आ', '-एं' और '-न' आदि से बहु व० प्रत्ययों की उत्पत्ति मानी है, क्योंकि संस्कृत नपुं० लिंग कर्त्ता के बहु व० के प्रत्यय प्राकृ० काल में ही पुल्लिंग और स्त्रीलिंग पदों के साथ लगने लगे थे।

अन्तिम मत पूर्वोक्त दोनों मतों की अपेक्षा अधिक तर्कसंगत इस लिए है कि प्राकृ० काल में नपुं० लिंग के प्रत्यय पुल्लिंग और स्त्रीलिंग पदों के साथ लगने लग गए थे। अतः कर्मकारक से इसकी व्युत्पत्ति चाहे वह तर्कसंगत ही प्रतीत हो रही है—कर्त्ता कारक से सम्पन्न होने वाले रूपों के सामने नहीं ठहर सकेगी।

सम्बोधन के रूपों के बहु वचन

२४. हरि० में सम्बोधन रूपों के बहु व० '-ओ', 'यो' लगा कर सम्पन्न होते हैं, यथा :-

सम्बोधन	एक व०	बहु व०
	रं माणस्	रं माणसो
"	रं बालक्	रं बालको
"	रं घोड़े	रं घोड़्यो
"	रं छोहरे ^x	रं छोहर्यो ^x
"	री घोड़ी	री घोड़िओ
"	ए छोहरी ^x	ए छोहर्ओ ^x
"	रं सौद्ध	रं सौद्धुओ
"	री/ए बहू	री/ए बहुओ।

२५. '-ओ', '-यो' की व्युत्पत्ति—हरि० -ओ, -यो ← पालि- यो। (आलपन प्रत्यय-यो) (प्राकृत विमर्श पृष्ठ १३८)^२।

२६. उपरि निर्दिष्ट प्रत्ययों के अतिरिक्त हरि० में बहु व० के लिए निम्नलिखित

१. कै० : हि० ग्रा० पृ० १२७। आपने लैसन को भी पाद टिप्पणी में उद्धृत किया है।

२. सं० प्र० अ०।

पदों का प्रयोग किया जाता है—

सम् ← सं० सर्व → प्राक्० सव्व → सव्, हरि० सम् ।

(डा० चैटर्जी ने 'सभा' शब्द से 'सम्' बनने की संभावना व्यक्त की है) ।

सारे ← सं० सर्वे ।

घणे ← सं० घन (+ बहु व० प्रत्यय -'ए') भोत् ← बहुत्व ।

भावातिरेक के समय भोत् घणे, भोत् सारे, घणे जणे, घणे, सारे आदि का प्रयोग किया जाता है ।

इनके अतिरिक्त 'लोग्' शब्द जोड़ कर भी बहु व० का भाव व्यक्त किया जाता है, यथा—'जाट् लोग्' मज़ूर लोग् आदि । इस संबन्ध में डा० बाबू राम सक्सेना जी लिखते हैं—'लोग्' आदि के रूप में बहु व० का बोध कराने की विधि आधुनिक है जो कि आवश्यकता की देन है' । 'लोग्' (सं० लोक) शब्द वस्तुतः लोगों के समुदाय का ही बोधक है । इसका प्रयोग निर्जीव पदार्थों के समुदाय के लिए नहीं हो सकता ।

२७. हरि० में बहु व० की संज्ञा का प्रयोग कहीं कहीं आदर-सूचक अर्थों में भी होता है, यथा—पंडज्जी जीमें सं (पंडित जी भोजन कर रहे हैं) । यहां क्रिया के माध्यम से पंडित (पंडत्) कर्त्ता के बहु व० का बोध होता है जो आदर-सूचक है ।

कारक

२८. प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) में सम्बोधन को मिला कर कारकों की संख्या आठ थी । सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण यह संख्या धीरे-धीरे गिरती चली गई । म० भा० आ० भा० में ही इस के लक्षण प्रकट होने लग गए थे । सम्प्रदान के लिए संबंधकारक प्रयोग में लाया जाने लगा था^१ । आगे चल कर अपभ्रंश काल में कारकों की संख्या सिमट कर तीन रह गई, कर्त्ता और कर्म मिल कर एक हो गए, करण और अधिकरण मिल कर एक हो गए तथा सम्प्रदान, अपादान और सम्बन्ध का आपस में अन्तर्भाव हो गया^२ । संज्ञा के कर्तृ रूप का प्रचलन इसी काल में आरंभ हो गया था और आ० भा० आ० भा० के विकारी रूप की आधार-शिला भी तैयार हो चुकी थी^३ ।

२९. हरि० में उपलब्ध वैकल्पिक रूपों में उपरि निर्दिष्ट स्थिति को पूर्ण भलक विद्यमान है । 'में' घर् जां सूं, 'में' घर् में जां सूं, 'में' घरां जां सूं, 'में' घरें जां सूं आदि वाक्यों में अधिकरण कारक के लिए प्रयुक्त होने वाले 'घर' के विभिन्न रूपों से

१. वा० रा० सं० : अ० वि० पृ० ११६—२० ।

२. सं० प्र० अ० : प्रा० वि० पृ० १३८ ।

३. ग० वा० त० : हि० आ० आफ० अप० पृ० १०४, ७४ ।

४. वही, ७५ ।

सहज विदित होता है कि एक और परसर्ग का पूर्ण अभाव है तो दूसरी स्थिति में परम्परागत सप्तमी का 'ए' → 'ऐ' हो गया है। और तीसरी स्थिति में उसने कर्म कारक के परसर्ग से ही काम चला लिया है। ऐसी ही स्थिति अन्य कारकों में भी मिलेगी, अर्थात् (१) परसर्ग का सर्वथा अभाव, (२) दूसरे कारक में अन्तर्भाव।

हरि० में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न कारकों के प्रत्ययों से विदित होता है कि यहाँ :—

(१) कर्ता, कर्म और सम्प्रदान का अन्तर्भाव हो गया है।

(२) कर्म, सम्प्रदान तथा करण भी आपस में मिल गए हैं।

(३) करण तथा अपादान के लिए एक ही परसर्ग का प्रयोग होता है।

(४) संबंधकारक का सहारा लेकर विभिन्न परसर्गों की सहायता से विभिन्न कारकों के रूप निर्मित होते हैं। (इसके विशेष विवरण के लिए देखिए आगे (४१)।

(५) अधिकरण की स्थिति का नमूना ऊपर दिखाया जा चुका है।

३०. हरि० में प्रयुक्त होने वाले विभिन्न कारक चिह्न निम्नलिखित हैं :—

कर्ता : कर्तृ रूप के साथ ०, विकारी के साथ नें।

कर्म : कर्तृ रूप के साथ ०, विकारी के साथ नें और तें, ती।

करण : तें।

सम्प्रदान : विकारी रूप के साथ नें, तें, ती।

अपादान : तें।

सम्बन्ध : का, के, कै, की।

अधिकरण : में, पे, -एं, ए, नें, -आं, -ई।

विशेष—(१) ऊपर अधिकरण में केवल 'घर्' का रूप ही 'घरां' मिलता है, अतः 'आं' को भी अधिकरण कारक के चिह्नों में रख लिया गया है।

(२) 'सम्बोधन' के चिह्नों पर पीछे २४ के अन्तर्गत विचार हो चुका है।

३१. श्री पं० स्थाणुदत्त जी शर्मा ने अपने लेख 'हरियाणु की भाषा' में 'अधिकरण' कारक के पश्चात् हरि० में एक 'विशेष कारक' की कल्पना की है। उन्होंने इस कारक का चिह्न 'कै' दिया है और इसके आगे पृष्ठ २६—२७ पर उन्होंने इसकी व्याख्या निम्न-लिखित रूप से की है :—

अधिकरण कारक से आगे एक 'विशेष कारक' दिया गया है। यह तनिक

१. भाषा विभाग पंजाब की १९५८—५९ की वार्षिक लेखक-गोष्ठी में पढ़ा गया लेख पृष्ठ २६।

ध्यान देने योग्य है। 'छोहरी के ताप हो रह्या से, छोहरी के गूमड़ा लिकड़याया से, और 'छोहरी के तील भेजणी चाहिए थी' इन तीनों वाक्यों में 'के' का अर्थ अलग अलग है। प्रथम वाक्य का अर्थ है—'लड़की को ज्वर हो रहा है', दूसरे का—'लड़की के अंग विशेष पर फोड़ा निकल आया है' तीसरे का—'लड़की के घर अथवा लड़की के पास तीयल भेजनी उचित थी'। इनमें से प्रथम वाक्य के 'के' को अर्थ की दृष्टि से भले ही कर्म कारक का चिह्न मान लें पर दूसरे और तीसरे वाक्यों में प्रयुक्त हुए 'के' का किसी प्राचीन कारक में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। इस कारक का अस्तित्व प्राकृत युग से चला आ रहा है और बाद में संस्कृत के वैयाकरणों ने उसे सम्बन्ध कारक में अन्तर्भुक्त मानने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि प्राकृत युग में संस्कृत की षष्ठी विभक्ति के चिह्न 'कस्य' से ही यह 'के' बना है। परन्तु इसके वर्तमान अर्थ पर ध्यान देते हुए हमारा मत है कि इसे हरियाणई भाषा का एक विशेष कारक समझना चाहिए।

उपरि संदर्भ के अनुसार जैसे संस्कृत के वैयाकरणों ने प्राकृत से चले आने वाले इस 'विशेष कारक' और इसके 'के' चिह्न को षष्ठी में अन्तर्भुक्त मान लिया है, वैसे ही हम भी इसे षष्ठी में ही अन्तर्भुक्त मानते हैं। इस मान्यता के लिए उपरि-लिखित वाक्यों के फिर से विश्लेषण की आवश्यकता प्रतीत होती है। ये वाक्य हैं—

- (१) छोहरी के ताप हो रह्या से।
- (२) छोहरी के गूमड़ा लिकड़याया से।
- (३) छोहरी के तील भेजणी चाहिए थी।

अर्थात्

- (१) छोहरी के (गात् में) ताप हो रह्या से।
- (२) छोहरी के (पां पे या हाथ पे आदि) गूमड़ा लिकड़याया से।
- (३) छोहरी के (सासरें) तील भेजणी चाहिए थी।

इससे स्पष्ट है कि 'के' के अन्तर्गत कोष्ठकों में दिए गए शब्दों का अन्तर्भाव हो गया है अथवा वाक्य का अर्थ करते समय संदर्भ से इन शब्दों का अध्याहार हो जाता है। अध्याहार होने पर स्पष्ट विदित होता है कि वाक्य में इस 'के' का सम्बन्ध (१) छोहरी और 'गात्', (२) 'छोहरी' और 'पां', (३) 'छोहरी' और 'सासरें' से है। परन्तु मूल वाक्य में ये सम्बन्धवाची संज्ञाएं नहीं हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि इनके बिना भी वाक्य पूरा-पूरा अर्थ दे सकता है। दूसरे शब्दों में जैसे 'चाकू' के स्थान पर 'चक्कू' कह देने से काम चल जाता है वैसे ही 'छोहरी के', 'गात्', 'पां', 'सासरें'

आदि न कह कर केवल 'छोहरी के' शब्दों से काम चला लिया गया है। पहला यदि शब्द में प्रयत्न लाघव का, उदाहरण है तो दूसरा वाक्य में प्रयत्न लाघव का, इससे अधिक कुछ नहीं और 'के' विभक्ति चिह्न सर्वथा षष्ठी का द्योतक रहता है न कि किसी अन्य कारक का, क्योंकि इसका सम्बन्ध मूलतः कोष्ठकान्तर्गत दी गई संज्ञाओं के साथ है। यदि ऐसा न माना गया तो वाक्य में इसका सम्बन्ध स्थापित करना और उससे संज्ञाओं का अध्याहार करना अथवा निकालना ही कठिन होगा।

हरियाणवी कारक चिह्नों की व्युत्पत्तियाँ

३२. कर्ता तथा कर्म में कर्तृ रूप के साथ प्रयुक्त होने वाला '०' (शून्य)। इसके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं :—

(१) मुख सुविधा अथवा प्रयत्न लाघव और संगति।

(२) रूपों का सरलीकरण।

(३) सर्व प्रमुख कारण यह कि कर्तृ के एक वचन के रूप में सामान्यतः सु→'०' हो गया। राजस्थानी में जहाँ विसर्गों को 'ओ' हो गया है वहाँ प्राचीन हरि० तथा खड़ी बोली में केवल 'अ' हो गया तथा कुछ समय के पश्चात् अन्तिम 'अ' का लोप हो गया, पद हलन्त रह गया। मूल कर्तृ रूप को विभक्ति प्रदान की जा चुकी थी, उसीके विकसित रूप को किसी अन्य विभक्ति की अपेक्षा नहीं रह गई।

३३. कर्ता, कर्म, सम्प्रदान तथा कहीं कहीं अधिकरण कारक में विकारी रूपों के साथ प्रयुक्त होने वाला 'ने' या 'नै' :—

हरि० के ऊपर निर्दिष्ट कारकों में प्रयुक्त होने वाला 'ने' या 'नै' ही हिंदी के कर्ता कारक में प्रयुक्त होने वाला 'ने' है। इसकी व्युत्पत्ति चिरकाल तक विद्वानों के विवाद का विषय रही। श्री कैलाश ने बीम्स की मान्यताओं का सार प्रस्तुत करते हुए लिखा है :—

पहले 'ने' की व्युत्पत्ति संस्कृत की तृतीया विभक्ति के प्रत्यय '-इन' से मानी जाती थी। परन्तु वस्तु-स्थिति भिन्न है, क्योंकि :—

(१) 'ने' संस्कृत के '-इन' प्रत्यय की भांति संज्ञा के साथ घुलमिल नहीं जाता प्रत्युत यह 'मैं', 'पर', आदि की भांति संज्ञा के साथ चिपका सा रहता है। चूंकि ये 'मैं', 'पर', आदि विभिन्न कारकों में प्रयुक्त होने वाले शब्द अलग-अलग परसर्गों के विकसित रूप हैं, इस लिए संभव है कि 'ने' भी इन्हीं की भांति किसी स्वतन्त्र परसर्ग का ही विकसित रूप हो।

(३) यदि इसकी व्युत्पत्ति '-इन' से ही मानी जाए तो अन्तिम 'ए' का

समाधान नहीं होता, विशेषकर ऐसी स्थिति में जब कि संस्कृत की अन्तिम ध्वनियां ह्रस्वीकरण की और अग्रसर हुई हैं !

(३) 'इन' से 'ने' की व्युत्पत्ति बहुत प्राचीन ठहरती है जबकि इसे २०० अथवा ३०० वर्ष से अधिक पुराना नहीं कहा जा सकता ।

(४) प्राचीन लेखकों की कृतियों में जहां कर्ता, सर्वनाम है और जहां हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल 'ने' अपेक्षित था, वहां केवल विकारी रूप प्रयोग हुआ है। इससे विदित होता है कि इन लेखकों की भाषा में कारकों के अन्तर को स्पष्ट करने वाला चिह्न लुप्त हो चुका था। इसी प्रकार राजपूताने की भाषा मारवाड़ी में घोड़े 'ने' के स्थान पर 'घोड़ै' मिलता है जिससे स्पष्ट है कि 'ने' लुप्त हो चुका है।

उपरि निर्दिष्ट आपत्तियों के आधार पर 'इन' से 'ने' की व्युत्पत्ति का खंडन करते हुए उन्होंने इसकी व्युत्पत्ति का सुराग गुजराती के सम्प्रदान कारक के परसर्ग 'ने' से लगाया है। गुजराती में यह परसर्ग कर्ता और कर्म कारकों में भी प्रयुक्त होता है। वे इस 'ने' का सम्बन्ध नेपाली 'ले' (सं० लग्) के साथ जोड़ते हैं और विकास क्रम निम्नलिखित रूप से मानते हैं :—

सं० कृदन्तीय रूप लग्य → प्राकृ० लगिओ → लगि → लइ → ले → ने^३।

उन्होंने 'ले' से 'ने' पर कूदने का समाधान इस आधार पर किया है कि भारतीय भाषाओं में ल् → न् हो जाता है। यथा मारवाड़ी में अ० लानत → मारवाड़ी नानत और अ० लन्दन → नन्दन मिलते हैं।

हम श्री कैलाग और बीम्स के उपरिलिखित मत से सहमत नहीं हैं। हमारे विचार में 'ने' का उत्पत्ति सं० 'इन' से हुई है। श्री बीम्स की उपर्युक्त शंकाओं के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार प्रस्तुत किया जाता है :—

(१) श्री बीम्स को सबसे पहली आपत्ति यह है कि 'ने' संज्ञाओं के साथ चिपका सा रहता है। इस लिए सम्भव है कि यह भी अन्य कारक चिह्नों की भांति स्वतंत्र परसर्ग से निकला हो।

यह ठीक है कि 'ने' मूल प्रकृति के साथ धुल-मिल कर एक नहीं हो जाता जैसे कि संस्कृत प्रत्यय 'इन' अपनी प्रकृति में समाहित हो जाया करता था। इस का कारण है भाषा की व्यवहित प्रकृति। केवल संहित भाषाओं में ही प्रकृति और

१. स्मरण रहे कि हरियाणवी में भी कर्म तथा सम्प्रदान का परसर्ग 'ने' या 'नें' ही है।

२. कै : हि० ग्रा० पृ० १३२।

प्रत्यय के घुल-मिल जाने की अधिक संभावना रहती है। दूसरे इसका अलग-अलग-सा बना रहना अन्य कारक चिह्नों के सादृश्य के आधार पर भी माना जा सकता है। तीसरी बात यह है कि प्रकृति और प्रत्यय के अलग-अलग बना रहने के कारण हम इस नतीजे पर नहीं पहुँच सकते कि सभी कारक चिह्न स्वतंत्र परसर्गों से ही निकले हैं। यह आवश्यक भी नहीं है कि भाषा में प्रयुक्त सभी प्रत्ययों का उद्गम एक ही प्रकार से हुआ हो।

(२) श्री बीम्स की दूसरी आपत्ति यह है कि यदि 'ने' को '-इन' से विकसित मान भी लिया जाए तो अन्तिम '-ए' का समाधान नहीं होता। इसके लिए हरि० कारक चिह्न 'ने' या 'नै' का 'ऐ' विचारणीय है। यह ध्वनि 'अ' और 'ए' की ध्वनि के मध्यवर्ती ध्वनि है जिसे हिन्दी में सामान्यतः 'ऐ' से व्यक्त किया जाता है, यथा— भैंस-भैंस, गवर्नमेंट-गवर्नमेंट, मैन-मैन। वस्तुतः यह ध्वनि अंग्रेजी 'man' के 'a' की सी ध्वनि है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि हरि० 'ने' या 'नै' में 'ऐ' का आगम कैसे हुआ? उत्तर बिल्कुल सरल है कि '-इन' में विद्यमान अन्तिम '-अ' ने कदाचित् 'ऐ' का रूप धारण कर लिया। हिन्दी में 'ने' का 'ऐ' हरि० के 'ने' या 'नै' के 'ऐ' का संस्कृत अथवा शोधित रूप ही है।

(३) श्री बीम्स की तीसरी और चौथी आपत्ति एक दूसरे की पूरक है। वे इसे ३०० वर्ष से अधिक पुराना इस लिए नहीं मानते कि प्राचीन लेखकों की भाषा में विकारी रूपों के साथ 'ने' का प्रयोग नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में हमारा निवेदन है कि श्री बीम्स को भ्रान्त धारणा हुई है कि यह रूप ३०० वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं है क्योंकि :—

प्राचीन दक्खिनी में 'ने' का प्रयोग केवल कर्ता कारक में ही नहीं होता अपितु हरि० की भांति कर्म तथा सम्प्रदान कारक में भी होता है। यथा— 'इस खातिर जुलेखां ने क्या करी' (सबरस पृ० ५६) 'आदमी बुरा अछै तो शराब ने क्या करना' (पृष्ठ ३१) यद्यपि सब रस १७वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध की रचना है, परन्तु दक्खिनी हिन्दी की यह विशेषता बाद में पैदा हुई नहीं कही जा सकती। वस्तुतः यह उस भाषा की ही अपनी विशेषता है जो कि मूल रूप से वहाँ पहुँची थी। बाद में उत्तर दक्षिण का राजनैतिक सम्बन्ध विच्छेद हो जाने से उस पर बाद में उत्तर की भाषा का कोई प्रभाव न पड़ा। अतः कमसे कम इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि यह प्रभाव १६वीं शताब्दी में उत्तर भारत से नहीं पहुँचा है। इसी प्रकार यदि खड़ी बोली या हिंदी में यह विशेषता दक्खिनी से आयी होती तो केवल साहित्यिक भाषा तक ही सीमित रहती, परन्तु यहाँ स्थिति यह है कि साहित्यिक भाषा में इसका प्रयोग केवल कर्ता कारक में ही मिलता है और हरि० उप-भाषा में इसका प्रयोग दक्खिनी की भांति कर्ता, कर्म और सम्प्रदान कारकों में भी मिलता है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि हरि० 'ने' और हिंदी 'ने' ३०० वर्षों से कहीं अधिक प्राचीन है। यह संभव है कि पीछे कभी इसको लुप्त करने की

प्रवृत्ति मी चल पड़ी हो, पर इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि ३०० वर्ष से पूर्व 'ने' या 'नै' का अस्तित्व ही नहीं था।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि हिन्दी 'ने' तथा हरि० 'नै' का संबंध सं० 'लग्न' से जोड़ना संगत नहीं है अपितु यह '-इन' का ही विकसित रूप है जिसमें अन्तिम '-ए' या '-ऐ', '-इन' के अन्तिम '-अ' का विकसित रूप है। (दे० हरि० 'ऐ' की उत्पत्ति १. ८. ८)।

३४. कर्म, करण, सम्प्रदान तथा अपादान कारकों में प्रयुक्त होने वाले परसर्ग 'तै' या 'तैः', ती।

'तै', 'तैः' और ती वस्तुतः एक ही रूप हैं जिसका विकास स्पष्टतः 'तई' से प्रतीत होता है।

'तई' की व्युत्पत्ति विवादास्पद है। डा० कैलाश ने एक स्थान पर इसका सम्बन्ध 'स्थाने' के साथ रखा है परन्तु दूसरे ही स्थान पर हार्नले के साथ सहमत प्रतीत होता है। उन का कहना है कि अपादान कारक के 'ते' का सम्बन्ध सामान्यतः संस्कृत प्रत्यय 'तस्' के साथ जोड़ा जाता है जिससे प्राकृ० '-तो' विकसित हुआ, परन्तु हिन्दी की उपभाषाओं में मिलने वाला 'ते' या 'तै' किसी स्वतंत्र परसर्ग से विकसित हुआ है। इस प्रकार वे इसका सम्बन्ध हार्नले के आधार पर ✓ तृ के भूतकालिक कृदन्त रूप 'तरिते' के साथ जोड़ते हैं और विकासक्रम इस प्रकार मानते हैं—तरिते → तरिए → तइए → ते। हमारे विचार में वस्तुस्थिति यह है कि 'तई' हरि० परसर्ग 'तहों' या 'ताहों' का ही संक्षिप्त रूप है। 'तहों' और 'ताहों' का विकास सं० 'तस्मै' से जान पड़ता है जो सम्प्रदान कारक के लिए संस्कृत संज्ञाओं के साथ प्रयुक्त हुआ करता था। अतः तस्मै → तहिं → हरि० तहों, ताहों → हि०, उ० तई → तै, तैः, ती रूप सम्पन्न होते हैं।

३५. संबंध कारक में प्रयुक्त होने वाले परसर्ग 'का', 'के', या 'क' तथा 'की' : सम्बन्ध कारक एक प्रकार से विशेषण का काम करता है। अतः इस में भी विशेषणों की भांति लिंग और वचन के विकार के कारण 'का', 'के' या 'क' तथा 'की' रूप मिलते हैं।

इनकी व्युत्पत्ति भी विवादस्पद है। कई एक विद्वान् इसका उद्गम सं० 'कृत' से मानते हैं। प्राकृ० युग में इसके साथ 'कै' जोड़ दिया गया तथा मध्यवर्ती 'त' के लोप और 'ऋ' → एर् हो जाने से 'केरक' या 'केरिक' रूप सम्पन्न हुआ। प्राकृ० युग में संबंध कारक के लिए इसी शब्द का प्रयोग मिलता है जिस में किसी अन्य विकार की अपेक्षा नहीं की जाती थी। इसी 'केरक' या 'केरिक' से हि० 'कैरो',

१. कै० : हि० ग्रा० पृ० १३१, १९५ (सी)।

२. कै० : वही पृ० १३२, १९७ ए तथा पृ० १३३, १९८ (वी)।

‘करी’ ‘केर’ रूप सम्पन्न होते हैं। यह स्थिति ठीक उसी प्रकार है जैसे ‘घोटक’ से ‘घोड़ा’ या ‘घोड़’ और घोड़ों रूप सम्पन्न होते हैं।

कई एक अन्य विद्वानों के विचार से ‘का’, ‘कै’, ‘की’ आदि का उद्गम सं० ‘कस्य’ से हुआ है।

३६. अधिकरण ‘मे’—‘मं’ की व्युत्पत्ति म० भा० आ० भा० मञ्जे ← सं० मध्ये से हुई है। पुरानी हि० ‘मांहि’, हरि० ‘मांह’, ‘मंह’ परसर्ग भी इसीका रूप हैं और इन्हीं का संक्षिप्त अथवा विकसित रूप ‘मे’ है। डा० बाबूराम सक्सेना का विचार है कि कोसली (अवधो) का मह, ‘महुँ’ परसर्ग इस बात को सिद्ध करता है कि तत्सम रूप मध ← मद्ध ← सं० मध्य भी प्रचलित रहा होगा।

३७. अधिकरण ‘पे’, ‘पर्’ का संबंध सीधा सं० उपरि → अप० परि से है। सं० उपरि → अप० परि, पइ → पर, पे। एक विचार यह भी है कि ‘पे’ ← पहिं, पाहिं ← पार्श्व से बना है।

३८. अधिकरण ‘-ए’, ‘-एं’—डा० चैटर्जी ने ‘-एं’ की उत्पत्ति इस प्रकार मानी है— -ए -एं ← अ-हिं ← अहिं ← *धि ← *भि ← *भि ← स्मिन्^१। डा० चैटर्जी की उपर्युद्धृत व्युत्पत्ति पर टिप्पणी प्रस्तुत करते हुए डा० तिवारी जी लिखते हैं :—

‘ऐसा प्रतीत होता है कि प्रा० भा० आ० भा० में अधिकरण के लिए ‘अधि-’ प्रत्यय था क्योंकि इसी अर्थ में पालि में ‘-थि’ तथा ग्रीक में ‘-थि’ प्रत्यय वर्तमान हैं। इसके साथ यह भी अनुमान किया गया है कि प्रा० भा० आ० भा० में यह प्रत्यय *भि एवं *भि, इन दोनों रूपों में वर्तमान था। होमर की ग्रीक में इसके -फि, -फिन् तथा लेटिन में इसके ति, ‘बि’ रूप मिलते हैं। आर्मिनिया की भाषा में भी यह प्रत्यय मिलता है। ग्रीक तथा अन्य योरोपीय भाषाओं में इस का प्रयोग ‘से’, ‘साथ’ आदि अर्थों का द्योतक है और यह अधिकरण, अपादान तथा करण कारकों में व्यवहृत होता है। सम्प्रदान तथा सम्बन्ध कारकों में इसका व्यवहार बहुत कम होता है। इस प्रकार *भि, *भि का म० भा० आ० भा० में ‘-हि’, ‘-हिं’ हो जाएगा और ऐसा प्रतीत होता है कि म० भा० आ० भा० के अपादान एवं अधिकरण कारकों के प्रत्ययों का यही आधार है। कम से कम अनुनासिक ‘-हिं’ का मूल “*भि” अवश्य है। इस संबंध में भाषा-विज्ञानियों का यह भी अनुमान है कि अप० के अहि, अहिं का मूल सं० अस्मिन् भी हो सकता है तथापि इसकी व्युत्पत्ति निम्न-लिखित रूप से हुई होगी। यथा—

अस्मिन् → अस्सिं → अन्हि → -अहि, -अहिं^२।

अप० में ‘एहि’, ‘-एहिं’, तथा ‘-अहिं’ रूप मिलते हैं। डा० तगरे के विचार

१. सु० कु० चै० : वै० लै ४६६।

२. डा० उ० ना० ति० : भा० भा० सा० पृ० १६१।

में 'एहि' तथा 'एहिं' सं० -ए + स्मिन् से भी सम्पन्न हो सकते हैं परन्तु इनका उद्गम वैदिक 'ए-भिः' मानना अधिक संगत दिखाई देता है। इसी प्रकार उनके विचार में 'अहि' तथा 'अहिं' का संबंध 'अ-स्मिन्' से है।

३६. अधिकरण 'आ'—इसका प्रयोग बहुत ही कम स्थानों पर मिलेगा यथा—'घरां' में इसका प्रयोग द्रष्टव्य। हरि० 'आ' सं० कर्म कारक के बहु व० 'आन्' का विकसित रूप ही सम्भना चाहिए। सं० गृहान् → हरि० घरां सरलता पूर्वक सम्पन्न हो जाता है।

४०. अधिकरण 'ई'—उपर्युक्त प्रत्यय की भांति 'ई' का प्रयोग भी हरि० में यत्र-तत्र ही मिलेगा। यथा—घरीं जां सू। 'घर + ई' घरीं रूप में 'ई' उपरि निर्दिष्ट -एं (३८) का ही संक्षिप्त रूप है।

परसर्गीय शब्दावली

४१. प्रा० भा० आ० भा० में आ, अधि, अनु, परि, प्र० आदि अव्ययों का प्रयोग उपसर्ग तथा परसर्ग दोनों रूपों में हुआ करता था परन्तु धीरे धीरे इनका प्रयोग अर्थ परिवर्तन के निमित्त उपसर्गों तक ही सीमित रह गया। संस्कृत के संज्ञा, सर्वनाम तथा विशेषण पदों की जटिल रूपावली के कारण प्राकृत काल में जब विभिन्न कारकों का भाव व्यक्त करना कठिन प्रतीत होने लगा तो इस हेतु कतिपय संज्ञापदों का व्यवहार होने लगा। प्राकृ० का अनुसरण करते हुए बाद के संस्कृत वैयाकरणों ने भी ऐसी शब्दावली को अपना लिया जिससे विभिन्न कारकों का भाव सुगमतापूर्वक प्रकट हो सके। इस प्रकार प्राकृत युग के बाद यह शब्दावली परसर्ग के रूप में व्यवहृत होने लगी, जिनमें से कई एक ने विकास के सोपान पर अग्रसर होकर 'में', 'पे' आदि कारक चिह्नों का रूप धारण कर लिया। बहुत से अन्य शब्द अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाए हुए विभिन्न कारकों में व्यवहृत होने वाली परसर्गीय शब्दावली के अन्तर्गत उल्लेखनीय हैं।

यह शब्दावली ऐसी है जिसमें संज्ञा प्रायः 'संबंध कारक' के 'का', 'के', 'की' का सहारा लेकर इन परसर्गीय शब्दों की सहायता से अपेक्षित कारक का भाव व्यक्त करती है, यथा—रोटिआं की मारी भाज्या-भाज्या आया था (रोटियों के लिए भागा-भागा आया था)। यहां 'की' के पश्चात् 'मारी' लगा कर सम्प्रदान कारक का भाव व्यक्त किया गया है। कई एक परसर्ग ऐसे भी हैं जिन में संबंध 'का', 'के', 'की' का प्रयोग विकल्प से होता है, यथा—'दीवें तलें' या 'दीवें के तलें' (दीवे के नीचे)।

हरि० में प्रयुक्त परसर्गीय शब्दावली, कोष्ठकों में उनके अर्थ और आगे व्युत्पत्ति सहित दी जाती है। हमारा विचार है कि अर्थ से ही संभाव्य कारक का ज्ञान

सुगमता पूर्वक हो जाना चाहिए। हमने कहीं कहीं उदाहरण भी दे दिये हैं ताकि परसर्गों के प्रयोग का ज्ञान भली-भाँति हो सके।

(१) आग्ने (आगे)—सं० अग्ने → अग्ने → आग्ने।

(२) ऊँप्पर्, पर्, प (ऊपर)—सं० उपरि → प्राकृ० उपरि → अप० परि → पर।

(३) ओड़ (ओर, तरफ़) सं० ओर (?)।

(४) कर् कैं (करके)—सं० कृ के साथ प्राकृ० कालीन ल्यप् प्रत्यय के संयोग से करिय → करि कइ → कर् कैं।

(५) कॉन्हीं, कॉन्ह्यां (की ओर)—सं० कर्ण → कर्ण + -हिं (अधिकरण बोधक प्रत्यय) कर्णहिं → कॉन्ही। 'कॉन्ह्यां' रूप 'घरां' (दे० ३६) की तरह। यहां 'आं' द्रष्टव्य है।

(६) कारणः उदाहरण—तेरे कारण गया था (तेरे लिए गया था)।

(७) कारणोंः उदाहरण—तेरे कारणोंं म्हेंसू चराई काली उहर् में पाली बगए कैं।

(८) कोड़ (की ओर) : उदाहरण—मेरी कोड़ लखा ते (जरा मेरी ओर देखिए तो)।

(९) खाँत्तर (खातिर, अर० خاطر)—सम्प्रदान कारक में इसका प्रयोग होता है।

(१०) गैल्, गेल्ली, गेल्ल्यां (साथ) : उदाहरण—मेरी गैल् चाल्।

व्युत्पत्ति :—१. लग् = लग्य → लगिग → गइल → गैल्। अन्य दो रूपों में 'ई' तथा 'आं' के लिए दे० ४० तथा ३६।

२. इस की संभावना सं० ग्रहिल से भी हो सकती है।

(११) छुद् (सिवाए) : उदाहरण—तेरी छुद् सारे खुस् होंगे।

(१२) छोड़ (छोड़) : उदाहरण—मन्नें छोड़ बिसे का ध्याई ध्यांणे ते लिपटे भोगां में।

(१३) ठोड़ (स्थान पर, जगह) : उदाहरण—तेरी ठोड़ कोण जागा।

(१४) तरां (तरह, समान)—अर० तरह तरह ٢٢।

(१५) तल (नीचे) : उदाहरण—घणे रपइआं तल आ गया।

व्युत्पत्ति :—सं० तले।

(१६) तहीं, ताहीं (तक, के लिए) : उदाहरण—मेर तहीं दे दे।

व्युत्पत्ति :—तस्मै → तहिं → तहीं, ताहीं, (विशेष विवेचन के लिए दे० ३४)।

(१७) तोड़ी (तक) : उदाहरण—गाम तोड़ी चाल्या जा ।

(१८) धोरें, धोर्यां (पास) : उदाहरण—मेरे धोरें किम्में कीन्नी । (मेरे पास कुछ नहीं है) ।

व्युत्पत्ति :— सं० धुरि (?) ।

(१९) नजीक (पास)—फा० नजदीक نزدیک ; तेरें नजीक् कोए नहीं फटक ।
(तुम्हारे नजदीक कोई नहीं आता) ।

(२०) नीचें (नीचे)—सं० नीचैः → नीचें ।

(२१) नेड़ें (निकट) : उदाहरण—टुकेक उस क नेड़ें हो ले ।

व्युत्पत्ति :—निकट → निअड़ → नेड + ऐ ।

(२२) पा, पास, पाह्, पें → सं० पार्श्व → पास → पाह् → पां → पें ।

(२३) पाच्छें (पीछे)—पृष्ठ तथा पश्चा के संयोग से (ट० ने० डि०) ।

(२४) बदले (स्थान पर)—अ० बदले بدل , तेरें बदले कूण् काम् करेगा ।

(२५) बरगा (जैसा)—वर्गीयः → बरगा, तेरें बरगा डांगर माणस् नहीं देख्या ।

(२६) बार्, बाहर्, बाहर्णे—बहिः → बहिर् → प्राकृ० बाहिर →
बाहूर → बार्, बाहर् + नें (अधिकरण में प्रयुक्त होने वाला नें, दे०
३० तथा ३३) ।

(२७) बिना (बिना) ।

(२८) बीच : उदाहरण—थारी बात्यां बीच कूण पड़ें ।

(२९) भीत्तर (भीतर, अन्दर)—अभ्यन्तर ।

(३०) मारे, मारी, मार्यां : उदाहरण—तेरी मारी मरुं सूं (तुम्हारे लिए ही सब कुछ करता हूँ) ।

व्युत्पत्ति :—√मृ के प्रेरणार्थक रूप मारितः → मारिअ → मारी ।

(३१) मंह, मांह (में) : उदाहरण—घर् मंह वड्या बैठ्या सें । (घर में घुसा बैठा है) ।

व्युत्पत्ति :—सं० मध्ये → मांहि → मांह, मंह ।

(३२) लग (तक) : उदाहरण—मंदर लग जाइए । किन्तु लग (कहां तक) ।

व्युत्पत्ति :—लग् + प्राकृ० ल्यप्, लगिय → लगि, लागी → लग् ।

(३३) वास्ते (लिए) अरबी वास्ते واسته ,

(३४) संग् (साथ) — सम् + गम् → संगम → संग् ।

(३५) समेत (साथ) — समेत ।

(३६) साथ्, सार्थ् (साथ) — सहित → साथ् ।

(३७) साह्मी, साह्मी, साह्मणः, स्योही, सोही, (सामने) : उदाहरण—
टुकेक् साह्मी होले तें वात् बण् जा !

व्युत्पत्ति:— सं० सम्मुखे । यहां -ई के लिए देखिए ४० । साह्मणः—साह्मी + नः
(अधिकरण में होने वाला नः दे० ३० तथा ३३) ।

(३८) सेत्, सेती (साथ) — सहित → सेत् । अन्तिम -ई के लिए दे० ४० ।

चौथा अध्याय

विशेषण

१. संज्ञा तथा सर्वनाम की विशेषता प्रकट करने वाले पद को विशेषण कहते हैं। यह विशेषता कई प्रकार की है, यथा—गुण-संबंधी, संख्या-बोधक, संकेत वाचक अथवा संबंध-द्योतक (देखिए आगे १३)।

२. किसी वाक्य अथवा वाक्य-खंड के अन्दर विशेषणों की स्थिति विशेष्य पद से पूर्व हुआ करती है—ऐसी सर्व-साधारण की धारणा है। (यथा—काला घोड़ा, सोहणी लुगाई), तथापि हरि० में कभी कभी विशेष्य-पद के बाद भी विशेषण पाए जाते हैं :—

(१) तन्नं बूढे-ठूठे नें बालक के मारदें नें सरम नहीं आई। (बच्चे को मारते हुए बूढ़े तुम को शरम नहीं आई ?)।

(२) काले कुत्ते नें डॉककी से नें पाड़ खाया। (डाकी से काल कुत्ते ने फाड़ लिया)।

(३) यू डॉककी कोन्नी मान्दा।

उपरिनिर्दिष्ट उदाहरणों में से पहले उदाहरण में सर्वनाम 'तन्नं' के सभी विशेषण बाद में ही आए हैं और इसी प्रकार तीसरे उदाहरण में 'यू' का विशेषण 'डॉककी' भी बाद में आया है। जबकि दूसरे उदाहरण में 'कुत्ते' का एक विशेषण पहले है तो दूसरा उसके बाद।

यहां दो बातें ध्यान देने योग्य है :—

(१) केवल आवेश की स्थिति में ही विशेषण पद अपने विशेष्य के बाद आते हैं।

(२) बाद में आने वाले विशेषण पद विशेष्य का कारक चिह्न अवश्य लेंगे।

विशेषण के रूप

३. हरि० विशेषण पद संज्ञाओं की तरह व्यंजनान्त अथवा 'आ', '-ई', ऊकारान्त हैं, यथा—कंटक्, (कंजूस) काला, पीला, नेम्मी, धर्मी, कुकमी, आइ।

४. इन रूपों की व्युत्पत्ति पर सामान्यतः संज्ञाओं की व्युत्पत्ति के नियम ही लागू होते हैं जिन पर २. ३. ३. तथा ४ के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है।

५. हरि० विशेषणों को विकारी तथा अविकारी श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा

संक्रता है। अविकारी श्रेणी के विशेषणों पर विशेष्य के लिंग अथवा वचन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आकारान्त विशेषणों के अतिरिक्त सभी विशेषण अविकारी विशेषणों की श्रेणी में आते हैं। इसके अतिरिक्त स्त्रीलिंग विशेषणों में वचन के कारण कोई विकार नहीं आता, यथा—

अविकारी

(लिंग, वचन, विकार शून्य)

कंटक् माणस् (कंजूस आदमी), कंटक् लुगाई (कंजूस स्त्री)—लिंग के कारण विकार नहीं आया।

कंटक् माणस्यां (कंजूस आदमियों), कंटक् लुगाइआं (कंजूस स्त्रियों)—वचन के कारण विकार नहीं आया।

नेम्मी-धर्मी माणस्, नेम्मी-धर्मी लुगाई—लिंग के कारण विकार नहीं आया।

नेम्मी-धर्मी माणस्यां, नेम्मी-धर्मी लुगाइआं—वचन के कारण विकार नहीं आया।

आइ माणस्, आइ लुगाई—लिंग के कारण विकार नहीं आया।

आइ माणस्यां, आइ लुगाइआं—वचन के कारण विकार नहीं आया।

काली लुगाइआ ने रोदटी नहीं खाई—यहां वचन के कारण स्त्री-लिंग विशेषण पदों में कोई विकार नहीं आया।

विकारी

काला माणस्, काली लुगाई—लिंग भेद स्पष्ट है।

काला माणस् ने रोदटी खाई, काले माणस् चले गए—संज्ञा के एक व० विकारी रूप के साथ विशेषण में भी -ए का विकार स्पष्ट है। इसी प्रकार वचन के लिए प्रत्यय -ए भी विशेषण के साथ आ गया है।

६. (१) 'आकारान्त' विशेषणों में लिंग और वचन का विकार होता है। यहां भी स्त्रीलिंग रूप सम्पन्न करने के लिए संज्ञाओं की भांति '-ई' प्रत्यय लगता है। इसकी व्युत्पत्ति के लिए दे० (२.३.१४ ख)।

(२) संज्ञा के विकारी एक व० के रूप के प्रयुक्त विकारी विशेषण के विकारी -ए तथा कर्तृ बहु व० के प्रत्यय '-ए' पर भी संज्ञाओं के अध्याय में क्रमशः २.३.१८ तथा २.३.२१ के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है।

विशेषणों की संरचना

७. विशेषण पद परम्परागत भी हैं जिनके रूपों की व्युत्पत्ति के संबंध में ऊपर (४) के अन्तर्गत टिप्पणी दी जा चुकी है। इन परम्परागत विशेषण पदों के

अतिरिक्त बहुत से विशेषण अन्य पदों के साथ संरचनात्मक प्रत्यय जोड़ कर बनाए जाते हैं (इनके लिए दे० २.१.५.) ।

८. हरि० में वाक्यखंड के रूप में अथवा समस्तपद के रूप में भी विशेषण मिलते हैं । हरि० में विशेषतावाची वाक्यखंड निम्नलिखित रीति से बनाए जाते हैं ।

(१) वर्तमान कालिक कृदन्त रूप जो स्वयं परम्परागत विशेषण पद हैं, अपने साथ ✓हो का भूतकालिक कृदन्त 'होया' ले लेते हैं, यथा—खाँदूदा होया, पीँदूदा होया, सोँदूदा होया ।

(२) उपरि निर्दिष्ट रीति से विशेषणवाची पद बनाते हुए 'हो' के भूतकालिक कृदन्त रूप में—या के स्थान पर स्वार्थे '-ड्' या '-ड़ा' भी लग जाता है, यथा—

जाँदूदा होड़ा, खाँदूदा होड़ा आदि ।

जाँदूदी होड़, खाँदूदा होड़ आदि ।

विशेष :—इस प्रकार निर्मित वाक्य खंड के प्रत्येक पद में आकारान्त विशेषण पदों वाले उपरि-निर्दिष्ट (५) के अनुसार लिंग-वचन के विकार पाये जाते हैं ।

(३) संज्ञा तथा सर्वनामों के साथ 'सा' (सम) जिसा (यादृशः), मान (समान), सरीखा (सदृशः → सरिस, सरष → सरीखा →, बरगा (वर्गकः) आदि समतासूचक अव्यय जोड़ कर सर्वनामों के संबंध कारक के रूप के साथ ही समता सूचक अव्यय जोड़ा जाता है परन्तु संज्ञाओं में ऐसा विकार विकल्प से होता है, यथा—

तेरे सा, मेरे सरीखा, राम् सा, राम् के सा, राम् के जिसा ।

विशेष :—संज्ञाओं में तो संबंध कारक का विकल्प है । उधर सर्वनामों में कभी कभी दोहरे सम्बन्ध कारक का प्रयोग भी हो जाता है, यथा—तेर सा बालक या तेर के सा बालक ।

(४) ऊपर (३) में निर्दिष्ट समतासूचक अव्यय विशेषणों के साथ लग कर विशेषताद्योतक वाक्य खंड का निर्माण करते हैं । ऐसी स्थिति में मूल विशेषण का प्रभाव कुछ कम रह जाता है, यथा—काला सा कपड़ा । इस वाक्य में 'काला' का प्रभाव कम बताया गया है ।

तुलनात्मक श्रेणियां

६. तुलनात्मक भाव व्यक्त करने के लिए प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) में यह नियम था कि जिस पद के साथ विशेष्य पद की तुलना की जाए उसे पंचमी विभक्ति दी जाती थी और गुणवाचक पद के साथ 'तर', 'तम' प्रत्यय लगाए जाते थे । परन्तु आ० भा० आ० भा० की भांति हरि० में भी 'तर', 'तम' आदि तुलनात्मक प्रत्ययों का सर्वथा लोप हो गया है । यहां जिस पद से तुलना दी जाती है उसे अपादान

करकं चिह्नं देकर ही काम निहाल लिया जाता है, यथा :—

यू घोड़ा उस् तं जवर् से (यह घोड़ा उससे बलवान है) ।

१०. तुलनात्मक भाव को उत्कृष्टता प्रदान करने के लिए या उस पर अधिक बल देने के लिए विशेषण के साथ 'घणा' (सं० गहनकः) भोत् घणा, ज्यादा (अ० जियादः ۵۰۶۵), भोत् ज्यादा, ज्यादा (अर० ज्यादाती ۵۰۶۵), बध के (✓वर्ध) आदि पदों का प्रयोग किया जाता है। इससे भी अधिक बल अपेक्षित होने पर बलसूचक पदों की आवृत्ति करदी जाती है अथवा बलसूचक अव्यय '-ए' (सं० हि) का प्रयोग कर दिया जाता है अथवा दोनों बातें कर दी जाती हैं, यथा—

(१) केवल अपादान कारक का प्रयोग—यू घोड़ा उस् तें जवर् से ।

(२) घणा का प्रयोग—यू घोड़ा उस तें घणा जवर् से ।

(३) भोत् घणा का प्रयोग—यू घोड़ा उस तें भोत् घणा जवर् से ।

(४) 'भोत्-भोत् घणा' या 'भोते घणा', 'या भोत्ते भोत् घणा' का प्रयोग—
यू घोड़ा उसे तें भोत्-भोत् घणा जवर् से ।

यू घोड़ा उस् तें भोत्ते घणा जवर् से ।

यू घोड़ा उस् तें भोत्ते भोत् घणा जवर् से ।

इसी प्रकार अन्य तुलनावाची पदों के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए । इनका उद्गम भी साथ-साथ कोष्ठकों में दिखा दिया गया है ।

११. तुलना का भाव 'उन्नीस्' या 'इक्किस्' से भी व्यक्त किया जाता है । ऐसी अवस्था में गुणवाचक पद का सर्वथा लोप हो जाता है और 'उन्नीस्' या 'इक्किस्' पद ही तुलना के भाव को प्रकट करने के साथ-साथ अपेक्षित गुण का भी बोध करा देते हैं :—

तुंह न्यारा ए उस् तें से इक्किस् से ? (तुम भला उससे अधिक (अच्छे) हो ?)

१२. तमबन्त विशेषण का भाव 'सम् तें', 'सम् में', या 'सार्यां तें' या 'सार्यां में' बध् के के पश्चात् गुणवाचक पद लगा कर व्यक्त किया जाता है, यथा—

'म्हारला बुलध् सार्यां तें बध् के चालणा स् ।

व्युत्पत्ति : —सर्वनाम सम् ← सं० सभा, बध् के ← ✓वर्ध और ✓कृ का ल्यप् प्रत्यय वाला रूप ।

विशेषणों के भेद

१३. ऊपर (१) में कहा जा चुका है कि विशेषण पद द्वारा प्रकट की जाने वाली हरियाणवी—२७

विशेषता कई प्रकार की होती है, इसी के स्पष्टीकरण के लिए हम एक उदाहरण लेते हैं— 'याह मेरी एक काली टोपी'। यहां 'टोपी' पद की विशेषता प्रकट करने वाले पद हैं— 'याह', 'मेरी', 'एक', 'काली'। 'काली' पद टोपी के गुणों को प्रकट करता है, 'एक' संख्या को, 'मेरी' सम्बन्ध को और 'याह' संकेत वाचक पद है। अस्तु, इनके आधार पर हम विशेषणों को चार श्रेणियों में रख सकते हैं :—

- (क) गुणवाचक विशेषण ।
- (ख) सम्बन्धद्योतक विशेषण ।
- (ग) संख्याबोधक विशेषण ।
- (घ) सर्वनाम-जात विशेषण ।

१४. गुणवाचक विशेषण :— विशेषणों में वस्तुतः यही विशेषण सर्वप्रमुख है। और विशेषणों के सम्बन्ध में ऊपर कही हुई सामान्य बातें वस्तुतः विशेषण की इसी श्रेणी पर सर्वाधिक लागू होती हैं। ये विशेषण परम्परागत हैं अथवा संरचनात्मक प्रत्ययों की सहायता से अन्य पदों से बनाए जाते हैं। इस सम्बन्ध में पीछे २.१.५ के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है।

१५. संबंध-द्योतक विशेषण :— इस श्रेणी के विशेषणों की संख्या भी किसी सूरत में कम नहीं है। वस्तुतः प्रत्येक संज्ञा तथा सर्वनाम को सम्बन्ध कारक की सहायता से विशेषण बना लिया जाता है। सम्बन्ध कारक के चिह्नों 'का', 'के', 'क', 'की', की व्युत्पत्ति पर पीछे २.३.३५ के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है। सर्वनाम-जात संबंध-द्योतक विशेषण के रूपों के लिए सर्वनामों के अध्याय को देखा जा सकता है। पुरुषवाची सर्वनामों में 'मेरा', 'मेरे', 'मेरी', 'मेरे', 'म्हारा', 'म्हारे', 'म्हारे', 'म्हारी', 'तेरा', 'तेरे', 'तेरे', 'तेरी', तथा 'थारा', 'थारे', 'थारी', और 'थारे', पर सम्बन्धित सर्वनामों के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है (दे० २.५.७ से १६)।

१६. संख्या बोधक विशेषण : ये विशेषण निम्नलिखित प्रकार के होते हैं—

- (१) गणना-वाचक, (२) क्रमात्मक, (३) गुणात्मक, (४) समूह-वाचक, (५) भिन्नात्मक, (६) समानुपातीय, (७) ऋणात्मक।

यहां हम इन सब पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करेंगे।

(१) गणनात्मक संख्या-वाचक विशेषण

१७. हरि० के गणनात्मक संख्यावाचक विशेषण नीचे दिए जाते हैं :—

संख्याएं	हरि० रूप	संस्कृत रूप
१	एक	एकः
२	दो	द्वौ

संख्याएं	हरि० रूप	संस्कृत रूप
३	तीन्	त्रयः
४	चार , चयार्	चत्वारः
५	पांच	पञ्च
६	छै, छैह	षट्
७	सात्	सप्त
८	आठ्	अष्ट
९	नो	नव
१०	दस्	दश
११	ग्यारा	एकादशः
१२	बारा	द्वादशः
१३	तेरा	त्रयोदशः
१४	चोदा	चतुर्दशः
१५	पंद्रा	पंचदशः
१६	सोला	षोडशः
१७	सत्तरा	सप्तदशः
१८	ठारा	अष्टादशः
१९	उन्नीस्	ऊनविंशति, नवदश,
		एकोनविंशति
२०	बीस्	विंशति
२१	इक्किस्	एकविंशति
२२	बाइस्	द्वाविंशति
२३	तेइस्	त्रयोविंशति
२४	चोबीस्	चतुर्विंशति
२५	पच्चवीस्	पंचविंशति
२६	छब्बीस्	षड्विंशति
२७	सत्ताइस्	सप्तविंशति
२८	अठाइस् , ठाइस्	अष्टाविंशति
२९	उणत्तीस्	ऊनत्रिंशत् , एकोनत्रिंशत्
३०	तीस्	त्रिंशत्
३१	इकत्तीस्	एकत्रिंशत्
३२	बत्तीस्	द्वात्रिंशत्
३३	तेतीस्	त्रयस्त्रिंशत्

संख्याएं	हरि०	संस्कृत रूप
३४	चौंतीस्	चतुस्त्रिंशत्
३५	पे'तीस्	पञ्चत्रिंशत्
३६	छत्तीस्	षट्त्रिंशत्
३७	से'त्तीस्	सप्तत्रिंशत्
३८	अड्तीस्, अट्ठत्तीस्	अष्टात्रिंशत्
३९	उन्तालीस्	ऊनचत्वारिंशत्
४०	चालीस्	चत्वारिंशत्
४१	इक्तालीस्	एकचत्वारिंशत्
४२	बयालीस्, बिआलीस्	द्विचत्वारिंशत्
४३	तितालीस्	त्रिचत्वारिंशत्
४४	चुआलीस्	चतुश्चत्वारिंशत्
४५	पन्तालीस्, पे'हतालीस्	पञ्चचत्वारिंशत्
४६	छिआलीस्, छिहालीस्	षट्चत्वारिंशत्
४७	सन्तालीस्, से'हतालीस्	सप्तचत्वारिंशत्
४८	अड़तालीस्	अष्ट-चत्वारिंशत्
४९	उणन्चस्	ऊनपञ्चाशत् , एकोनपञ्चाशत्
५०	पन्चस्	पञ्चाशत्
५१	इक्यावन् , क्यावन्	एक-पञ्चाशत्
५२	बावन्	द्विपञ्चाशत् , द्वापञ्चाशत्
५३	तरेप्पन	त्रिपञ्चाशत्
५४	चव्वन्	चतुः पञ्चाशत्
५५	पच्प्पन्	पञ्चपञ्चाशत्
५६	छप्पन	षट्पञ्चाशत्
५७	सतावन	सप्तपञ्चाशत्
५८	अठावन, ठावन	अष्टपञ्चाशत्
५९	उणसट्	ऊनषष्टि
६०	साट्	षष्टिः
६१	इक्सट्	एकषष्टिः

संख्याएं	हरि० रूप	संस्कृत रूप
६२	बासट्	द्विषष्टिः, द्वाषष्टिः
६३	तरेसट्	त्रयःषष्टिः
६४	चौंसट्	चतुःषष्टिः
६५	पेसट्	पञ्चषष्टिः
६६	छिआसट्, छिहासट्	षट्षष्टिः
६७	सड्सट्	सप्तषष्टि
६८	अड्सट्	अष्टषष्टि
६९	उण्हत्तर, उणहत्तर	ऊनसप्तति
७०	सत्तर	सप्ततिः
७१	इकहत्तर	एकसप्ततिः
७२	बेहत्तर, बहत्तर	द्विसप्ततिः, द्वासप्ततिः
७३	तिहत्तर, तिहत्तर	त्रयःसप्ततिः
७४	चुहत्तर, चुहत्तर	चतुःसप्ततिः
७५	पिचहत्तर, पिचहत्तर, पिचहन्तर	पञ्चसप्ततिः
७६	छिअत्तर, छिहत्तर, छिहन्तर, छिअन्तर ।	षट्सप्ततिः
७७	सतन्तर, सतहत्तर, सतत्तर	सप्तसप्ततिः
७८	अठत्तर, अठहत्तर, अठन्तर	अष्टसप्ततिः
७९	उणोस्सी	ऊनाशीतिः
८०	अस्सी	अशीतिः
८१	इक्योस्सी, क्योस्सी	एकाशीतिः
८२	बिआस्सी	द्व्यशीतिः
८३	तिरोस्सी	त्र्यशीतिः
८४	चुरोस्सी	चतुरशीतिः
८५	पिचोस्सी	पञ्चाशीतिः
८६	छिआस्सी, छिहोस्सी	षडशीतिः
८७	सत्तोस्सी	सप्ताशीतिः
८८	अट्ठोस्सी, ठोस्सी	अष्टाशीतिः

संख्याएं	हरि० रूप	संस्कृत रूप
८६	नवॉस्सी, निवॉस्सी	नवशीतिः
९०	नव्वे, निव्वे	नवतिः
९१	इक्याणवें, क्याणवें	एकनवतिः
९२	बाणवें	द्वानवतिः, द्विनवतिः
९३	तिराणवें	त्रिनवतिः, त्रयोनवतिः
९४	चुराणवें	चतुर्नवतिः
९५	पिचाणवें	पञ्चनवतिः
९६	छिआणवें, छिहाणवें	षण्णवतिः
९७	सताणवें	सप्तनवतिः
९८	अट्ठाणवें, ठाणवें	अष्टानवतिः
९९	निनाणवें, निंदाणवें	नवनवतिः
१००	सो	शतम्
१०००	हजार, सहस्र	सहस्र (फार० हजार)
१०,०००	दस हजार	दशसहस्र
१०,००००	लाख	लक्षम्
१०,०००,०००	करोड़	कोटिः

हरि० गणनात्मक संख्यावाची विशेषणों पर टिप्पणी

१८. हरि० के संख्यावाचक शब्द देने के पश्चात् इनके ध्वन्यात्मक विकास पर संक्षिप्त टिप्पणी आवश्यक प्रतीत होती है। हरि० की संख्याएं आ० भा० आ० भा० की संख्याओं से और उनमें भी हिन्दी संख्याओं से बहुत मिलती-जुलती हैं। पहली दस तक लगभग पूरी तरह हिन्दी से मिलती हैं सिवाय इसके कि हरि० में ४ के लिए विकल्प 'च्यार' भी है। यहां 'य' ✓ हरि० के अपने उच्चारण की विशेषता है। फिर हिन्दी 'नौ' हरि० 'नो' द्रष्टव्य हैं।

१९. हरि० ११-१८ के रूपों से अन्तिम 'ह' का लोप हो चुका है जो आधुनिक भोजपुरी, मैथिली, मगही तथा हिन्दी में विद्यमान है (भो० भा० तथा सा० पृ० २०४)। बंगला, असमिया तथा उड़िया में भी इस 'ह' का लोप हो चुका। (वही)

डा० चैटर्जी का मत है कि संख्यावाचक विशेषणों में कई एक अन्य भाषाओं का मिश्रण प्राकृत युग में ही होने लग गया था। दो स्वरों के बीच की ऊँच ध्वनि प्राकृत काल से ही परिवर्तित होने लग गई थी। यही परिवर्तन आज भी आ० भा० आ० भा० में विद्यमान है। 'ठारा' और इसी प्रकार 'ठावन' आदि का आरंभिक 'अ' तथा

‘क्यावन्’ ‘क्याण्वे’ आदि का आरंभिक ‘इ’ हरि० में से लुप्त होते जा रहे हैं—क्योंकि अभी तक इन के वैकल्पिक रूप भी यदा-कदा प्रयोग में आते हैं।

२०. ‘उन्नीस्’, ‘वीस्’ में ‘-ईस्’ की व्युत्पत्ति त्रिंशत् → तीस्, चत्वारिंशत् चालीस् के औपम्य पर हुई प्रतीत होती है। वस्तुतः यहां ऊनविंशति का ‘व’ → ‘इ’ में परिणत होता दिखाई देता।

२१. उन्नीस् उणत्तीस्, उन्तालीस्, उणानचस्, उणसट्, उण्हतर, उणास्सी, आदि रूपों का विकास ‘ऊन-’ से है जबकि नवास्सी तथा निनाण्वे का विकास ‘नवाशीति’ तथा ‘नवनवति’ से हुआ है।

२२. ‘एक’ का ‘ए-’ किसी अन्य संख्या-शब्द से पहले जुड़ते समय ‘इ’ में बदल जाता है, यथा इक्किस, इक्तीस। और यह क्यावन्, ‘क्याण्वे’ में लुप्त होने की प्रक्रिया में हैं तथा ‘ग्यारा’ का सर्वथा लोप हो चुका है।

२३. ‘क्याण्वे’ से ‘निनाण्वे’ तक की संख्याओं के अतिरिक्त अन्य सभी स्थानों पर परम्परागत आदि अथवा मध्य ‘व्’ → ‘व्’ में बदल गया है। तथापि क्यावन् ‘बावन’ ‘चव्वन’ आदि में -प् → -व- द्रष्टव्य है।

२४. ‘पव्व्’ जहां कहीं भी अन्य संख्या के साथ मिला है यहा -व् → -न्- में बदल गया है।

२५. ‘सत्तर’ आदि का ‘र्’ उल्लेखनीय है। पाली में ‘सत्तति’ तथा ‘सत्तरि’ दोनों रूप मिलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी युग में सप्तति → सप्तटि → *सत्तटि → *सत्तडि → सत्तरि बना हो।

२६. ‘छिहालीस्’, ‘छिहासट्’, ‘छिहास्सी’ आदि रूपों में ‘छ’ की ‘हकार’ ध्वनि अपने स्थान पर रहते हुए भी अगले स्वर में प्रतिविंबित होने लगती है। यही कारण है कि यहां दो-दो रूप विद्यमान हैं। ‘छिहालीस्’ के ‘ह’ के औपम्य पर ‘पंहतालीस्’ तथा ‘संहतालीस्’ का ‘-ह-’ द्रष्टव्य है। ‘संहतालीस्’ में अनुनासिकता ‘पंहतालीम्’ के औपम्य पर आई प्रतीत होती है। इसी प्रकार आगे ‘छिहन्तर’, ‘सतन्तर’, ‘अठन्तर’ आदि रूपों में -न्- ‘पिच्ह-तर’ के सादृश्य पर है।

२७. इक्हत्तर, बहत्तर, आदि रूपों में -ऐ- ध्वनि मध्यवर्ती -अ- के फैलाव स्वरूप ही अस्तित्व में आई है जबकि निव्वे, ‘क्याण्वे’ आदि रूपों की -ऐ-, ‘अ+इ’ ‘ऐ’ का विकसित रूप है।

२८. क्याण्वे, बाण्वे, आदि रूपों की अंतिम अनुनासिकता के लिए कोई

सुसिद्धतः तर्क दिनाई नहीं देता। कदाचिन्, यद्, अर्धशतक-य-यै पूर्ववर्ती अनुनासिके-
-ण-का प्रतीतिवत् हो हो।

२२. सौ — हरि० सो, सदस्र → सहस्रार् भी ध्यान रखने योग्य हैं।

३०. 'सौ' अन्य संख्या के साथ मिलकर 'सौ' का रूप धारण कर लेता है, यथा
हो से, तीन से आदि।

३१. अनोचित अथवा अर्धशिक्षित लोगों में गिनती का आधार मुख्यतः
'बोना' कि 'पचास' और 'सौ' की संख्याएँ हैं, यथा—'साठ' के लिए 'तीन बीसी',
१२ के लिए 'दो बाट बीस' तथा 'निब्बे' के लिए '९ स्र घाट सौ' कहना पसन्द किया
जाता है।

३२. सौ से ऊपर की संख्याएँ बिना किसी संयोजक पद की सहायता के ही
कहा जा सकती हैं, यथा—एक से एक (१०१), एक से उगसट (१२२), दो से एक
(२०१) एक हजार एक (१००१) एक हजार एक से एक (११०१) आदि।

विशेष—केवल १०१ के लिए 'कोत्तर सौ' मिलता है जिससे प्रतीत होता है
कि संस्कृत भाषा की एकोत्तर, अष्टोत्तर वाली प्रथा देर तक चलती रही होगी।

(२) वहाँ में १४४ के लिए 'चवालसौ' का प्रयोग किया जाता है। हो
सकता है कि प्राचीन हरि० में अन्य संख्याओं को भी इसी प्रकार उच्चारित किया
जाता रहा हो।

(२) क्रियात्मक संख्यावाचक विशेषण

३३. हरि० में पहले चार क्रमात्मक संख्यावाचक विशेषणों के रूप निम्नलिखित
हैं—

पहला ← अप० पहिल-, पढिल्ल- (पढम-+इल्ल) ← सं० प्रथम- हमारे
विचार में संस्कृत की √ प्रथ् से किसी काल या देश विशेष में ग्रहित, जटिल
आदि शब्दों की समानता पर प्रथिल (विस्तारशील) रूप बन गया और उसी
का विकसित रूप अप० पढिल → पहला बना प्रतीत होता है।

पहलवा—← ऊपर वाले रूप में -वा ← म० भा० आ० स्वार्थे-ङ लगा
हुआ है।

दूज्जा, तीज्जा : द्वितीयः और तृतीयः के 'य' को प्राकृ० काल में ही -ज
हो गया था।

चोत्था : चतुर्थः → चत्थ → चौत्था।

३४. हरि० में जडा, जुता के अतिरिक्त शेष संख्याओं के क्रमात्मक विशेषण
-माँ लगा कर बनते हैं, यथा पाँचमाँ, सातमाँ, आठमाँ आदि।

छटा, छठा की व्युत्पत्ति सं० षष्ठः से है। -मां : सं० -मः से यथा—पञ्चमः आदि रूप, अन्तिम अनुनासिकता अनुनासिक -म का प्रतिबिम्ब है।

३५. हरि० क्रमात्मक संख्यावाची विशेषणों में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि ग्यारा, बारा आदि संख्याओं से यद्यपि -ह् ← सं० -शः का लोप हो चुका है तथापि क्रमात्मक संख्यावाची विशेषणों में यह ध्वनि अभी विद्यमान है, यथा—

ग्यॉर्हमां, बॉर्हमां, तेर्हमां आदि।

(३) गुणात्मक संख्यावाची विशेषण

३६. हरि० में गुणात्मक संख्यावाची विशेषणों का प्रयोग पहाड़ों में किया जाता है। नीचे प्रत्येक पर विचार प्रस्तुत है :—

(१) 'म्हारणी' (गणना या सामान्य गिनती), जिसे एक का पहाड़ा समझा जा सकता है, में निम्नलिखित शब्द प्रयोग में लाए जाते हैं :—

एकं एका या एकऊ एका ।

दोकं दूआ या दो कऊ दूआ ।

इसी प्रकार आठ तक की गिनती समझनी चाहिए।

नोकं नूआ या नो की नुहाई ।

दस् की धाई या एकं विदी दस् ।

दस् अर् एक = ११ ।

दस् दो बारा = १२ इत्यादि ।

व्युत्पत्ति :—एकं : सं० एकम् ।

एका : एक-का (सम्बन्ध कारक का चिह्न) → एक्का ।

एकऊ : सं० एकम् → एकव् → एकउ → एकऊ ।

-कं : सं०-कम् (यथा एकम्)

-कऊ : सं० -कम् → -कम् → -कउ → -कऊ । यह कऊ 'एकम्' से प्रारंभ होकर सादृश्य के आधार पर सबही संख्याओं के साथ लगता चला गया ।

दूआ : सं० द्वितीयक ।

तीआ : सं० तृतीय -आदि ।

नोकं : उपरि निर्दिष्ट -कं सादृश्य के आधार पर लगता चला गया ।

नूआ : सं० नवकः ।

नुहाई : 'धाई' का अनुकरण स्पष्ट है ।

युक्तियुक्त तर्क दिखाई नहीं देता । कदाचित् यह अर्धस्वर -व- से पूर्ववर्ती अनुनासिक -ण- का प्रतिबिम्ब ही हो ।

२६. सौ → हरि० सो, सहस्र → सहन्सर् भी ध्यान रखने योग्य हैं ।

३०. 'सो' अन्य संख्या के साथ मिलकर 'से' का रूप धारण कर लेता है, यथा दो से, तीन से आदि ।

३१. अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित लोगों में गिनती का आधार मुख्यतः 'बीस' फिर 'पचास' और 'सौ' की संख्याएं हैं, यथा—'साठ' के लिए 'तीन बीसी', १८ के लिए 'दो घाट बीस' तथा 'निब्बे' के लिए '९स् घाट सो' कहना पसन्द किया जाता है ।

३२. सौ से ऊपर की संख्याएं बिना किसी संयोजक पद की सहायता के ही बना ली जाती हैं, यथा—एक् से एक् (१०१), एक् से उणस् (१५६), दो से एक् (२०१) एक् हजार एक् (१००१) एक् हजार एक् से एक् (११०१) आदि ।

विशेष :—केवल १०१ के लिए 'कोत्तर सो' मिलता है जिससे प्रतीत होता है कि संस्कृत भाषा की एकोत्तर, अष्टोत्तर वाली प्रथा देर तक चलती रही होगी ।

(२) पहाड़े में १४४ के लिए 'चवालसो' का प्रयोग किया जाता है । हो सकता है कि प्राचीन हरि० में अन्य संख्याओं को भी इसी प्रकार उच्चारित किया जाता रहा हो ।

(२) क्रियात्मक संख्यावाचक विशेषण

३३. हरि० में पहले चार क्रमात्मक संख्यावाचक विशेषणों के रूप निम्नलिखित हैं :—

पहला ← अप० पहिल-, पढिल्ल- (पढम+इल्ल) ← सं० प्रथम- हमारे विचार में संस्कृत की प्रथ् से किसी काल या देश विशेष में ग्रहिल, जटिल आदि शब्दों की समानता पर प्रथिल (विस्तारशील) रूप बन गया और उसी का विकसित रूप अप० पहिल → पहला बना प्रतीत होता है ।

पहलड़ा ← ऊपर वाले रूप में -ड़ा ← म० भा० आ० स्वार्थे -ढ लगा हुआ है

दूज्जा, तीज्जा : द्वितीयः और तृतीयः के '-य' को प्राकृ० काल में ही -ज हो गया था ।

चोत्था : चतुर्थः → चउत्थ → चोत्था ।

३४. हरि० में छठा, छटा के अतिरिक्त शेष संख्याओं के क्रमात्मक विशेषण -मां लगा कर बनते हैं, यथा पांच्मां, सात्मां, आठ्मां आदि ।

छटा, छठा की व्युत्पत्ति सं० षष्ठः से है। -मां : सं० -मः से यथा—पञ्चमः
आदि रूप, अन्तिम अनुनासिकता अनुनासिक -म का प्रतिबिम्ब है।

३५. हरि० क्रमात्मक संख्यावाची विशेषणों में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि ग्यारा, बारा आदि संख्याओं से यद्यपि -ह् ← सं० -शः का लोप हो चुका है तथापि क्रमात्मक संख्यावाची विशेषणों में यह ध्वनि अभी विद्यमान है, यथा—

ग्यार्ह^४मां, बार्ह^४मां, तेर्ह^४मां आदि।

(३) गुणात्मक संख्यावाची विशेषण

३६. हरि० में गुणात्मक संख्यावाची विशेषणों का प्रयोग पहाड़ों में किया जाता है। नीचे प्रत्येक पर विचार प्रस्तुत है :—

(१) 'म्हारणी' (गणना या सामान्य गिनती), जिसे एक का पहाड़ा समझा जा सकता है, में निम्नलिखित शब्द प्रयोग में लाए जाते हैं :—

एकं एका या एकऊ एका।

दोकं दूआ या दो कऊ दूआ।

इसी प्रकार आठ तक की गिनती समझनी चाहिए।

नोकं नूआ या नो की नुहाई।

दस् की धाई या एकं विंदी दस्।

दस् अर् एक = ११।

दस् दो बारा = १२ इत्यादि।

व्युत्पत्ति :—एकं : सं० एकम्।

एका : एक-का (सम्बन्ध कारक का चिह्न) → एक्का।

एकऊ : सं० एकम् → एकव् → एकउ → एकऊ।

-क : सं०-कम् (यथा एकम्)

-कऊ : सं०-कम् → -कम् → -कउ → -कऊ। यह कऊ 'एकम्' से प्रारंभ होकर सादृश्य के आधार पर सबही संख्याओं के साथ लगता चला गया।

दूआ : सं० द्वितीयक।

तीआ : सं० तृतीय-आदि।

नोकं : उपरि निर्दिष्ट -कं सादृश्य के आधार पर लगता चला गया।

नूआ : सं० नवकः।

नुहाई : 'धाई' का अनुकरण स्पष्ट है।

धाई : सं० दशकः + आई ← सं० गिजन्त — आप् + — इकां
→ आविआ, आविय → आवी → -आई ।

(२) शेष को दो के पहाड़े से समझना पर्याप्त रहेगा :—

दो एक दो : एक ← सं० एकम् ।

दो दूणी चार : दूणी ← द्विगुणः ।

दो तीए छ : तीए ← सं० तृतीयः ।

दो चोके आठ : चोके ← सं० चतुष्क ।

दो पंजे या पांजे दस् : पंजें, पांजे ← सं० पञ्चक ।

दो छीके बारा : छीके ← षट्क — (+क) ।

दो सत्ते चोदा : सत्ते ← सं० सप्तक ।

दो अट्ठे सोला : अट्ठे ← सं० अष्टक ।

दो नीम् या नीमे ठारा : नीम् ← सं० नवम् ।

दो धाए वीस् : धाए ← सं० दशक ।

ऊपर सबकी व्युत्पत्ति दिखाई गई है। यहां 'नीम्' के अतिरिक्त सभी स्थानों पर मिलने वाला अन्तिम बहु व० का प्रत्यय ए समझना चाहिए। 'नीम्' के साथ यह प्रत्यय विकल्प से लगता है।

(३) उपर्युक्त के अतिरिक्त निम्नलिखित गुणात्मक संख्यावाची विशेषण उल्लेखनीय हैं :—

पां-पां पच्चीस् — पां ← पांच ← सं० पञ्च, दूसरे अर्थों में यहां गुणात्मक अव्यय का लोप है।

सात्तू-सात्तू उगन्चस् और आठू-आठू चौंसट् — यहां विद्यमान -उ ← सं० -उक → म० भा० आ० भा० -उअ है।

बारं-बार चवालसो (१४४) — यहां बार ← सं० वारः का प्रतिनिधि सा प्रतीत होता है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। यह 'बारा' का ही संक्षिप्त रूप है।

(४) दस के बाद वाले पहाड़ों में गणनात्मक संख्यावाचक विशेषण ही गुणात्मक का कार्य करता है। 'गुणा' सूचक किसी प्रत्यय की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, यथा—'ब्यारा बारा एक सो बत्तीस्' आदि। तथापि 'दस बीस्सी दो सें' में 'बीस् + ई' है। यह गुणावाचक विशेषणों में पाई जाने वाली -ई ← सं० इत है। वस्तुतः यहां गुणात्मक के स्थान पर समूहवाची विशेषण से काम लिया गया है।

१. उ० ना० ति० : हि० का० उ० वि० पृ० ४०३, यह व्युत्पत्ति डा० चैटर्जी से उद्धृत की गई है।

(४) समूह वाचक संख्याएं

३७. हरि० में प्रायः निम्नलिखित समूहवाचक शब्दों को प्रयोग में लाया जाता है :—

- (१) जोड़ा, जोड़ी (युक्त→जुट + स्वार्थ -क) ।
- (२) तिल्ला (तीन का समूह) ।
- (३) गंडा (मुंडा एवं सांथली शब्द गंडा (चार का समूह) ।
- (४) पंजा (पांच का समूह) + सं० पञ्चक→पञ्चत्र →पंजा ।
- (५) कोड़ी (बीस का समूह)←सं० कोटि (२० की पंक्ति) ।
- (६) दर्जन (बारह का समूह) अंग्रेजी dozen ।
- (७) सैंकड़ा (सौ का समूह) : शतक + स्वार्थ -ड़ा ।
- (८) लखा (यथा—नो लखा हार) ।

इसके अतिरिक्त -इ ← सं० इत-से समूह वाचक संख्याएं बनाई जाती हैं यथा—बीस्सी, हजारी आदि ।

(६) 'एकड़ पे बिंदी दो गिणे गिणाए पूरे सो', में 'सैंकड़ा' के आधार पर 'एकड़ा' भी उल्लेखनीय है ।

३८. हरि० में ताश के पत्तों के लिए प्रयुक्त होने वाले निम्नलिखित पद वस्तुतः समूहवाचक विशेषण ही समझने चाहिए :—

- (१) इक्का (फा० यक्का) ।
- (२) दुग्गी, तिग्गी, चोगगी, पंजी, छिक्की, सत्ती, अदूठी ।
- (३) नहला और दहला ।

इक्का←सं० एक-कः से भी सम्भव है । 'दुग्गी', 'तिग्गी' आदि में यही -कः←-ग हो गया है तथा प्राकृ० की सी द्वित्व बहुला हरि० प्रकृति भी यहां उपलब्ध है । -ई लघुता वाची अथवा स्त्रीलिंग प्रत्यय है । दहला←सं० दश् + ल है । '-ला' प्रत्यय गुणवाचक विशेषणों की संरचना में काम आता है । 'नहला' इसी के औपम्य पर सिद्ध होता है ।

(५) समानुपाती संख्यावाचक विशेषण

३९. हरि० संख्याओं के साथ -गणा (सं० गुण+क-) प्राकृ० गुणत्र के संयोग से समानुपाती संख्यावाचक विशेषण सम्पन्न होते हैं; तथापि मूल संख्यावाचक पदों में स्वल्प सा परिवर्तन अपेक्षित है, यथा :—

दो गुणा = दुग्गा, तीन गुणा = तिग्गा, चार गुणा = चोगगा ।

समानुपाती संख्यावाचक पद निर्माण में सहायक दूसरा प्रत्यय ^{*}-हरा है, यथा :—[~]दू^xहरा, ती[~]हरा, चो^xहरा आदि । इस ^{*}‘-हरा’ का विकास सं० -हर (भाग) से माना जाता है ।

(६) भिन्नात्मक संख्यावाचक विशेषण

४०. हरि० की भिन्नात्मक संख्याएं नीचे दी जाती हैं :—

$\frac{1}{8}$ = १. पाइआ, पा (यथा आध् पा)←पाउआ←पाउ + उका ;

२. चुथाई (तिहाई के सादृश्य पर $\frac{1}{4}$ बना है) ।

$\frac{3}{8}$ = पोण , पोणां←पाउण←पादोन ।

$\frac{1}{2}$ आद्धा←अद्धा, आधा←अद्धअ←अर्द्धक ।

$2\frac{1}{2}$ = ढाई←अड्डइअ←अर्द्ध-तृतीय (क) ।

$1\frac{1}{8}$ = सवा←सवाअ←सपाद ।

$\frac{5}{8}$ = साड्डे←सड्ड←साद्ध ।

(७) ऋणात्मक संख्यावाचक विशेषण

४१. हरि० में ऋणात्मक संख्याओं के लिए ‘घाट्’ या कम (फा० कम) के योग से काम लिया जाता है । अशिक्षित अथवा अर्ध-शिक्षित लोग ही इस प्रकार के पदों का प्रयोग करते हैं ।

उदाहरण :—दो घाट् पन्चस् = ४८, दो कम बीस् = १८ ।

(८) प्रत्येक वाची संख्यावाचक विशेषण

४२. हरि० में भी हिन्दी की भांति प्रत्येक वाची पद संख्यावाचक पदों की आवृत्ति से सम्पन्न होते हैं, यथा—एक्-एक्, दो-दो, सो-सो आदि ।

(९) निश्चित संख्यावाचक विशेषण

४३. हरि० में निश्चयात्मक भाव प्रकट करने के लिए संख्यावाचक पदों के साथ ‘ऊँ’ जोड़ दिया जाता है, यथा :—

दोन्नुं (तीन्नुं के सादृश्य पर) ।

तीन्नुं , चारुं, पाँचूँ, छहूँ, साँत्तूँ आदि ।

यह -ऊँ←हिं० -ओं का प्रतिरूप है । जो बहु व० प्रत्यय हो सकता है ।

(१०) अनिश्चित संख्यावाचक विशेषण

४४. अनिश्चय का भाव दो प्रकार से प्रकट किया जाता है :—

(१) ‘एक’ के संयोग से, यथा—दो-एक् , पाँच्-एक् , आध्-एक् आदि ।

(२) -इआं, -यां प्रत्यय के योग से :—

दसिआं, बीसिआं, सोयां, सैंकड़्यां, हजार्यां। यह भी वस्तुतः विशेषता वाचक प्रत्यय -इकः + बहु व० प्रत्यय -आं के संयोग से बना है।

(घ) सर्वनाम-जात-विशेषण

४५. हरि० में सर्वनाम-जात-विशेषण निम्नलिखित हैं :—

(१) संकेत वाचक—योह^x, यो, यू, ये, ओह^x, ओ, वे, स्त्रीलिङ्ग या वा (एक वचन)।

(२) सम्बन्धवाचक—मेरा, तेरा आदि।

(३) गुणवाचक—इसा, उसा, जिसा, किसान।

(४) परिमाणवाचक—इतना, उतना, जितना, कितना।

(१) संकेतवाचक विशेषण—ऊपर के रूपों से विदित है कि ये रूप निकट-वर्ती तथा दूरवर्ती संकेतवाचक सर्वनामों से भिन्न नहीं हैं। इनकी व्युत्पत्ति आदि पर सर्वनामों के अध्याय में विचार किया गया है (दे० २.५.२०-२३)।

(२) सम्बन्ध वाचक सर्वनाम-जात-विशेषणों के सम्बन्ध में पीछे (१३) के अन्तर्गत ही विचार किया जा चुका है।

(३) गुणवाचक सर्वनाम-जात-विशेषणों के रूपों से विदित है कि ये निम्नलिखित पदग्रामों से बने हैं :—

इ-स् -आ, जि-स् -आ, उ-स् -आ, कि-स् आ।

प्रत्येक का पहला अथवा मूल पदग्राम सर्वनाम-जात है, यही कारण है कि इन्हें सर्वनाम-जात विशेषण कहा गया है। इन पदग्रामों अर्थात् इ-, उ-, जि-, कि- की व्युत्पत्ति पर २.५.२० के अन्तर्गत विचार किया गया है। दूसरा पदग्राम सभी रूपों में समान है—‘सा’। इस ‘सा’ की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

सं० दश (यथा एतादृश, ईदृश)→म० भा० आ० भा० -इस → आ० भा० आ० भा० -स् + (आ स्वार्थे प्रत्यय)।

(४) परिमाण वाचक—उपरि निर्दिष्ट (३) गुणवाचक सर्वनाम-जात विशेषणों की भांति ही परिमाण वाचक विशेषणों की संरचना निम्नलिखित पदग्रामों से हुई है :—

इ-त् -रा -आ, जि-त् -रा -आ, उ-त् -रा -आ कि त् -रा -आ

प्रत्येक के मूल पदग्राम इ-, उ-, जि-, कि- पर सर्वनामों के अन्तर्गत विचार किया गया है (दे० २.५.२०) ‘-त्-’ की व्युत्पत्ति निम्नलिखित रूप से हुई है :—

सं० यत्क (यथा इयत्क) → म० भा० आ० भा० -तिअ-, -त्तअ→आ०

भा० आ० भा० -त- ।

-णा ← -ण + -आ को बीमस् ने लघुतावाची प्रत्यय माना है^१ जो अपना अर्थ खो चुका है ।

हमारे विचार में यह -णा (जिसमें -आ स्वार्थे प्रत्यय सम्मिलित है) । -घणा के -णा के औपम्य पर लग गया है । 'घणा' भी परिमाण सूचक पद है और हो सकता है कि कभी 'इतणा घणा या इत्-घणा' प्रचलित रहा हो ।

एक अन्य मत यह भी है कि इतणा, उतणा आदि में चार पदग्रामों के स्थान पर केवल ३ पदग्राम हैं अर्थात् इ + तन + आ (स्वार्थे प्रत्यय) । संस्कृत में इदानीं तन (प्राक्तन) की समानता पर इ-, उ- आदि सर्वनामावशेषों के अन्त में यह 'तन' प्रत्यय जोड़ दिया गया हो ।

पाँचवाँ अध्याय

सर्वनाम

१. (क) प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) में सर्वनामों का रूप लगभग स्थिर हो चुका था परन्तु म० भा० आ० भा० में एक ही सर्वनाम के विभिन्न रूप दृष्टिगोचर होते हैं। यद्यपि इन रूपों में ध्वनि परिवर्तन अथवा विकासोन्मुख प्रवृत्ति के चिह्न स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं तथापि एक ही सर्वनाम के लिए प्रयोग में आने वाले अनेक रूपों से इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) की विभिन्न प्रादेशिक बोलियों में भी इस प्रकार की अनेक रूपता विद्यमान रही होगी। परन्तु उपर्युक्त साक्ष्य के अभाव में किसी प्रकार की निश्चयात्मक बात कहना नितान्त असंभव है। प्राकृत के पश्चात् अपभ्रंश में भी इसी प्रकार की अनेक रूपता विद्यमान है और वस्तुतः अपभ्रंशकाल के विभिन्न रूप ही हमारी आ० भा० आ० भा० के सर्वनामों के अनेक रूपों का मूलाधार हैं।

(ख) रूप - विचार से सर्वनामों को संज्ञाओं की श्रेणी में ही रखा जाता है और सर्वनामों के विभिन्न रूपों की रचना करते समय 'विकारी-पद' के साथ वे ही परसर्ग लगाए जाते हैं जो कि संज्ञा के विभिन्न रूप प्राप्त करने के लिए काम में लाए जाते हैं। हरि० में एक ही सर्वनाम के एकाधिक विकारी-पद हैं उनका मूल पदग्राम एक ही हो सकता है परन्तु विकास के दृष्टिकोण से उन दोनों का स्रोत अलग-अलग मानना पड़ेगा।

(ग) हरि० में हिन्दी की भांति अन्य पुरुष के लिए कोई अलग सर्वनाम नहीं है और इनके स्थान पर निश्चयवाचक सर्वनामों से ही काम चलाया जाता है परन्तु हिन्दी के विपरीत हरि० में निश्चयवाचक सर्वनामों के पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों रूप विद्यमान हैं।

(क) पुरुषवाचक सर्वनाम

२. हरि० में अन्य पु० के लिए कोई अलग सर्वनाम नहीं है, अतः इस शीर्ष के अन्तर्गत हम केवल उ० पु० और म० पु० के सर्वनामों पर ही विचार करेंगे।

(१) उत्तम पुरुष

३. उ० पु के मूल रूप निम्नलिखित हैं :—

	एक व०	बहु० व०
कर्तृ	मैं	हम्
विकारी	म-, मेरे-	हम्-, म्हारे-

ध्यान रहे कि कर्ता, सम्बन्ध और आधिकरण के अतिरिक्त शेष कारकों के रूप दोनों विकारी रूपों से एक-साथ सम्पन्न होते हैं। 'मेरे' और 'म्हारे' मूलतः सम्बन्ध कारक (एक वचन मेरा, बहु व० म्हारा) के ही विकारी रूप हैं। कर्ता में 'म-' और 'हम्-' पदग्रामों के साथ परसर्ग जोड़ कर रूप सम्पन्न होते हैं तो अधिकरण में केवल 'मेरे' और 'म्हारे' से। परसर्गों के संयोग के पश्चात् हरि० उत्तम पुरुष के रूप इस प्रकार होंगे :—

कारक	एक व०	बहु व०
कर्ता	मन्नें, मनें	हम् नें
कर्म और सम्प्रदान	मन्नें, मनें, मत्तें, मत्ती, मेरे तै, मेरे ती ।	हम् नें, हम् तें, हम् ती, म्हारे तै, म्हारे ती ।
करण और अपादान	मत्ते, मत्ती, मेरे तै, मेरे ती	हम् तें, हम् ती, म्हारे तै, म्हारे ती ।
सम्बन्ध	मेरा, मेरी, मेरे, मेरे	म्हारा, म्हारे, म्हारे, म्हारी ।
अधिकरण	मेरे में, मेरे पे	म्हारे में, म्हारे पे ।

टिप्पणी :

- (१) ध्यान से देखने पर विदित होगा कि 'म-' विकारी पद के साथ लगने वाले विभिन्न कारक चिह्न मूल पदग्राम के साथ इस प्रकार घुल-मिल गए हैं कि उन्हें सम्पन्न रूप से अलग करके देखना विचित्र सा प्रतीत होता है ।
- (२) विकारी रूप 'मेरे' और 'म्हारे' सम्बन्ध कारक के ही विकारी रूप हैं । अतः हम यहां सम्बन्ध कारक के रूपों की व्युत्पत्ति पर विचार करेंगे ।
- (३) हमने ऊपर दो-दो विकारी रूप दिए हैं अर्थात् 'म-' और 'मेरे' तथा 'हम्' और 'म्हारे' । 'मेरे' का आगे विश्लेषण कीजिए; इसके पदग्राम होंगे 'म-एर-ऐ' । इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों विकारी रूपों का मूल पदग्राम एक ही है (दोनों के विकास के सम्बन्ध में आगे विवेचन किया जाएगा । यही स्थिति 'हम्' और 'म्हारे' की है । वर्णविपर्यय से 'हम्' का रूप 'मह्' या 'म्ह्' प्राप्त होगा । 'म्ह्' ही वस्तुतः मूल पदग्राम है (दे० व्युत्पत्ति सम्बन्धी विवेचन) ।

४. व्युत्पत्ति :— चूँकि हम कारक चिह्नों की व्युत्पत्तियों पर पहले विचार कर चुके हैं (दे० २. ३. ३३. से २. ३. ४० तक) अतः हम यहां कर्तृ रूप 'मैं' और 'हम्', विकारी रूप 'म' तथा सम्बन्ध-कारक के रूप 'मेरा' और 'म्हारा' पर ही विचार करेंगे ।

५. 'मैं' और विकारी रूप 'म' का पूर्वरूप अपभ्रंश के करण-कारक के 'मइ'

और 'मइ' रूपों में देखा जा सकता है। इससे आगे की कड़ी जोड़ने के लिए विकास-क्रम की दो भिन्न धाराएं उपलब्ध होती हैं :—

(१) सं० मया → प्राकृ० मए → अप० मइ, मइ → मँ, म।

(२) सं० मयि → प्राकृ० मइ → अप० मइ, मइ → मँ, म।

उपरिनिर्दिष्ट दो स्रोतों की धारणा इस लिए की गई है कि अपभ्रंश काल में करण-कारक और अधिकरण कारक घुल-मिल कर एक हो गए हैं^१ और -इं (अर्थात् मइ की अ वाली अनुनासिकता इ) के लिए तर्क की अपेक्षा बनी रहती है। अपभ्रंश के रूप 'मइ' में मिलने वाली अनुनासिकता के सम्बन्ध में भाषा-विज्ञानियों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। ज्यूस ब्रूलाश का विचार है कि इसका सम्बन्ध सं० 'एण' से है और ग्रियर्सन के मतानुसार इस का सम्बन्ध सं० भा० आ० भा० के '-अहिं' से है^२। इन दोनों मतों की आलोचना करते हुए श्री तगरे लिखते हैं - क्या यह अनुनासिकता (-इं) अधिकरण एक व० -हिं (सं० -स्मिन्) के कारण है? यह -इ पुल्लिङ्ग अकारान्त शब्दों के करण-कारक के रूपों के अन्त में सामान्यतः पाया जाने वाला प्रत्यय ही है^३। अतः अप० -इं का सम्बन्ध प्राकृ० — हिं ← सं० स्मिन् के साथ जोड़ना अधिक संगत जान पड़ता है। इसी तथ्य को हम इस प्रकार कह सकते हैं कि चाहे 'मइ' का विकास 'मया' आदि से हुआ हो और चाहे ऐसे ही किसी अन्य समानान्तर रूप 'मयि' आदि से हुआ हो परन्तु इसे अनुनासिकता प्रदान करने का मुख्य श्रेय — स्मिन् → -हिं → इं को ही है।

अब विकारी रूप 'म' को लीजिए। यह वस्तुतः 'मइ' का ही विकसित अथवा संक्षिप्त रूप है। दूसरे शब्दों में 'मइ' के साथ विभिन्न कारक चिह्न जुड़ते समय -इ का निपात हो जाता है और कारक चिह्नों के साथ सम्बन्धित व्यंजनों का द्वित्व हो कर ऐसा रूप सम्पन्न होता है जिस में कारक चिह्न अलग अथवा चिपके हुए से न रह कर पूरी तरह घुल-मिल गए हैं।^४

६. 'हम्' की व्युत्पत्ति स्थिर करने में विशेष कठिनाई का सामना नहीं होता। इस रूप का प्राकृ० 'अम्हे' से सीधा सम्बन्ध है। 'अम्हे' से बहु व० के प्रत्यय -ए के निपात होने पर वर्ण-विपर्यय द्वारा 'हम्' सुगमतापूर्वक बन जाता है। प्राकृ० 'अम्हे' से

१. ग० वा० त० : हि० ग्रा० आफ अप० पृ० १२०।

२. वही पृ० ११८।

३. वही पृ० २७७।

४. The transfer (of case ending ne) is clearly due to a confusion in the minds of the ignorant of the two constructions of the subject with the verb-Lessen-Ling. Prac (p. 357) quoted by Kellog in his Gra. Hindi Lang. p. 209.

अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रा० भा० आ० भा० की बोलियों में 'अस्मे' अवश्य रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि 'अस्मान्', अस्माभिः आदि रूपों का मूल-शब्द 'अस्म-' रहा होगा जिस के साथ 'ते', 'इमे' 'ये' आदि के सादृश्य पर बहु व० प्रत्यय '-ई' जुड़ गया होगा जिस से कि 'अस्मे' बना और चिर काल तक 'वयम्' के लिए साधारण बोल-चाल की भाषा में प्रयुक्त होता रहा। प्राकृ० 'अम्हे' का पूर्वरूप निश्चय से 'अस्मे' जान पड़ता है। विकासक्रम निम्नलिखित रूप से दिखाया जा सकता है :—

अस्मे → प्राकृ० अम्हे → प्राकृ० अम्हे, अम्हि, अम्ह (करण और अधिकरण दोनों) -हम्म → हम्।

७. 'मेरा' की व्युत्पत्ति :— हरि० में सम्बन्धकारक का कारक-चिह्न 'का' है परन्तु पुरुषवाचक सर्वनामों में हमें एक अपर रूप के दर्शन होते हैं अर्थात् '-रा' या '-एरा'। इस प्रकार यहां भी मूल पदग्राम विकारी 'म' ही दिखाई देता है परन्तु विकास-क्रम में पाए जाने वाले रूपों से विदित होता है कि इन दोनों का स्रोत अलग-अलग है। विकारी 'म' का स्रोत 'मया' या मयि है (देखिए ५) तो 'मेरा' के मूल पदग्राम 'म-' का स्रोत 'मम' है।

'मेरा' की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में सामान्य धारणा यह है कि यह रूप प्राचीन सम्बन्ध कारक के रूप 'मह-' + केरा या केरो (केरको ← सं० कृत) से विकास को प्राप्त हुआ है। 'बीम्स ग्राम्य प्राकृत से महकेरो रूप प्रस्तुत करते हैं जिससे 'क' के निपात के पश्चात् तथा सम्पर्की स्वरों में संधि हो जाने से 'मेरा' और 'मेरो' रूप सुगमता पूर्वक निकल आते हैं'।

वस्तुतः 'मेरा' मूलतः एक विशेषण पद है जो संज्ञा 'मेर' के साथ विशेषण बोधक प्रत्यय '-आ' (दे० (२. १. ५. (३)) जोड़ कर बना है। इसी 'मेर' संज्ञा के अन्य विशेषण बोधक प्रत्यय '-ला' के संयोग से 'मेरला' विशेषण रूप भी सम्पन्न होता है। 'मेरा' या 'मेरला' में अर्थ-विचार की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। सम्बन्ध कारक एक प्रकार से विशेषता प्रकट करने का साधन ही है, अतः इसने अपभ्रंश काल में 'मेर' रूप अपना लिया। पं० हरगोविन्ददास त्रिकमचंद 'सेठ' एक विशेषण पद के रूप में 'मेर' का उल्लेख करते हैं जो उन्हें प्राकृत सर्वस्व (पृ० १२०)^३ से मिला है। इस 'मेर' की व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा० के रूप ममेर (दे० आठवीं शताब्दी का संस्कृत-चीनी कोष) या अन्य प्राचीन रूप 'मवेर' से की जा सकती है^४। डा० तिवारी जी के अनुसार ये रूप भी 'मम + 'केर' से बने होंगे।

१. कै० : हि० ग्रा० पृ० २१०।

२. दे० पाइय सद मण्छावो।

३. मार्कण्डेय प्रा० सर्वस्व-विजागापट्टम संस्करण।

४. उ० ना० ति० भो० भा० और सा० पृ० २१५।

(‘केर की व्युत्पत्ति डा० तिवारी जी ने सं० ‘कार्य’ से मानी है और केलाग ने सं० ‘कृत’ से) अतः ‘मेर’ का विकास क्रम इस प्रकार समझा जा सकता है :—

*मम + केर → ममेर → मवेर → *मंएर या मएर → अप० मेर → हरि० मेर (संज्ञा रूप) मेर् + आ (मेरा) विशेषण रूप या सम्बन्ध कारक का रूप ।

८. ‘म्हार’ का सम्बन्ध सीधे अप० ‘हमार’ या ‘हम्मार’ के साथ है । पा० सं० म० ने इन रूपों को एशियाटिक सोसायटी बंगाल (१६०२) से उद्धृत किया है । हरि० ‘म्हार’ अप० ‘हमार’ या ‘हम्मार’ से भी प्राचीनतर रूप प्रतीत होता है । तथापि बंगला ‘आमार’, उडिया-अम्हार, भोजपुरी-हमरा और गुजराती-अमारो से पता चलता है कि ‘केरको’ या ‘केर’ के साथ-साथ ‘-केरको’ या ‘केर’ प्रत्यय भी प्रयोग में लाया जाता था । प्राकृ० सम्बन्ध कारक के रूप अम्ह + कर से उडिया ‘अम्हार’ और हरि० ‘म्हार’ सम्पन्न होते हैं जिन से अप० रूप हमार या हम्मार सहज और स्वाभाविक रूप से बनते दीखते हैं । प्रा० ‘अम्ह’ का उद्गम स्रोत प्रा० भा० आ० भा० का ‘अस्म-’ (दे० ६) है । संक्षेप से, हरि० ‘म्हार’ का विकास-क्रम निम्नलिखित रूप से दिखाया जा सकता है :—

प्रा० भा० आ० भा० का *अस्म + कर → प्राकृ० *अम्ह + कर → *अम्हार → *म्हार → अप० हमार या हम्मार ।

उपरि निर्दिष्ट विकास श्रृंखला से स्पष्ट पता चलता है कि हरि० ‘म्हार-’ अप० रूप ‘हमार’ या ‘हम्मार’ से एक कदम पीछे है, अतः प्राचीनतर है ।

(२) मध्यम पुरुष

९. हरि० में मध्यम पुरुष के मूल रूप निम्नलिखित हैं :—

	एक व०	बहु व०
कर्तृ	तों, तोंह, तूं, तूह, तुंह, तें	तम्, थम्
विकारी	त, तेरे	तम्, थम्, थारें

मध्यम पुरुष की रूप रचना उत्तम पुरुष की रूप रचना का पूरी तरह अनुसरण करती है । अतः इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की विशेष टिप्पणी अपेक्षित नहीं है । मध्यम पुरुष के विभिन्न रूप निम्नलिखित होंगे :—

	एक व०	बहु व०
कर्ता	तन्नें, तनें	तम् नें, थम् नें
कम-सम्प्रदान	तन्नें, तनें, तत्ते, तत्ती, तेरे तें, तेरे ती	तम् नें, थम् नें, तम् ते, तम् ती, थम् ती, थारें ते, थारें ती

	एक व०	बहु व०
करण-अपादान	तत्तै, तत्ती	तम् तै, थम् तै, तम् ती,
	तेरै ती, तेरै तै	थम् ती, थारै तै, थारै ती
सम्बन्ध	तेरा, तेरै, तेरे, तेरी	थारा, थारे, थारै, थारी
अधिकरण	तेरै में, तेरै पं	थारै में, थारै पं

१०. व्युत्पत्ति :—म० पु० की रूपावली उत्तम पुरुष की रूपावली का पूरा-पूरा अनुसरण कर रही है, अतः हम यहां मूल रूपों की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में ही विचार करेंगे।

११. कर्तृ तथा विकारी क्रमशः 'तै' और 'त-' की व्युत्पत्ति :—वस्तुतः 'तै' और 'त-' का क्रमशः 'में' और 'म-' के साथ पूरा-पूरा सादृश्य है। 'में' और 'म-' की उत्पत्ति का विस्तृत विवेचन पीछे (५) में दिया जा चुका है, अतः यहां 'तै' और 'त-' के विकास क्रम का संकेत मात्र ही पर्याप्त रहेगा—

सं० त्वया → प्राकृ० तए, तइ → अप० तई, तइ → हरि० तै, त-। यहां भी अन्तिम '-इ' प्राकृ० '-हिं' (सं० स्मिन्) की निशानी है। इसके अतिरिक्त यहां भी कारक चिह्न जुड़ते समय अप० तइ के अन्तिम 'इ' का निपात हो जाता है और अगले व्यंजन का द्वित्व आदि भी उ० पु० एक व० के रूपों के समान होता है।

१२. तू, तूं^x और तुंह :—इन तीनों रूपों में विशेष अन्तर नहीं है। पहले रूप अर्थात् 'तू' में हकार ध्वनि का अभाव है, अतः इसका सम्बन्ध वैदिक त्वम् (तुवम्) → सं० त्वम् → पाली तुवं → प्राकृ० तुं, तू से सहज ही जोड़ा जा सकता है। शेष दोनों रूपों अर्थात् 'तूं^x' या 'तूं^x' का पूर्वरूप अप० 'तुहुँ' और 'तूं^x' है परन्तु अपभ्रंश के इन रूपों का सम्बन्ध उपरिलिखित विकास लड़ी से नहीं जोड़ा जा सकता क्योंकि इनमें से किसी भी रूप में 'हकार' की ध्वनि विद्यमान नहीं है। क्या इस हकार की ध्वनि का आगम अपभ्रंश काल में हुआ? यदि नहीं तो इन रूपों की प्राप्ति के लिए हमें 'अस्मे' (दे० ६) के सदृश युष्मे → तुष्मे की कल्पना करनी पड़ती है जिससे प्राकृ० कर्तृ बहु व० तुम्हे → अप० तुम्ह सम्पन्न होता है। अप० के कर्तृ एक व० के रूप अर्थात् 'तुहुँ' और 'तूं^x', कर्तृ बहु व० के रूप 'तुम्ह' के सहगामी रूप ही प्रतीत होते हैं। इन रूपों में दिखाई देने वाला अन्तर संभवतः एक व० और बहु व० का भेदक अन्तर ही हो। ऐसा प्रतीत होता है कि अपभ्रंश का बहु० व० हरि० में एक वचन का बोधक रह गया हो अथवा अपभ्रंश के एक व० के रूप की अनुनासिक ध्वनि पिछले वर्ण पर पहुँच गई हो और अन्तिम स्वरों (उ या अ) का लोप हो गया हो।

यदि तुंह या तूं^x के सम्बन्ध में इस व्युत्पत्ति को स्वीकार किया जाए तो 'हकार' ध्वनि के लोप से 'तू' भी इसी से सम्पन्न हो जाता है।

१३. 'तों' और 'तोंह' की व्युत्पत्ति :—'तों' और 'तोंह' को क्रमशः तूं और 'तूंह' या 'तूंह' का विस्तृत रूप कहा जा सकता है, तथापि '-ओं' से इसका सम्बन्ध अप० 'तो' ← प्राकृ० संबंध के रूप 'तव' ← सं० तव से भी जोड़ा जा सकता है। परन्तु यह व्युत्पत्ति हमें अधिक मान्य प्रतीत नहीं होती है।

१४. 'तम्' और 'थम्' की व्युत्पत्ति :—ये दोनों रूप उत्तम पुरुष कर्तृ बहु व० 'हम्' से पूरे तरह मिलते-जुलते हैं। इनका विकास-क्रम निम्नलिखित हो सकता है :—

('अस्मे' के आधार पर) *युष्मे → *तुष्मे → पा० तुम्हे → प्राकृ० तुम्ह → अप० तुम्ह → हरि० तम् या थम्। (यहां पूर्व रूप से अप० के रूप में विद्यमान 'हकार' ध्वनि पूरी तरह लुप्त हो गई है जबकि दूसरे रूप में वह अपने स्थान से भ्रष्ट होकर पूर्ववर्ती ध्वनि से मिल गई है)।

१५. संबंध एक व० तेरा :—'तेरा' की रूप रचना उ० पु० संबंध कारक के एक व० 'मेरा' के समान है और यहां हरि० में 'मेर्' के समान 'तेर्' संज्ञारूप विद्यमान है। परन्तु 'मेरा' के लिए जैसे अप० में 'मेर्' तथा प्रा० भा० आ० भा० में 'ममेर = मंवेर' रूप विद्यमान हैं, वैसे 'तेरा' के लिए अप० अथवा प्रा० भा० आ० भा० में समानान्तर रूप नहीं मिलते। हरि० 'तेर्' के आधार पर हमें अप० तथा प्रा० भा० आ० भा० में 'मेर' के रूपों के सादृश्य के आधार पर समानान्तर रूपों की अर्थात् प्रा० भा० आ० भा० तवेर → अप० तेर की कल्पना करनी पड़ती है। इस प्रकार मूल रूप प्रा० भा० आ० भा० का 'तव + केर' हो सकता है।

१६. थारा :—'थारा' के लिए अप० में कई एक रूप मिलते हैं। पं० हरगोविंद दास त्रिकम चन्द सेठ ने प्राकृ० में 'तुम्हकेर' तथा अप० में 'तोम्हार', 'तुम्हार' और 'तुहार' रूप दिए हैं। प्रा० तुम्ह-केर की व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० भा० के तुष्म- ← युष्म- से हो सकती है जिनकी कल्पना 'अस्म-' (१२) के आधार पर की जाती है। इस प्रकार विकास-क्रम निम्नलिखित रूप से हो सकता है :—

*युष्म -केर → *तुष्म -केर → प्राकृ० तुम्हकेर → अप० तोम्हार, तुम्हार, तुम्हार ← थार, थारा।

(ख) संकेतवाचक सर्वनाम तथा सम्बन्धवाचक आदि अन्य सर्वनाम

१७. संकेतवाचक, सम्बन्धवाचक तथा प्रश्नवाचक सर्वनामों के रूपों की संरचना तथा व्युत्पत्ति बहुत कुछ समानता रखती है। अतः इन पर यहां एक साथ विचार करना उत्तम रहेगा।

१. पा० सं० म० में उक्त पंडित महोदय ने विभिन्न स्रोतों का उल्लेख किया है जहां से कि उन्होंने ये रूप लिए हैं।

१८. (१) दूरवर्ती संकेतवाचक सर्वनाम के रूप निम्नलिखित हैं :—

	एक व०	बहु व०
कर्तृ	पुं० लि० ओह, ओ, वो, वोह	वेह, वे
	स्त्री लि० वाह, वा	
विकारी	उस्, उंह	उन्, उन्ह, उन्हां

विशेष :—(क) इस सर्वनाम के विभिन्न कारकों के रूप बनाने के लिए विकारी रूप के साथ वे ही कारक चिह्न लगाए जाते हैं जो संज्ञा पदों के साथ लगते हैं। यहां सम्बन्ध कारक के रूप पु० वाचक सर्वनाम की भांति 'रा', 'रे' से न बन कर 'का', 'के', 'की' से बनते हैं।

(ख) लिंग-भेद केवल कर्तृ० एक व० में पाया जाता है।

(ग) 'उन्हां' वैकल्पिक विकारी पदग्राम 'उंह-' का ही बहु व० रूप है। 'उन्हां-' के साथ केवल 'ने' या 'नं' कारक चिह्न प्रयोग में लाया जाता है।

(२) निकटवर्ती संकेतवाचक सर्वनाम के रूप निम्नलिखित हैं :—

	एक व०	बहु व०
कर्तृ० पुल्लिङ्ग	योह, यो, यू	ये, येह
स्त्रीलिङ्ग	या, याह	
विकारी	इस्, इंह	इन्, इन्ह, इन्हां

विशेष :—ऊपर की टिप्पणियां (क) तथा (ख) यहां भी लागू होती हैं। यहां भी 'इन्हां-' पदग्राम 'इन्ह' का बहु व० रूप ही है और इसके साथ भी केवल 'ने' या 'नं' कारक चिह्न जोड़ा जाता है।

(३) प्रश्न-बोधक सर्वनाम के दो रूप हैं :—

(क) पुरुष वाचक।

(ख) अन्य प्राणी वस्तु, बात या भाव वाचक।

(क) पुरुष वाचक प्रश्न-बोधक सर्वनाम के निम्नलिखित रूप हैं :—

	एक व०	बहु व०
कर्तृ	कोण, कूण	कोण, कूण
विकारी	किस्, किह	किन्, किन्ह, किन्हां

विशेष :—कारक चिह्नों के सम्बन्ध में ऊपर दी गई टिप्पणियां यहां भी लागू होती हैं। विकारी रूप बहु व० के साथ 'ने' कारक चिह्न उ० पु० के एक व० के रूपों के समान ही पदग्राम के साथ पूरी तरह घुल-मिल जाता है।

(ख) अन्य प्राणी, निर्जीव वस्तु, बात अथवा भाववाचक प्रश्नवाचक सर्वनाम के रूप इस प्रकार हैं :—

कर्तृ०	के
विकारी	क्यां, क्यांह

विशेष :—इसका प्रयोग केवल एक व० में ही होता है ।

(४) संबन्ध वाचक सर्वनाम के रूप निम्नलिखित हैं :—

	एक व०	बहु व०
कर्तृ	जो, जोण्	जो, जोण्
विकारी	जिस्, जिह्	जिन्, जिन्ह, जिन्हां

(५) संगतिमूलक सर्वनाम केवल 'सो' है जो एक व० तथा बहु व० दोनों में समान रूप से प्रयुक्त होता है ।

विशेष :—उपरि निर्दिष्ट सर्वनामों के अतिरिक्त संबन्धवाचक तथा प्रश्नवाचक सर्वनाम कर्तृ के लिए क्रमशः जुण्सा (यः पुनः सः→जुण्सा) और कुण्सा (कः पुनः सः→कुण्सा) भी प्रयोग में लाए जाते हैं ।

व्युत्पत्ति

१६. पीछे (१८) में निर्दिष्ट विभिन्न प्रकार के सर्वनामों को एक स्थान पर सज्जित करके उनके पदग्रामों का अध्ययन ठीक प्रकार से हो सकेगा ।

(सारणी १)

कर्तृ रूप

	एक व०	बहु व०
दूरवर्ती संकेतवाचक सर्वनाम	ओ, ओह, वो, वोह	वे, वेह्
निकट-वर्ती संकेतवाचक सर्वनाम	यो, योह्, यू	ये, येह्
प्रश्नवाचक सर्वनाम	(क) कोण्, कूण्	कोण्, कूण्
	(ख) के	
सम्बन्धवाचक सर्वनाम	जो, जोण्	जो, जोण्

(सारणी २)

विकारी रूप

दूरवर्ती संकेतवाचक सर्वनाम	उ/स्, उं/ह्	उ/न्, उ/न्ह, उ/न्हां
निकटवर्ती संकेतवाचक सर्वनाम	इ/स्, इं/ह्	इ/न्, इ/न्ह, इ/न्हां
प्रश्नवाचक सर्वनाम	(क) कि/स्, किं/ह्	कि/न्, कि/न्ह, कि/न्हां
	क्यां, क्यांह	
संबन्धवाचक सर्वनाम	जि/स्, जिं/ह्	जि/न्, जि/न्ह, जि/न्हां

(संगतिमूलक सर्वनाम केवल 'सो' मिलता है अतः इस पर अलग से विचार किया जाएगा ।)

उपरिनिर्दिष्ट दोनों सारणियों के अध्ययन से विभिन्न सर्वनामों के निम्न-लिखित मूल पदग्राम सिद्ध होते हैं :—

	कर्तृ	विकारी
दूरवर्ती संकेतवाचक सर्वनाम	ओ-	उ-
निकटवर्ती संकेतवाचक सर्वनाम	य्-	इ-
प्रश्नवाचक सर्वनाम	क्-	क्-
संबंधवाचक सर्वनाम	ज्-	ज्-

अब हम मूल पदग्राम के विकास पर विचार करके तब आगे अग्रसर होंगे ।

मूल पदग्रामों की व्युत्पत्ति

२०. प्रश्नवाचक तथा सम्बन्धवाचक सर्वनामों के मूल पदग्रामों के उद्गम की समस्या बहुत सरल है । प्रा० भा० आ० भा० (सं०) में प्रश्न वाचक सर्वनाम के लिए 'किम्' शब्द के रूपों का प्रयोग होता रहा जिससे पुंलिंग प्रथमा विभक्ति एक वचन 'कः', स्त्रीलिंग प्रथमा विभक्ति एक व० 'का' नपुं० लि० एक व० 'किम्' बनते हैं । इन सब रूपों में 'क्' मूलपदग्राम विद्यमान है जो प्राकृ० तथा अप० से होता हुआ ज्यों का त्यों हरि० में पहुँचा है । तथापि इसके साथ लगने वाले इतर पदग्राम विकास की स्थिति को स्पष्टतर करते हैं (देखिए २४-२५) । इसी प्रकार संबंधवाचक सर्वनाम के '-ज्' की स्थिति है जो सं० 'य्' सं० (यत्) य् → प्रा० ज् → अप० ज् → हरि० ज् है ।

निकटवर्ती संकेत वाचक सर्वनाम के '-य्' और '-इ' की स्थिति भी स्पष्ट है । संस्कृत में इस सर्वनाम के लिए कई शब्द—एतत्, इदम् आदि प्रचलित थे । कालान्तर में 'एतत्' के रूप कुछ अधिक प्रचलित रह गए । इसी से विभिन्न रूप विकास को प्राप्त हुए, उदाहरणार्थ—

एते → प्राकृ० एदे, ए ए → अप० एह

ऐसा प्रतीत होता है कि 'एतत्' के इस '-ए' का ह्रस्वीकरण होकर '-इ' पदग्राम तथा सम्पर्क स्वरों में 'य्' की श्रुति का सन्निवेश हुआ जिससे प्राकृ० एए → अप० एइ हरि० में 'ये' बन गया और '-य्' पदग्राम अस्तित्व में आया ।

दूरवर्ती संकेतवाचक सर्वनाम की समस्या जटिल सी है । यद्यपि आ० भा० आ० भा० के तुलनात्मक अध्ययन से इसका मूल पदग्राम 'ओ' या 'व' तथा 'उ' सिद्ध होते हैं, तथापि प्राकृ० तथा म० भा० आ० भा० में इसका कोई आधार दिखाई नहीं देता । डा० केलाग के अनुसार (हि० प्रा० पृ० २१४) प्रा० भा० आ० भा० की

उपभाषाओं में एषः तथा इमः की भांति “ओषः, उमहः” सर्वनाम के रूप अवश्य रहे होंगे जिनसे मूल पदग्राम ‘ओ’ तथा ‘-उ’ सिद्ध होते हैं। परन्तु किसी विद्वान् की धारणा यह भी है कि सं० सः → सो → हो → प्राकृ० ओह, उह, उव → वुह → वह बना है।

इसी सम्बन्ध में डा० चैटर्जी का मत भी द्रष्टव्य है। उनके अनुसार वैदिक ‘-अव’ से इन मूल पदग्रामों का विकास हुआ है। यही वैदिक ‘-अव’ फा० के ‘-ओ’ तथा ‘-ऊ’ का उद्गम स्थान रहा है। (वै० ले० ५७२)।

कर्तृरूपों की व्युत्पत्ति

२१. दूरवर्ती तथा निकटवर्ती संकेत-वाचक सर्वनामों के रूप लगभग एक जैसे ही हैं। इनके मूल पदग्रामों की चर्चा ऊपर (२०) के अन्तर्गत हो चुकी है। दोनों के एक व० रूप का अन्तिम पदग्राम -ह (यद्यपि यह लुप्त होने की प्रक्रिया में है, जैसा कि वैकल्पिक रूप से स्पष्ट है) हमें इनकी व्युत्पत्ति में बहुत सहायक सिद्ध होता है। इस का कारण यह कि :

(१) दूरवर्ती संकेतवाचक सर्वनाम में, जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है, ‘-ओ’ या ‘-उ’ मूल पदग्राम के लिए प्रा० आ० भा० में कोई आधार दिखाई नहीं देता, (डा० कैलाश के मतानुसार, यद्यपि डा० चैटर्जी वैदिक ‘-अव’ से इसकी संभावना मानते हैं)।

(२) हिं० ‘यह’ हरि० ‘यो’, ‘योह’ आदि निकटवर्ती सर्वनामों के लिए प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) में ‘एतत्’ तथा ‘इदम्’ दो शब्दों की अलग-अलग सत्ता है तथा प्राकृत में इनका विकास अलग-अलग ढंग से मिलता है परन्तु अप० में पहुँच कर दोनों के रूप एक दूसरे के इतने निकट पहुँच जाते हैं कि उनमें भेद करना कठिन प्रतीत होता है। तथापि डा० तगरे ने ‘-एअ’ ‘-एय’ का संबंध प्रा० भा० आ० भा० के ‘एतद्’ से तथा ‘-आय’, आअ—आदि रूपों का संबंध ‘इदम्’ से माना है (हिं० प्रा० अप० पृ० २१६)।

इस प्रकार ‘याह’ तथा ‘ओह’ आदि में मिलने वाला ‘ह’ इस बात को ओर संकेत करता है कि ‘योह’ की उत्पत्ति ‘एषः’ से हुई है और इसी के आधार पर हमें ‘ओह’ के लिए प्रा० भा० आ० भा० में “ओषः” रूप की कल्पना करनी पड़ती है। इस प्रकार दोनों का विकास क्रम निम्नलिखित रूप से माना जा सकता है :—

निकटवर्ती संकेत वाचक सर्वनाम—एषः → प्राकृ० एसो, एसे, एसु → अप० एस, एहो, एह।

अप० ‘एहो’ से हरि० ‘योह’ की संभावना की जा सकती है।

दूरवर्ती संकेतवाचक सर्वनाम—*ओषः→ओसो, ओसे, ओसु→अप० ओहो, हरियाणवी—३०

ओह → हरि० ओह, ओ ।

अथवा डा० चैटर्जी के आधार पर (वै० लें० ५७२) ।

अवस्य (या, अमुष्य) → प्राक् ओस्स → ओह, ओ वोह, वो ।

२२ दूरवर्ती तथा निकटवर्ती संकेतवाचक सर्वनामों के कर्तृ एक व० स्त्री लि० रूप क्रमशः 'वा', 'याह' या 'वाह' के मूल पदग्रामों पर ऊपर विचार हो चुका है । अन्तिम हकार ध्वनि विकल्प से मिलती है जो पुंल्लिंग 'योह' तथा 'वोह' के सादृश्य पर यहां भी विद्यमान है । यहां विद्यमान पदग्राम '-आ०' प्रा० भा० आ० भा० का स्त्री-लिंग प्रत्यय ही दिखाई देता है जो सं० 'सा', 'एषा' आदि के सादृश्य पर इन रूपों में पुंल्लिंग रूपों से भेद बनाए रखने के लिए बचा रह गया है ।

२३. दूरवर्ती संकेत वाचक सर्वनामों के कर्तृ बहु व० के रूप—

दूरवर्ती — वेह, वे । निकट वर्ती — येह, ये ।

इस संबंध में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि म० भा० आ० भा० (प्राक्० तथा अप०) के कर्तृ बहु व० के रूपों में हकार ध्वनि विद्यमान नहीं है । अतः ऐसा प्रतीत होता है कि हकार ध्वनियुक्त हरि० रूप एक व० के रूपों के सादृश्य पर हैं । निकटवर्ती सर्वनाम के विकास की शृंखला निम्नलिखित रूप से मिलती है :—

सं० एते→प्राक्० ए ए→अप० ए ए, →ये ।

'वे' के सम्बन्ध में इतना लिखना आवश्यक होगा कि इसके मूल पदग्राम पर ऊपर (२०) के अन्तर्गत विचार हो चुका है । शेष यह रूप पूरी तरह 'ये' के साथ मिलता है । अतः यहां 'ए' पदग्राम के लिए सादृश्यता को आधार मानना युक्ति-संगत रहेगा ।

२४. प्रश्नवाचक सर्वनाम के कर्तृ के एक व० तथा बहु व० के रूप एक समान हैं । ये रूप इस प्रकार हैं :—

(क) कोण, कूण तथा (ख) के ।

इन दोनों के मूल पदग्राम पर ऊपर विचार किया जा चुका है (२०) ।

ऊपर (क) के अन्तर्गत दूसरा पदग्राम—ओण, -ऊण हैं । '-ओण' का ह्रस्वीकृत रूप '-ऊण' है । अतः यहां 'ओण' पर विचार किया जाएगा । '-ओण' की उत्पत्ति सं० '-पुनः' के योग से हुई है, यथा :—

कः पुनः→कपुण→कवुण→कउण→हरि० कोण ।

ऊपर (ख) भाग के अन्तर्गत '-ए' ← सं० के किम् में 'इ' का विकसित रूप ही है । किसी किसी विद्वान् ने इसका विकास इस प्रकार भी माना है :—

ककः←प्राक्० कके→कए→कै→के ।

२५. संबंधवाचक सर्वनाम के कर्तृ के रूप 'जो' और 'जोण' एक व० तथा

बहु व० दोनों के लिए समान है। इनमें जो—सं० यः—प्राकृ० जो ही है। दूसरे रूप 'जोण्' में पदग्राम '-ओण्' प्रश्नवाचक सर्वनाम के रूप 'कोण्' में पदग्राम '-ओण्' के सादृश्य पर बना दिखाई देता है, यथा :—

यः पुनः—जपुण्—जउण्—जोण्।

विकारी रूपों की व्युत्पत्ति

२६. विकारी रूपों के एक वचन के रूप :—संकेतवाचक, प्रश्नवाचक और संबंधवाचक सर्वनामों के सभी रूप एक समान हैं। इनके मूल पदग्राम ही भिन्न हैं जिन पर ऊपर (२०) के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है। सभी के दूसरे पदग्राम '-स्' और '-ह' हैं।

(१) '-स्' की व्युत्पत्ति सं० '-स्य' से प्रतीत होती है, यथा :—

यस्य—जस्स, जिस्स्—जिस्, कस्य—कस्स, किस्स्—किस् ;
अस्य—अस्स, इस्स, एस्स—इस्।

(२) ह—सं० -भिः—प्राकृ० -हि, हिं—ह, यथा :—

येभिः—प्राकृ० जेहि; जेहिं—जिह्। केभिः—केहि, केहिं—किह्
आदि।

२७. विकारी रूपों के बहु व० के रूप :—इन रूपों में दूसरा पदग्राम विकल्प से '-न्', न्ह, -न्हां है। वस्तुतः -न् में एक पदग्राम, '-न्ह' में -न् + ह दो पदग्राम तथा -न्हां में -न् + -ह + आं तीन पदग्राम हैं।

पदग्राम -न् सं० -आनाम्—आं—आं—-न् है।

पदग्राम -ह सं० -भिः—हि, हिं—ह है।

पदग्राम -आं सं० '-आनाम्' या '-आन्' से विकसित हुआ है। यह बहु व० का प्रत्यय ही है, जिस पर संज्ञाओं के अध्याय में विचार हो चुका है (दे० २.३.२३)।

२८. प्रश्नवाचक विकारी 'क्यां', 'क्यांह' :—'क्यां' तथा 'क्यांह' का मूल पदग्राम वस्तुतः 'क्या-' है जिसके साथ तृतीया विभक्ति अथवा करणकारक के -हिं, -हि जुड़े हुए हैं।

'क्या-' के लिए डा० कैलाश ने कल्पना की है कि सं० 'कः' के साथ प्राकृ० में 'क' और लग गया जिसके कारण ककः—कको, कका, किको, 'किका' रूप सम्पन्न हुए। अन्तिम रूप 'किका' से किआ—क्या बना। इस 'क्या' या 'किआ' रूप के साथ हिं—सं० भिः लगने पर किआहिं—क्याहिं—क्याहिं—क्यांह बनेगा और अन्तिम हकार ध्वनि के लोप से 'क्यां' रूप बनेगा।

२६. संगति-मूलक 'सो' :—का सम्बन्ध सीधा सं० 'सः' से है। डा० कैलाश के विचार से एकाक्षर शब्द में प्राकृ० 'ओ' के हिन्दी में 'ओ' बने रहने का कोई उदाहरण विद्यमान नहीं है। अतः मारवाड़ी संबंधवाचक सर्वनाम 'जको' या 'जिको' के आधार पर वे प्राकृ० काल में 'यः', 'कः', 'सः' आदि सर्वनामों के साथ 'क' जुड़ने की संभावना व्यक्त करते हैं जिससे वर्तमान 'सः' को सको बनेगा तथा कालान्तर में इसी 'क' के लोप से इसका सओ→सो रूप बनने में आया होगा।

(ग) अनिश्चयवाचक सर्वनाम

३०. अनिश्चयवाचक सर्वनाम कई हैं जिनके रूप नीचे दिए जाते हैं :—

	एक व०	बहु व०
(१) कर्तृ	कोए	
विकारी	किसे	किन्हे

विशेष :—इस अनिश्चयवाचक सर्वनाम का प्रयोग साधारणतः व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के लिए होता है। विशेषण रूप में इसका प्रयोग निर्जीव पदार्थ के लिए भी किया जा सकता है।

(२) कर्तृ : किम्मे—इसका 'विकारी' रूप में प्रयोग नहीं मिलता।

(३) सभ्—इसका प्रयोग बहु व० में होता है। हिं० में इसी के लिए 'सब' का प्रयोग किया जाता है।

(४) कर्तृ सारे
विकारी सार्यां

अनिश्चय वाचक सर्वनामों की व्युत्पत्ति

३१. कर्तृ 'कोए' :—यह हिं० के 'कोई' का प्रतिरूप है। इसका संबंध भी सं० कोऽपि→प्राकृ० 'को' वि→कोइ से है जिसका अन्तिम -इ हरि० '-ए' है। यह परिवर्तन बल सूचक प्रत्यय 'ए' के सादृश्य पर हुआ दिखाई देता है। '-ए' के लिए देखिए (२.७.४)।

३२. विकारी रूप 'किसे' तथा 'किन्हे' में क्रमशः किस् तथा किन्ह के साथ बलसूचक प्रत्यय '-ए' की वृद्धि है। 'किस्' तथा 'किन्ह' की व्युत्पत्तियों पर पीछे २६ तथा २७ के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है। '-ए' के लिए देखिए २.७.४।

३३. किम्मे वस्तुतः 'किम्' + ए है। यह भी 'कोऽपि' की भांति 'किमपि' का विकसित रूप है। बल-सूचक प्रत्यय '-ए' जुड़ते हुए '-म्' पर बल पड़ने से '-म्' को द्वित्व हो गया है।

३४. सभ् :—हिन्दी 'सब्' का सम्बन्ध निश्चय से सर्वे→सब्बे→सब से है। इसीके साथ बलसूचक प्रत्यय -हि जुड़ने पर सब ही → सभी बन गया। डा० चैटर्जी ऐसा मानते हैं कि लहंदा में 'सभा' तथा सिन्धी में 'सम्' शब्द मिलते हैं। संभव है कि सं० 'सर्व' के साथ-साथ बहु वचनवाची 'सभा' शब्द का व्यवहार भी होता रहा हो, जिससे 'सम्' बना हो।

३५. 'सारे' तथा 'सार्यां' का संबंध निश्चय से सं० 'सर्व' से है। प्राकृ० में -र्- का लोप हो जाता है। परन्तु इन शब्दों से प्रतीत होता है कि इस प्रदेश में -व का लोप हो गया है। अन्तिम '-ए' तथा '-आं' क्रमशः कर्तृ तथा विकारी रूपों के बहु वचन के प्रत्यय हैं। इनकी व्युत्पत्ति के लिए देखिए (२.३.२१ और २.३.२३)।

(घ) निज-वाचक तथा आत्मवाचक सर्वनाम

३६. हरि० में निजवाचक सर्वनाम केवल 'आप्' या 'आप्पे' है। यह इसी रूप में प्रत्येक सर्वनाम के साथ प्रयोग में लाया जाता है। इसका प्रयोग जोर देने अथवा निजत्व का भाव प्रकट करने के लिए किया जाता है। इसका विशेषण रूप अपणा है।

ओह् आप् गया = वह स्वयं गया।

तन्नेः आप्पे कहाया = तुम ने स्वयं कहा आदि।

'आप्' से 'आप्पां' उ० पु० ए० व० के लिए भी प्रयोग में लाया जाता है। 'आप्पां' आप का ही बहु व० रूप है। इस प्रयोग के द्वारा संस्कृत की वह प्रणाली जीवित है जिसमें बताया गया है कि गुरु, आत्मा और ईश्वर के लिए बहु व० का प्रयोग किया जाता है।

३७. 'आप्' का उद्गम सं० आत्मन् → प्राकृ० अप्प से है। 'आप्पे' में बल-सूचक अव्यय '-ए' की वृद्धि है। '-ए' के लिए देखिए (२.७.४)। 'किम्मे' की भांति देखिए (३३) यहां भी 'प्' को द्वित्व हो गया है। 'अपणा' ← सं० आत्मनः→अप्पण-से है।

(ङ) आदरसूचक सर्वनाम

३८. हरि० में आदरसूचक सर्वनाम के लिए पुं० के बहु व० के रूपों कर्तृ थम् तथा विकारी थम् तथा 'थारा' का प्रयोग किया जाता है। इनकी व्युत्पत्ति के लिए देखिए (१४ तथा १६)। इनके अतिरिक्त हिन्दी के प्रभाव से 'आप्' का प्रयोग भी कभी कभी देखने को मिलता है पर बहुत कम। इसका सम्बन्ध भी सं० आत्मन् से है और मध्यवर्ती रूप संभवतः आपुन् तथा आपु रहे हैं^२।

१. उ० ना० ति० : भो० भा० सा० पृष्ठ २३६।

२. कै० : हि० ग्रा० ३८१ पृष्ठ २२०।

(च) मिश्र तथा यौगिक सर्वनाम

३९. अन्य आ० भा० आ० भा० की भांति हरि० में भी दो सर्वनामों के संयोग से मिश्र तथा यौगिक सर्वनाम सम्पन्न होते हैं यथा :—

जो कोए आवे जीम् जावे (जो कोई आए भोजन कर ले) ।

जिस् किसे नें सुण्या, रो पड़या (जिस किसी ने सुना, वह रो पड़ा) ।

इस् बात् नें सभ् कोए कहें सें (सब कोई इस बात को कहता है) ।

हम् सभ् नें जीम्मण् जाणा था (हम सब को जीमने के लिए जाना था) ।

इसी प्रकार अन्य रूप भी सम्पन्न किए जा सकते हैं ।

सर्वनाम-जात विशेषण तथा क्रिया विशेषण

४०. सर्वनाम-जात विशेषणों पर (२.३.४३) के अन्तर्गत और क्रिया विशेषणों पर (२.७.२ तथा २.७.३) के अन्तर्गत विचार किया गया है ।

छठा अध्याय

क्रिया-पद

१. प्रा० भा० आ० भा० में क्रिया-पदों की रूप-रचना सबसे अधिक जटिल थी। सभी धातुएं दस गणों में विभक्त थीं। प्रत्येक गण के रूप भिन्न-भिन्न थे। तीन-तीन पुरुषों के तीन-तीन वचन, अनेक लकार तथा प्रकार और कृदन्त तथा तद्धित प्रत्ययों के संयोग से बनने वाले रूपों की संख्या अगणित थी। यह रूप रचना आर्य जाति के लिए भले ही सरल हो परन्तु उनके सम्पर्क में आने वाली इतर जातियों के लिए इनका बोलना सीखना सरल न था। भाषा की प्रकृति वैसे भी परिवर्तनशील है। अतः शीघ्र ही इस में सरलीकरण के चिह्न प्रकट होने लगे।

पाली भाषा में क्रियापदों की रचना संस्कृत की अपेक्षा सरल है। संज्ञा-पदों की भांति यहां भी द्विवचन के रूपों का रिवाज जाता रहा और विविध काल-भेदों का का विचार लुप्त होने लगा। इसके अतिरिक्त इसी युग में पदस्मैपद तथा श्वादिगण सर्वव्यापी होने लगे तथापि यहां आत्मनेपद के रूप भी उदाहरण के तौर पर देखने को मिल जाते हैं।^१

सरलीकरण की उक्त प्रवृत्ति प्राकृतों में और भी अधिक व्यापक हो गई। डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल के शब्दों में— ‘द्विवचन का लोप, कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य के रूपों का प्रायः एकीकरण, आत्मनेपद के रूपों का ह्रास, विविध काल रूपों में अनुरूपता, क्रिया के विभिन्न रूपों में ध्वनि-परिवर्तन के कारण समानता आदि प्राकृत के क्रिया विकास की कुछ मुख्य विशेषताएं हैं।’^२

विकास की प्रक्रिया अप० काल में भी जारी रही तथा प्राकृत के क्रियापदों के रूपों में और भी अधिक ध्वन्यात्मक और रूपात्मक सरलता आई^३। इस प्रकार प्रा० भा० आ० भा० की संश्लिष्ट रचनापद्धति ने विकास के विभिन्न सोपान पार करते हुए आधुनिक काल में विश्लेषणात्मक रचनापद्धति का आश्रय पूरी तरह ग्रहण कर लिया है। डा० रामचन्द्र नारायण वले के विचार में अधुनिक भा० आ० भा० की क्रियाएं इन्हें एक ठोस और शक्तिशाली रूप प्रदान करती हैं^४। कतिपय विद्वानों का विचार था कि भा० आ० भा० की क्रियाओं को वर्तमान रूप देने में आर्यतर द्रविड़

१. स० प्र० अ० : प्रा० वि० पृष्ठ २०३।

२. वही पृष्ठ २०२।

३. ग० वा० त० : हि० आ० अप० पृष्ठ २८२।

४. व० क० इ० ए० पृष्ठ ४।

आदि भाषाओं का पर्याप्त हाथ रहा है, परन्तु डा० वले ने अपने अनुसंधान द्वारा सिद्ध कर दिया है कि भा० आ० भा० तथा द्रविड़ आदि आर्येतर भाषाओं का विकास-क्रम बिल्कुल भिन्न रहा है और आ० भा० आ० भा० के क्रिया के रूप विकासक्रम को म० भा० आ० भा० के माध्यम से प्रा० भा० आ० भा० तक स्थिर रूप से देखा जा सकता है। आधुनिक काल की संयुक्त क्रियाएं भी हमारी परम्परागत भाषा की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल हैं। प्रा० भा० आ० भा० के कृदन्त रूप अपेक्षाकृत सरल थे। वस्तुतः इसी पद्धति ने आधुनिक संयुक्त क्रियाओं को जन्म दिया है। भा० आ० भा० के मध्यकाल एवं आधुनिक काल के मध्यवर्ती संक्रान्ति काल में जब कि क्रिया-पद प्रक्रिया विश्लेषण अवस्था की ओर पर्याप्त अग्रसर हो चुकी थी तब इन संयुक्त क्रियाओं का व्यापार बढ़ता चला गया। प्रा० भा० आ० भा० के बहुत थोड़े तिङन्त रूप आ० भा० आ० भा० में अवशिष्ट रह पाए हैं। इन्होंने अधिकांशतः कृदन्त रूपों को ही अपनाया है तथा संयुक्त क्रियाओं का प्रचलन बहुत बढ़ गया है।

२. डा० ग्रियर्सन, हार्नल तथा डा० सुनीति कुमार चैटर्जी ने आ० भा० आ० भा० की क्रिया-पद्धति तथा उसके विभिन्न अंग-उपांगों पर पूर्ण रूप से विचार किया है। यहां भी न्यूनाधिक रूप से उक्त महान विचारकों का अनुसरण करते हुए हरियाणवी क्रिया-पदों के विभिन्न तत्वों पर विचार किया जाएगा।

धातुएं

३. हरियाणवी धातुओं को निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है :

(क) सिद्ध धातुएं—वे धातुएं जो मूलतः धातुएं ही हैं और जिनकी संरचना में किसी प्रत्यय की सहायता नहीं लेनी पड़ती।

(ख) साधित धातुएं—वे धातुएं जो मूल धातुओं अथवा अन्य पदों के साथ प्रत्यय के योग से बनाई जाती हैं।

(ग) संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली तथा देशी धातुएं—वे जिन की व्युत्पत्ति या तो संदिग्ध है या जो प्राकृत अथवा अपभ्रंश से आ० भा० आ० भा० में आई हैं।

उपर्युक्त भेदों को निम्नलिखित उपभेदों में विभक्त किया जा सकता है :—

(क) सिद्ध धातुएं

(१) संस्कृत से आई हुई तद्भव सिद्ध-धातुएं :—

(अ) साधारण धातुएं।

(आ) संस्कृत की सोपसर्ग धातुओं से विकसित।

(२) संस्कृत णिजन्त से आई हुई सिद्ध धातुएं।

(३) तत्सम तथा अर्ध-तत्सम धातुएं।

(४) नाम-धातुएं।

(५) योगज-धातुएं।

(ख) साधित धातुएँ

- (१) कम सापेक्ष धातुएँ ।
- (२) प्रेरणार्थक धातुएँ ।
- (३) नाम धातुएँ । (तद्भव और अर्थ तत्सम)
- (४) मिश्रित धातुएँ ।
- (५) ध्वन्यात्मक अथवा अनुकरणज धातुएँ ।

(ग) संदिग्ध व्युत्पत्तिवाली तथा देशी धातुएँ

इस श्रेणी में धातुओं के लिए कोई अलग शीर्षक या उप-भेद बनाने की आवश्यकता नहीं है। यह धातुएँ ऐसी धातुएँ हैं जिनका मूलपद संस्कृत में नहीं मिलता। संदिग्ध होने के कारण इनकी व्युत्पत्ति के संबंध में अथवा इनके देशी या विदेशी होने के संबंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

(क) सिद्ध-धातुएँ—

(१) तद्भव धातुएँ—(अ) साधारण धातुएँ ।

४. नीचे हरियाणवी की तद्भव सिद्ध धातुएँ और उनके प्राचीन रूप दिए जाते हैं :

हरि० रूप	म० भा० आ० भा० रूप	प्रा० भा० आ० भा० रूप
कर्	कर	कृ
कह	कह	कथ्य्
कूट्	कुट्ट	कुट्ट
कांब्	कंप	कम्प्
काट्	कट्ट	कृत
कूद्	कुद्	कूर्द्
खा	खा, खाअ	खाद्
खप्	खप्प	क्षप्यते
खिज्	खिज्ज	खिद्
खोद्	खोद्	क्षोद्
गांज् (जोर जोर से बोलना)	गज्ज	गर्ज्
गा	गा	गै
गिण्	गण	गण्
घस्	घस	घृष्

हरि० रूपं	म० भा० आ० भा० रूप	प्रा० भा० आ० भा० रूप
चू	चु, चव	च्यव
चिण् (दीवार उसारना)	चिण्, चुण्	चि (चिनोति)
छू (ह)	छुप, छुव	स्पृश् (१)
छूट्	छुट्ट	छुट्
चाब्	चब्ब	चव्
चूम्	चुंव	चुम्ब
जल्	जल	ज्वल्
जा	जा	या
जाण्	जाण	ज्ञा (जानाति)
जी	जीअ, जिअ	जीव्
जीम्	जिम्म	जिम्
जूम्	जुज्म	युध्य्
तर्	तरं	तृ
तल्	तल	तल्
तोड्	तोड	त्रुट्
दे	दा	दा
पड्ड	पड्ड	पठ्
पी	पा, पी	पा, पिब्
पाल्	पाल	पाल्
पीन्	पिंज	पिब्ज्
पीड् (रुई आदि चर्खी द्वारा पीड़ना)	पीड	पीड्य्
पीस्	पिस	पिष्
पूछ्	पुच्छ	पृच्छ्
बूम्	बुज्म	बुध्य्
पूज्	पुज्ज	पूज्
फाट् (फटना)	फट्ट	स्फट्
फूट्	फुट	स्फुट्य्
बांध्	बंध	बन्ध, वध्
बल् (जलना)	बल	ज्वल्
बांट् (रस्सी आदि को बल देना)	बंध	वृत्
वध्, बढ्	वद्ध, वड्ड	वृध्

हरि० रूप	म० भा० आ० भा० रूप	प्रा० भा० आ० भा० रूप
बस्	वस	वश्
बीध्	विध	व्यध्
सी	सिक्व	सीव्
सुमर्, समर्, सिमर्	सुमर्	स्मृ
सू (प्रसव होना)	सव	सू
भौस् (भौकना)	भस	भष्
भौक्	भुक्क	बुक्क
मान्	मण	मन्
मर्	मर	मृ
मोड्	मोड	मोट्य्
रंग्	रंग	रञ्ज्
राख्	रक्ख	रत्त्
राच (लाल होना, प्रसन्न होना)	रच्च	रञ्ज्
रीम्	रिज्म	ऋध
रो	रुअ	रुद्
लिहस् (चिमटना)	लिस्	शिलष्
लूद्	लुंट	लुण्ट
लह्	लह्	लभ्
लोट्	लोट्ट	लुठ्
सीख्	सिक्ख	शिक्त्
सीम् (मंद-मंद आग पर पकना)	सिज्म	सिध्
सो	सो, सुअ	स्वप्
सूक्	सुक्क	शुष्
हंस्	हंस	हस्
हो	हो, हुअ	भव्
हांड्	हिंड, हंड	हिएड्

(आ) सोपसर्ग धातुओं से विकसित सिद्ध धातुएं—

५. ऐसी सिद्ध धातुओं के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं जो संस्कृत की

सोपसर्ग धातुओं से विकसित हुई हैं :—

हरि० रूप	मा० भा० आ० भा० रूप	प्रा० भा० आ० भा० रूप
आजा (आना)		आ + या
उधा (उगाहना)	उगाह	उद् + ग्रह
उछल्	उच्छल	उत् + शल्
उठ्	उट्ट (?)	उत् + स्था
उड्	उड्ड	उत् + डय्
उत्तर	उत्तर	अव + तृ
उपज्	उपपज्ज	उत्पद्य
उफण्	उप्फुण्ण	उत् + पतन
उलांक्, उलांघ्	उल्लंघ	उत् + लङ्घय्
पखाल् (धोना)	पक्खाल	प्र + क्षालय्
पसर्	पसर	प्र + स्तृ
पसीज्	पसिज्जण	प्रस्विद्य
पा	पाव	प्र + आप्
पृच्छ्	पुंछ	प्र + उच्छ्
पो (पिरोना)	पोअ	प्र + वेव्
बैठ्	बइठ	उप + विष्
विखल्	विक्खर	वि + क्षर्
विगो (डोबना, नष्ट करना, खराब करना, शर्मिंदा करना)	विगोव	वि + गोपय्
व्याह	विवह	वि + वह्
विसर् (भूलना)	विसर, विस्सर	वि + स्मृ
संजौ	संजोअ	सं + योजय्
सांभर्	संभर	सं + भृ
सीम्	संसीव	सं + सोव्
समार	समार	समा + रचय्
पहर्	पहिर	प्र + धृ
सुहा	सुहा	सु + भा

६. ऊपर हरियाणवी की सिद्ध धातुएं दी गई हैं। प्रा० भा० आ० भा० और आधुनिकभाषा के रूपों में ध्वन्यात्मक परिवर्तन पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। यह परिवर्तन बहुत कुछ म० भा० आ० भा० काल में ही हो चुका था। ध्वन्यात्मक परिवर्तन उसके बाद भी हुआ है परन्तु पहले की अपेक्षा कुछ कम।

संस्कृत में प्रत्येक गण की धातु के साथ अलग-अलग विकरण जोड़ कर प्रत्ययों की सहायता से रूप बनाए जाते थे। चूंकि प्रयोग में आने वाले रूप का ही विकास संभव था, अतः इस विकास प्रक्रिया में विकरण भी मूल धातु के साथ इतना घुल-मिल गया कि आज वह उसका अंग बन गया है। दूसरे शब्दों में विकरण की पृथक् सत्ता नहीं रह गई है। ये विकरण आ० भा० आ० भा० की धातुओं में आज भी देखे जा सकते हैं। नीचे इनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :

(१) -य्- विकरण युक्त धातुएं :— $\sqrt{\text{बुभ्}} \leftarrow \text{सं० } \sqrt{\text{बुध्}} + \text{य्} + \text{ते} \rightarrow \text{प्राकृ० बुभ्भइ, अर्थात् -ध्य-} \rightarrow \text{ब्भ्} \rightarrow \text{भ्}; \sqrt{\text{नाच्}} \leftarrow \text{सं० } \sqrt{\text{नृत्}} + \text{य्} + \text{ति} \rightarrow \text{प्राकृ० नच्चइ अर्थात् -त्य-} \rightarrow \text{-च्च-} \rightarrow \text{-च्-}; \sqrt{\text{जूम्}} \leftarrow \text{सं० } \sqrt{\text{युध्}} + \text{य्} + \text{ते} \rightarrow \text{प्राकृ० जुब्भइ, -ध्य-} \rightarrow \text{-ब्भ्} \rightarrow \text{-भ्-}।$

(२) -नो- विकरण युक्त :— $\sqrt{\text{चिण्}} \leftarrow \text{सं० } \sqrt{\text{चि}} - \text{नो} - \text{ति} \rightarrow \text{प्राकृ० चिणइ, -नो} \rightarrow \text{ण्} \rightarrow \text{-ण्-}, \text{सुण्} \leftarrow \text{सं० } \sqrt{\text{श्रु-}} \sqrt{\text{शृ-}} \text{-णो-ति,} \rightarrow \text{प्राकृ० सुणइ}।$

(३) -ना- विकरण :— $\sqrt{\text{जाण्}} \leftarrow \text{सं० } \sqrt{\text{ज्ञा}} \sqrt{\text{-जा}} - \text{ना-ति}।$

(४) -न्- विकरणसहित, $\sqrt{\text{रुध्}} = \sqrt{\text{रुणध्}}।$

(५) -च्छ- विकरण युक्त :— यह विकरण संस्कृत वैयाकरणों द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं है। पश्चिमी विद्वानों ने सं० $\sqrt{\text{पृच्छ}}, \sqrt{\text{इच्छ}}$ आदि धातुओं में भारोपीय *स्के/ओ विकरण की कल्पना की है। हरि० की $\sqrt{\text{पूछ्}}$ तथा $\sqrt{\text{पोंह्च्}}$ आदि कुछ धातुएं ही इस प्रकार के विकरण सहित उत्तराधिकार में प्राप्त हुई हैं।

७. यहां इस बात का उल्लेख कर देना भी संगत रहेगा कि म० भा० आ० भा० काल में क्रियापदों में केवल ध्वन्यात्मक अथवा औपम्य सम्बन्धी परिवर्तन मात्र नहीं हुआ, अपितु म० भा० आ० भा० के कर्तृवाच्य के अनेक रूप प्रा० भा० आ० भा० के कर्मवाच्य के रूप हैं, संभवतः यह गड़बड़ दिवादि धातुओं के अन्त में लगने वाले '-य्' तथा कर्मवाच्य के अन्त में लगने वाले '-य्-' की समानता के कारण हुई। इसी प्रकार अनेक रूप वर्तमान काल के न होकर भविष्यत् काल के हैं। इस प्रकार के परिवर्तनों के फलस्वरूप यत्किञ्चित् अर्थ-परिवर्तन भी आवश्यक था, उदाहरणार्थ— हरि० सक (सकता है) $\leftarrow$ प्राकृ० सकइ $\leftarrow$ सं० शक्यते (सका जाता है)। इसी प्रकार हरि० तथा अन्य आ० भा० आ० भा० में सीज्, माप्, थाप् भीज्, तप्, जैसी अनेक सिद्ध धातुएं अस्तित्व में आईं।

(२) संस्कृत णिजन्त से उद्भूत सिद्ध-धातुएं—

८. आ० भा० आ० भा० में अनेक धातुएं संस्कृत णिजन्त रूपों से सम्पन्न हुई हैं परन्तु यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि ऐसी सिद्ध-धातुएं अकर्मक न रहकर

सकर्मक हो गई हैं और इन में से प्राचीन भा० आ० भा० का प्रेरणावाला अर्थ पूर्णतः लुप्त हो गया है। दूसरे शब्दों में संस्कृत मूल-धातु से बनने वाली सिद्ध-धातु आ० भा० आ० भा० में भी अकर्मक ही है, परन्तु उसी के शिजन्त रूप से बनने वाली धातु प्रेरणार्थक न होकर सकर्मक धातु बन गई है।

हरियाणवी में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं। नीचे हरियाणवी की ऐसी सिद्ध धातुओं के नमूने प्रस्तुत किए जाते हैं जो प्रा० भा० आ० भा० के शिजन्त रूपों से बने हैं :—

उजाल् (उज्ज्वालयति) उखाड् (सं० उत्-खातयति), संताप् (संतापयति), रांघ् (राधयति), पाड् (सं० स्फाटयति), बांच् (वाचयति), बाह् (वाहयति), हार् (हारयति), मार (मारयति),

(३) तत्सम तथा अर्ध-तत्सम धातुएं—

६. हरियाणवी में बहुत सी धातुएं तत्सम रूप में विद्यमान हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि या तो इनके रूपों में म० भा० आ० भा० काल में कोई परिवर्तन नहीं आया है या पठित तथा शिक्षित लोगों के सम्पर्क से बहुत सी तत्सम धातुएं नए सिरे से भाषा के बोलनेवालों ने अपने दैनिक प्रयोग में ले ली हैं। नीचे इस प्रकार की सिद्ध धातुओं के उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं :

चरच् (चर्च्), चर् (सं० चर्), चूर् (सं० चूरय्), चोर् (सं० चोरय्) दूह (सं० दुह), धस् (सं० ध्वस्) रम् (सं० रम्) रुस् (सं० रुप्), सह (सं० सह), सौज् (सिञ्च्), वरज् (वर्ज), तज् (त्यज्), आदि।

१०. संज्ञापदों तथा क्रियाविशेषणों को जब धातुओं की भांति क्रियापद बनाने के लिए काम में लाया जाता है तब ऐसे क्रियापदों की धातुओं को नाम-धातुओं की संज्ञा प्रदान की जाती है। नामधातु बनाने की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है। प्रा० भा० आ० भा० में प्रयुक्त होने वाली नाम धातुएं आ० भा० आ० भा० को उत्तराधिकार में प्राप्त हुई हैं परन्तु ऐसी धातुएं आ० भा० आ० भा० में सिद्ध धातुएं ही हैं। अब इन्हें नामधातुएं मानना संगत प्रतीत नहीं होता। इनके कतिपय उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

(४) नाम धातुएं—

हरि० ✓ जाम् (पैदा करना, जन्म देना और दूध आदि का जमना) ← प्राकृ० जम्म ← सं० जन्म। हरि० ✓ कील् ← प्राकृ० कीलण ← सं० कीलन। हरि० ✓ चीत् ← प्राकृ० चित्तण ← सं० चित्रण। हरि० ✓ अंगेज् ← सं० अंगवेद्य (अपनाना)। हरि० ✓ तांस् ← सं० त्रास। हरि० ✓ बैठ् ← प्राकृ० बइड्ठ ← सं० उपविष्ट। हरि० ✓ उफण् ← प्राकृ० उफ्फुण ← सं० उत्पतन। हरि० ✓ छोद् ← सं० क्षोभ।

(५) योगज धातुएं—

११. इस श्रेणी की धातुएं प्रा० भा० आ० भा० तथा म० भा० आ० भा० में ही प्रत्ययों के संयोग से बन चुकी थीं। उस समय ये धातुएं चाहे साधित श्रेणी की थीं, परन्तु हरियाणवी को ये परम्परा से बनी-बनाई प्राप्त हुई हैं, अतः इन्हें आ० भा० आ० भा० में सिद्धधातु मानना ही उचित है। इनके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

क प्रत्ययान्त — √चिपक्, √टपक्, √भपक्, √लपक्, √ठिणक्, √सुबक्, √सरक्, √अटक्, √गिटक्, √सटक्, √खटक्, √खडक्, √पटक्, √लटक्, √रडक्, √भडक्।

इ प्रत्ययान्त — √गिरड्, √घुसड्, √लिबड्, √सुकड्।

ट प्रत्ययान्त — √चिमट्, √लिपट्, √भपट्, √घिसट्।

(ख) साधित धातुएं—

(१) कर्म-सापेक्ष धातुएं—

१२. कर्म-निरपेक्ष धातुओं के साथ 'आ' प्रत्यय के संयोग से कर्म-सापेक्ष धातुएं बनती हैं। इस प्रकार से मूल कर्म-निरपेक्ष (अकर्मक) धातु कर्म-सापेक्ष धातु बन जाती है और जो धातु पहले से ही कर्म-सापेक्ष है वह -आ प्रत्यय के संयोग पर कर्मान्तर सापेक्ष हो जाएगी। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

√उठा = उठ् + आ।

√लहुका = लहुक् + आ, इसका रूप √लह्को भी मिलता है जिसमें स्वर व्यत्यय से आदि -उ अन्तिम -आ के साथ मिल गया है।

डुवा = डूव् + आ, इसका दूसरा रूप √डवो भी मिलता है। यहां भी ऊपर वाली स्थिति समझनी चाहिए।

कर्मान्तर सापेक्ष धातुएं—√मिला = मिल् + आ, √परखा = परख् + आ,

√प्या = पी + आ।

विशेष :—कर्म निरपेक्ष धातुओं से कर्म सापेक्ष धातुएं बनाने का नियम लगभग सभी धातुओं पर लागू होता है तथापि कई एक ऐसी धातुएं भी मिल जायेंगी जिनसे कर्म सापेक्ष रूप सम्पन्न नहीं होते, यथा :—

√खा, √सो, √चाह्, √जा, √आ, √कह्, √रह् इत्यादि।

१३. 'आ' की व्युत्पत्ति :—कर्म सापेक्ष धातुएं वस्तुतः प्राचीन णिजन्त धातुओं का ही प्रतिरूप हैं जो अपने प्राचीन रूप को त्याग कर सकर्मक अथवा द्विकर्मक धातुएं बन गई हैं। अतः यह 'आ' प्रत्यय ← सं० -आप् प्रत्यय है। संस्कृत में दूसरा प्रेरणार्थक प्रत्यय 'आय्' था जो प्राकृत काल में '-ए' में परिणत हो गया।

(२) प्रेरणार्थक धातुएँ—

१४. पहले कहा जा चुका है कि प्रा० भा० आ० भा० के प्रेरणार्थक रूप अपना प्रेरणासंबंधी अर्थ छोड़ बैठे थे, अतः आधु० भा० आ० भा० में प्रेरणा अर्थ द्योतन के लिए नए सिरे से प्रेरणार्थक धातुओं की संरचना करनी पड़ी। हरियाणवी में लगभग सभी कर्म-निरपेक्ष धातुओं के साथ -उआ प्रत्यय के संयोग से प्रेरणार्थक क्रियाएँ बनाई जाती हैं। 'आ', जा, चाह आदि कुछ एक धातुओं के प्रेरणार्थक रूप संपन्न नहीं होते, इनके प्रेरणार्थक रूप बनाने के लिए नई धातुएँ और संबंधित प्रत्यय ही काम में लाने होंगे। वास्तव में इनके प्रेरणार्थक रूप सम्पन्न होने में कोई बाधा तो नहीं है और पूर्वकालिक क्रियाओं से संयुक्त पद बनाते समय इनके रूप प्रयोग में लाए जाते हैं पर वह प्रेरणा के अर्थ को व्यक्त न करके मूल धातु के अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं यथा—जाणा-जुआणा किम्मे काम नहीं आँहा (जाना किसी काम नहीं आता)।

‘रह’ धातु से प्रेरणार्थक धातु ‘रखुआ’ उपलब्ध होती है।

हरियाणवी के कतिपय प्रेरणार्थक रूपों के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

धातु	प्रेरणार्थक रूप	धातु	प्रेरणार्थक रूप
बल् (जलना)	बलुआ	लहुक् (छिपना)	लहुकुआ
मिल्	मिलुआ	चिमक् (चमकना)	चिमकुआ
पिंघल्	पिंघलुआ	जग्	जगुआ
पी	पिवा ^१	सो	सुआ
कह्	कुहा	दिख्	दिखुआ
छुट्	छुटुआ	इब्	डुबुआ
भीज्	भिजुआ, भिवा ^१	निबड् (खतम होना)	निबडुआ
सांपड् (खतम होना)	संपडुआ	ले	लिआ ^१
गिर	गिरुआ		

१५. हरियाणवी में -उआ प्रत्यय की व्युत्पत्ति :—हरियाणवी प्रेरणार्थक प्रत्यय

१. ऊपर ‘भिवा’, ‘लिवा’ और ‘पिवा’ में हरियाणवी ‘-उआ’ प्रत्यय ने मुख सुविधा के कारण ‘-वा’ प्रत्यय का रूप ले लिया है। वस्तुतः इस प्रत्यय का वर्तमान स्वरूप -उआ अस्तित्व में आने से पूर्व यह प्रत्यय ‘-वा’ ही था। अतः यह भी कहा जा सकता है कि यहां ध्वन्यात्मक समीकरण की व्यवस्था न होने से यह ‘उआ’ के रूप में विकसित न होकर ‘-वा’ ही रह गया है।

२. ‘कुहा’ ← कहुआ ← कह् + उआ। यह स्वर व्यत्यय का उदाहरण है।

-उआ का विकास सं० द्विगुणित णिजन्त प्रत्यय से हुआ है, यथा— -आप् + -आप् → -आवाप् → वा- → -उआ। यह प्रत्यय संस्कृत आकारान्त धातुओं के साथ लगाया जाता था। परन्तु प्राकृत काल में अन्य धातुपदों के साथ भी इसके लगाए जाने पर तथा दूसरे णिच् प्रत्यय के '-आय्' → -ए हो जाने पर -आप् का प्रचलन बढ़ गया। णिच् प्रत्यय -आप् के द्विगुणित रूप -आप् + -आप् से ही भो० पु० के -वाव्- तथा -वा वाले और असमिया के -ओवा, -उवा वाले प्रेरणार्थक रूप बने हैं।^१

नाम-धातुएं

१६. आ० भा० आ० भा० ने '-आ' प्रत्यय के संयोग से देशी तथा विदेशी संज्ञापदों से नाम-धातुएं बनाई हैं। इनके उदाहरण निम्नलिखित हैं :

(अ) देशी :

रीत्ता (सं० रिक्त)	✓रित्ता (खाली करना)।
गरम् (सं० गर्व)	✓गर्भा (गर्व करना)।
लाड् (लं लालन)	✓लडा (प्यार करना)।
काम् (सं० कर्म → प्राकृ० कम्म)	✓कमा।
हाथ् (सं० हस्त → प्राकृ० हत्थ)	✓थ्या ← हथा (छीनना)।
गाद्धल् (गंदिल)	✓गिध्ला (गंदा करना)।
भरम् (सं० भ्रम)	✓भर्मा (भ्रम में पड़ना)।
सीला (सं० शीतल) → सं० सील्,	✓सिल्ता (ठंडा करना)।

(आ) विदेशी :

गरम् (फा० गर्म)	✓गर्मा (क्रोध करना)।
सरम् (फा० शर्म)	✓सर्मा (लज्जा करना)।
गरक् (अर० गर्क)	✓गिरका (इतराना)।
गुरा (अर० गुरा)	✓गुरा (मुक्के मारना)।
दाग् ^२ (दाग)	✓दाग् (चिह्नित करना)।

१७. व्युत्पत्ति—नामधातु-रचना में सहायक हरि० प्रत्यय -आ ← सं० प्रत्यय -आय् है। ध्यान देने योग्य बात है कि हरि० में कर्म-सापेक्ष-धातु-प्रत्यय -आ ← सं० आप् तथा नाम धातु प्रत्यय -आ ← सं० -आय् में रूप-सादृश्य के कारण कोई अन्तर नहीं रह गया है।

१. उ० ना० ति० : हि० उ० वि० पृष्ठ ४८६।

२. कुछ ऐसे पद हैं जो मूलतः संज्ञाएं होते हुए भी बिना किसी प्रत्यय की सहायता के धातुओं का काम देते हैं। 'दाग्' ऐसी ही संज्ञाओं का उदाहरण है।

(४) मिश्रित धातुएं—

१८. मिश्रित अथवा संयुक्त धातुपद निम्नलिखित पदों के मेल से बनते हैं :

(क) धातुपद + धातु-पद ।

(ख) संज्ञापद + धातु-पद ।

(ग) क्रिया-विशेषण-पद (कृदन्त) + धातु-पद ।

इनमें पहली प्रकार के उदाहरण समस्त आ० भा० आ० भा० में विरले ही हैं। हरि० में अन्य दो प्रकार के उदाहरण प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। इसी श्रेणी की धातुओं का विवेचन आगे चलकर संयुक्त क्रियाओं में भी किया गया है। (देखिए आगे ६२) ।

संज्ञापद धातुपदों से रचित संयुक्त अथवा मिश्रित धातुपद

गोह्^xच् काट्णा (पाप काटना, दूर करना, सिर से बला टालना) ।

रांद् काट्णा (वेगार समझ कर कोई काम करना, सिर से बला दूर करना) ।

डां ठाणा (नाम लेना, बोलना) ।

उध्मस् तारणा (उधम उतारना) ।

गजव् ढाणा (गजव ढाना) ।

चाला कर्णा (कमाल करना) ।

गुरभण् भरण्णा (पीटना) ।

चांद् चढाणा (कोई अनोखी बात करना) ।

गोत्ते खाणा (गोता खाना, डुबकी लगाना) ।

क्रिया विशेष्य (कृदन्त) पद + धातुपद

उठ्-बैठणा, चाल्-पड़ना, कर-बैठणा, ले-आणा ।

(५) ध्वन्यात्मक अथवा अनुकरणज धातुएं

१९. ध्वन्यात्मक धातुओं को नामधातु माना जा सकता है क्योंकि ध्वनिविशेष के नाम (संज्ञा) के साथ 'आ' प्रत्यय जोड़ कर ही इनकी रचना होती है। चूँकि ध्वनि-विशेष को इनका उद्गम मान लिया गया है, इस लिए इन्हें एक अलग श्रेणी में भी रखा जा सकता है। इन में आवृत्ति-मूलक पदों की संख्या अधिक है, वैसे साधारण पद, यथा—धूक्, छीक्, खांस् भी ध्वन्यात्मक हैं। ऐसे पद परम्परागत धातुपद हैं जो इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं। आवृत्तिमूलक ध्वन्यात्मक धातुओं को ही इस श्रेणी की मुख्य धातुएं मानना चाहिए। हरि० में इसके उदाहरण निम्न लिखित हैं :—

✓विल्विला, ✓छण्-छणा, ✓चिल्-चिला, ✓धङ्-धड़ा, ✓बङ्-बड़ा,

✓थर्-थरा, ✓फिप्-फिमा, ✓फर्-फरा, ✓कड़कड़ा आदि ।

(ग) देशी और संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली धातुएं—

२०. प्राकृत वैयाकरणों ने ऐसे पदों को देसी धातुओं की संज्ञा प्रदान की है जिन्हें वे प्राचीन भारतीय आ० भा० संस्कृत से सिद्ध न कर सके। ऐसे पदों में धातुपद भी पर्याप्त संख्या में हैं ।

हरि० में प्राकृत से प्रचलित धातुपद तथा उसके बाद की ऐसी अन्य धातुएं विद्यमान हैं जिनकी व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ भी कह सकना अत्यन्त कठिन है। अतः हम इन्हें (१) प्राकृत कालीन देसी, तथा (२) संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली धातुओं की श्रेणी में विभक्त करेंगे ।

२१. हरियाणवी की कतिपय देसी धातुएं और उनके प्राकृत रूप दिए जाते हैं—

हरि० धातुएं	प्राक० धातुएं	हरि० धातुएं	प्राक० धातुएं
खोज्	खोज्ज	घाल् (भोजना, बर्तन में डालना)	घल्ल
घुरक्	घुरुक्क	चाट्	चट्ट
चढ्	चढ	चाह्	चाह्
चूक्	चुक्क	छूह्	छिह्
थक्	थक्क	पलट्	पल्लट, पलट्ट
फूल्	फुल्ल	बोल्	बुल्ल, बोल्ल
मुकला	मोकल्ल	हांक्	हक्क
हाल् (हलना)	हल्ल	हेर् (पशुओं को इधर-उधर से इकट्ठे करना)	हेर
रह्	रह	रुल्	रुल
लहुक्	लिहक्क	लोट्	लोढ
बिटाल्	बिटाल	बुण्	बुण्ण ।

२२. हरि० में संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली कुछ धातुएं नीचे दी जाती हैं :—

✓आंवट् (उबलना), ✓ऊक् (रह जाना, चूकना), ✓अफर्, ✓कुल्लेढ् (चिंता करना), ✓कुचेर् (छेड़ना), ✓कुरेल्, ✓खिड् (बिखरना), ✓खे (सहन करना), ✓खो (गुम करना), ✓गोड् (घुमाना), ✓गूच् (आकाश से गिरती हुई वस्तु को हाथ में संभाल लेना), ✓गुम् (बीमारी में बुरी तरह फंसना), ✓चभक् (पीड़ा करना), ✓चसक् (पीड़ा करना), ✓जर् (विश्वास करना), ✓छांग् (वृत्त की दहनियों को अलग अलग करना), ✓मो (चक्की चलाना), ✓टोह् (ढूँढना), ✓टूल्ह् (तंद्रा के

वशीभूत होकर ऊँघना), √ठूस् (जबरदस्ती अन्दर धकेलना), √ढिसल् (आचरण से गिरना), √ढे (गिरना), √सोहर् (बुहारना), √हूस (एकत्रित करना), √हूज् (पानी आदि को बुहार कर समेटना) आदि।

अकर्मक तथा सकर्मक क्रियाएं

२३. पहले हम ने समस्त धातुओं को रचना के आधार पर (१) सिद्ध, (२) साधित तथा (३) संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली धातुओं की श्रेणी में विभक्त किया था। अब इन्हीं को अकर्मक तथा सकर्मक वर्गों में रख सकते हैं। सामान्यतः तद्धव सिद्ध-धातुएं अकर्मक हैं, यथा— √कट्, √मर्, √जी आदि और णिजन्त रूपों से आने वाली सिद्ध धातुएं प्रायः सकर्मक हैं, यथा— √काट्, √मार् आदि। परन्तु यह नियम सर्वथा ठीक नहीं समझना चाहिए क्योंकि √चाल्, √बेट्, √नाच् आदि सं० प्रेरणार्थक रूपों से आने वाली सिद्ध धातुएं हैं तथापि हरि० में ये अकर्मक धातुएं ही हैं। इसी प्रकार 'पी' मूल-धातु है परन्तु सकर्मक है। कर्म की अपेक्षा रखने वाली धातुओं को सकर्मक तथा अपेक्षा न रखने वाली धातुओं को अकर्मक धातुओं की श्रेणी में रखा जाता है। हरि० साधित धातुएं सभी सकर्मक अथवा द्विकर्मक हैं। ध्यान रहे कि हमने स्पष्टता के विचार से कर्म-सापेक्ष और कर्म-निरपेक्ष शब्दों का प्रयोग किया है। (देखिए पीछे १२)।

धातु-रूप प्रक्रिया

२४. हरियाणवी धातुओं के उद्गम पर विचार कर लेने के पश्चात् धातु-रूपों पर विचार करना अपेक्षित है। आ० भा० आ० भा० की धातु रूप प्रणाली सर्वथा नवीन तथा एक दम मौलिक है। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इसका प्राचीन रूप रचना अथवा रचना पद्धति से कोई संबंध ही नहीं है। इसके विपरीत वर्तमान रूपों और इनकी विश्लेषणात्मक रचना शैली के अंकुर प्रा० भा० आ० भा० में विद्यमान हैं। (इस तथ्य पर यथास्थान प्रकाश डाला जाएगा)।

विभिन्न प्रत्ययों की सहायता से (जिन का उल्लेख आगे यथास्थान किया जाएगा) हरि० धातुओं के रूप लगभग एक ही प्रकार से सम्पन्न होते हैं। यहां यत्र-तत्र स्वर-संकोचन के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की अनियमितता नहीं मिलेगी। स्वर संकोचन के उदाहरण—लेऊं → ल्यूं, गया → ग्या, र्ह्या → र्ह्या, आदि समझे जा सकते हैं। वैसे √जा धातु को अनियमित कहा जा सकता है क्योंकि भूतकाल की रचना के समय यह 'गया' का रूप धारण कर लेती है।

प्राचीन रूप रचनापद्धति के दृष्टिकोण से हरि० धातु रूपों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—तिङन्त तथा कृदन्त (पूर्वकालिक अथवा असमापिका पदों को भविष्यन् कालीन कृदन्त ही समझना चाहिए)। तिङन्त रूपों को प्रत्यय संयोगी रूप भी कहा जा सकता है। इसी वर्गीकरण को सरल या साधारण रूप तथा

यौगिक रूपों का नाम दिया जा सकता है। सरल अथवा साधारण रूप आ० भा० आ० भा० के तिङ् प्रत्ययों के विकसित रूपों की सहायता से सम्पन्न होते हैं जबकि यौगिक रूप सम्पन्न करने के लिए सहायक क्रियाओं की सहायता लेनी पड़ती है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, कुछ कालों के रूप सम्पन्न करने के लिए हमें तिङन्त रूपों के साथ सहायक क्रियाएं लगानी पड़ती हैं और कतिपय अन्य कालों के रूपों के लिए कृदन्त रूपों के साथ सहायक क्रियाएं लगानी पड़ती हैं। इनके अतिरिक्त हरि० धातु रूप रचना प्रक्रिया में संयुक्त क्रियाएं अपना विशेष महत्त्व रखती हैं। (विशेष चर्चा के लिए देखिए (६२) और आगे)।

२५. हरि० धातुओं के रूप पुरुष, वचन, प्रकार वाच्य एवं काल की दृष्टि से भिन्न २ होते हैं। तिङन्त रूपों पर लिंग का प्रभाव नहीं पड़ता और इसी प्रकार 'था' तथा 'गा' सहायक क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य सहायक क्रियाओं की सहायता लेकर तिङन्त रूपों से उद्भूत विभिन्न कालों के रूपों पर भी लिंग का प्रभाव नहीं पड़ता। शेष रूपों में हिन्दी की भांति लिंगभेद विद्यमान है (पुंलि० एक व० के रूपों में '-आ' बहु व० के रूपों में -ए, -ए, -एँ, स्त्री लि० एक व० में -ई तथा बहु व० में -आ, मिलते हैं)। इसका मूल कारण यह है कि कृदन्त वस्तुतः धातुजात विशेषण हैं जिनमें लिंग विकार परम्परागत है, यथा—'सः गतः' और 'सा गता'। पुरुष भेद तीन प्रकार का है—उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष, और अन्य पुरुष। अन्य रूपों की भांति धातुरूपों से भी द्विवचन के रूप बहुत पहले ही लुप्त हो चुके हैं। प्रकार, वाच्य एवं काल पर आगे विचार किया जाता है।

प्रकार

२६. डा० कैलाश ने हिन्दी में चार 'प्रकार' माने हैं—निर्देशक, आज्ञा अथवा अनुज्ञासूचक, घटनान्तरापेक्षित या संयोजक प्रकार तथा पूर्वकालिक^१। तदनुकुल हरि० में भी चार ही प्रकार समझने चाहिए। चूंकि निर्देशक तथा आज्ञा अथवा अनुज्ञासूचक प्रकार के रूप प्राचीन भा० आ० भा० (संस्कृत) के वर्तमान निर्देशक प्रकार तथा आज्ञासूचक प्रकार के रूपों के सम्मिश्रण के फलस्वरूप सम्पन्न हुए हैं, अतः मध्यम पुरुष एक व० के रूपों के अतिरिक्त अन्य रूपों में अन्तर नहीं रह गया। पूर्वकालिक प्रकार के रूप-णा से सम्पन्न होते हैं। डा० कैलाश के अनुसार ये क्रिया के भाव प्रकट करने वाली धातुजात संज्ञाएं ही हैं। इनका प्रयोग कहीं कहीं भविष्यत् कालीन आज्ञा-सूचक प्रकार के रूप में ही होता है या ये भाव-वाचक क्रियाओं के लिए प्रयुक्त होते हैं।

२७. घटनान्तरापेक्षित अथवा संयोजक प्रकार वर्तमान-कालिक कृदन्त 'खाँदा', 'पौँदा', 'सौँदा' आदि रूपों तथा 'जें' संयोजक की सहायता से व्यक्त किया जाता है, यथा—'जें में सौँदा' आदि। यह प्रकार वैदिक काल में बहुत प्रचलित था, परन्तु

लौकिक संस्कृत में इसे स्थान न मिल सका^१। इस प्रकार का भाव अप० में 'जइ' लगा कर अभिव्यक्त किया जाता था, यथा—सेर इक्क जइ पाविइ धित्ता (यदि एक सेर घी पाता)। (प्राकृत पैंगल पृष्ठ २११)^२।

वाच्य

२८. प्रा० भा० आ० भा० (संस्कृत) में वाच्य तीन होते हैं—कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य तथा भाव-वाच्य। विद्वानों ने आ० भा० आ० भा० में कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य को ही मान्यता प्रदान की है। 'मन्तं जाणा सें' वाक्य में 'मन्तं' (मुझे) को करण का रूप मान लिया जाए तो यह भाववाचक अभिव्यक्ति का सुन्दर उदाहरण है। आ० भा० आ० भा० में कर्मवाच्य का साधारणतः कम ही प्रयोग होता है, तथापि यत्र-तत्र प्रयोगों के लिए भी अपेक्षित रूपों की आवश्यकता तो होती ही है। हरि० के कर्मवाच्य के रूपों का विवेचन प्रत्येक काल के साथ अपेक्षानुसार किया जाएगा फिर भी रूप-निर्माण के सामान्य से सिद्धान्त का उल्लेख नीचे किया जाता है।

२९. संस्कृत में कर्मवाच्य के रूप अन्य रूपों की भांति संश्लेषात्मक होते थे परन्तु आ० भा० आ० भा० की भांति हरि० कर्मवाच्य के रूप भी विश्लेषात्मक हैं। ये निम्नलिखित ढंग से सम्पन्न किए जाते हैं :—

(१) मूल-धातु जहां कर्म-निरपेक्ष है वहां मूल-धातु से कालानुसार प्रत्यय तथा सहायक क्रिया के संयोग से, यथा :—

कट्ठें सें (कटते हैं या काटे जाते हैं), बड्डें सें (बंटते हैं या बांटे जाते हैं)।

(२) संस्कृत प्रेरणार्थक रूप से उद्भूत सिद्ध धातुओं के साथ -इ प्रत्यय के संयोग से, यथा :—

वांच्—बांचिएं सें (वांचे जाते हैं), (वांच् + इ + एं सें), बाचिए गा (वांचा जाएगा)।

काट्—काटिएं थे (काटे जाते थे), काटिए सें (काटा जाता है)।

-इ- का उद्गम—सं० भाववाचक तथा कर्मवाचक रूपों का प्रत्यय -य → -इय-, -इय्य-, -ईय → हरि० -इ-।

(३) कालानुसार ✓जा के संयोग से समस्त-क्रियापद बना कर। समस्त अथवा संयुक्त क्रियापद बनाने की प्रवृत्ति आ० भा० आ० भा० की नवीनतम प्रवृत्ति है जिसे आवश्यकता की देन समझना अधिक संगत होगा।

१. उ० ना० ति० : हि० उ० वि० पृष्ठ ४९५।

१. हि० उ० वि० पृष्ठ ४९५ से उद्धृत।

काल-रचना

३०. पहले लिखा जा चुका है कि आ० भा० आ० भा० की धातु-रूप-रचना-पद्धति प्रा० भा० आ० भा० की धातु-रूप-रचना-पद्धति से आगे निकल गई है। इसका कारण प्रा० भा० आ० भा० की धातु रूप रचना पद्धति का अत्यन्त पेचीदा होना था। अतः संस्कृत के सभी काल आ० भा० आ० भा० में न आ सके, उदाहरणार्थ संस्कृत में भूतकाल के लिए लिट्, लुङ् और लङ् लकार थे। मोटे तौर पर 'लिट्' का प्रयोग परोक्ष अर्थ में अर्थात् ऐसी क्रिया के लिए जो वक्ता के सामने घटित न हुई हो, हुआ करता था (यथा—जघान कंसं किल वासुदेवः—भगवान् कृष्ण ने कंस को मारा), आसन्न-भूत में केवल लुङ् लकार ही प्रयुक्त हो सकता था, (यथा—अपां सोमममृता अभूम-ऋक्-हम ने सोमरस पिया है और हम अमर हो गए हैं) और अनद्यतन कालके अर्थ में लङ् का प्रयोग होता था (यथा—भारतवर्षेऽशोको नाम सम्राडासीत्—भारतवर्ष में अशोक नाम का सम्राट् हो चुका है)। इन तीनों लकारों के प्रयोग के ये अत्यन्त स्थूल उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त भी इनके प्रयोगों में अनेक प्रकार की बारीकियाँ और पेचीदगियाँ विद्यमान थीं जिन से हमारा विशेष संबंध नहीं है। इन जटिलताओं के कारण कालान्तर में इन का प्रयोग बहुत कम प्रचलित रह गया। सामान्य व्यक्ति ने अपना काम चलाने के लिए अर्थात् अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए इनके स्थान पर वृद्धन्त रूपों को अपना लिया। भूतकाल की देखादेखी वर्तमान काल के प्रयोगों के लिए भी शतप्रत्ययान्त रूप अपनाए जाने लगे। इस तरह धीरे-धीरे और ज्यों-ज्यों इनका व्यवहार बढ़ने लगा त्यों-त्यों पिछला काल विभाजन धुंधला पड़ने लगा। हो सकता है कि किसी समय अभिव्यक्ति की अस्पष्टता रही हो परन्तु जन-मानस का अन्तश्चेतन एक मार्ग बंद देख कर अपना काम चलाने के लिए दूसरा मार्ग खोज लिया करता है। पिछले युग के लकारों से विछुड़ने के पश्चात् और अभिव्यक्ति की स्पष्टता के लिए कुछ एक सहायक क्रियाओं का सहारा लिया गया जिनसे एक और कालरचना की नवीन पद्धति का उदय हुआ तो दूसरी ओर कुछ एक अन्य सहायक क्रियाओं ने क्रिया के मूलभाव को स्पष्ट करने का काम किया। कालरचना में सहायक होने वाले पद सहायक-क्रिया-पद कहलाते हैं तो दूसरी श्रेणी के पद मूल-क्रिया के साथ मिलकर संयुक्त क्रियापदों को जन्म देते हैं। परन्तु ध्यान देने योग्य बात इतनी ही है कि यह पद्धति आ० भा० आ० भा० की कोई नई उपज नहीं है। इसके बीज प्रा० भा० आ० भा० में ही विद्यमान थे। इसी बात को अधिक स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि संस्कृत कालीन 'कुर्वन्नस्ति' और 'कुर्वन्नासीत्' जैसे पदों ने विकास के सोपान पर अग्रसर होकर 'करता है' और 'करता था' जैसे रूपों और फलस्वरूप विभिन्न कालों को जन्म दिया है तो 'कर्तुम् शक्नोमि' और 'सोढुं न समर्थः' जैसे पदों ने 'वाक्य-खण्डात्मक रचना शैली' को जन्म दिया है। पाणिनि का सूत्र—शक्-धृष्-ज्ञा-ग्ला-घट्-रम्-लभ्-क्रम्-सह्-अर्हास्त्यर्थेषु तुमुन्—इस का प्रमाण है। वस्तुतः देखा जाए तो रामायण और महाभारत काल में ही कृदन्तों का प्रयोग बढ़ चुका था। चूंकि कृदन्त एक प्रकार से विशेषण थे, अतः इनके लिंग-वचन का संबंध कर्ता के

साथ जुड़ा रहता था। इन कृदन्त रूपों के साथ ✓अस्, ✓आस्, ✓भू, ✓वृत् तथा ✓स्था जैसी धातुओं को अतुपूरक धातुओं के रूप में जोड़ दिया गया। ज्यों-ज्यों ऐसे रूपों का प्रचलन बढ़ता गया त्यों-त्यों इनमें पारस्परिक तादात्म्य स्थापित होने लगा और म० भा० आ० भा० के काल तक पहुँचते-पहुँचते इनका व्यवहार इतना बढ़ गया और इनकी रचनाशैली इतनी विचित्र सी हो गई कि कई एक विद्वान इन रूपों को देख कर इनमें 'समस्त-कालों' तक की संभावना देखने लगे। वास्तव में 'समस्त-काल' जैसी कोई वस्तु हमारे यहाँ न है न कभी थी। रचना शैली के विचार से आ० भा० आ० भा० में संयुक्त क्रियाएँ हैं। (देखिए आगे ६२)। इन क्रियाओं की धातुओं को समस्त अथवा संयुक्त-धातु की संज्ञा दी जा सकती है और ऐसी समस्त धातुएँ अथवा समस्तपद प्रा० भा० आ० भा० तथा म० भा० आ० भा० में भी विद्यमान थे। आ० भा० आ० भा० में भाषा की विश्लेषात्मक पद्धति के कारण इनका प्रचार दिन प्रति दिन बढ़ रहा है। अस्तु, आ० भा० आ० भा० में दो प्रकार की सहायक क्रियाएँ मिलती हैं। एक प्रकार की सहायक क्रियाएँ वे हैं जो हमारे विभिन्न कालों के पद-निर्माण में सहायक होती हैं (देखिए काल-विवेचन) और दूसरे प्रकार की सहायक क्रियाएँ मूल क्रिया के भाव उभारने, कुछ सीमा तक बदल कर उसे सुहावरेदार अभिव्यक्ति का रूप देने में सहायक होती हैं। 'समस्त-काल' के संबंध में इतना और कह देना पर्याप्त रहेगा कि जिन क्रियापदों को देखकर उनमें कालों के समास का आभास मिलता है, उन में दो धातु पद अवश्य विद्यमान हैं परन्तु दो काल जुड़े हुए नहीं होते। दोनों पद मिलकर (चाहे वे अलग-अलग रहते हुए किन्हीं दो कालों का भान करायें) उस पद में केवल एक ही काल की रचना करते हैं। अतः रचना शैली को देखते हुए हम उन्हें 'यौगिक पद' की संज्ञा प्रदान कर सकते हैं और ऐसे कालों को 'यौगिक पदों' से अभिव्यक्त होने वाला काल समूह कहा जा सकता है।

३१. रूप विचार से हरि० क्रियाओं के कालों को निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है :-

(क) सरल या मौलिक रूपों वाला काल समूह

(१) तिङन्त या प्रत्यय संयोगी—

(अ) वर्तमान इच्छार्थक। (आ) वर्तमान आज्ञार्थक।

(२) कृदन्तीय—

(अ) भविष्यत् आज्ञार्थक। (आ) साधारण अतीत।

(इ) कारणात्मक अतीत।

१. रा० चं० ना० व० : व० क० इ० ए० पृष्ठ २८६।

२. रा० चं० ना० व० : व० क० इ० ए० पृष्ठ २४६—२५०, २५४—२६७ (संस्कृत धातुएं) तथा २६८—२७२ (प्राकृत धातुएं)।

(ख) यौगिक रूपों वाला कालसमूह

(अ) तिङन्त रूपों के साथ सहायक क्रियाएं लगाकर—

(१) घटमान वर्तमान — कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य ।

(२) घटमान भूत—कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य ।

(३) सामान्य भविष्यत्—कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य ।

(४) संदिग्ध भविष्यत् (आसन्न भविष्यत्)—कर्तृवाच्य तथा कर्मवाच्य ।

(आ) (१) सापेक्ष वर्तमान । (२) सापेक्ष भूत । (३) सापेक्ष भविष्यत् ।

(४) घटमान संभाव्य वर्तमान । (५) घटमान भविष्यत् ।

(६) घटमान संभाव्य अतीत ।

(७) पुराघटित वर्तमान । (८) पुराघटित भूत ।

(९) पुराघटित संभाव्य वर्तमान । (१०) पुराघटित भविष्यत् ।

(११) पुराघटित संभाव्य अतीत ।

३२. सरल या मौलिक रूपों वाला काल समूह—जैसे ऊपर कहा जा चुका है कि हरि० में रचना की दृष्टि से एक सरल या मौलिक रूपों वाला कालसमूह है, अर्थात् इस कालसमूह के रूपों की रचना कुछ प्रत्ययों की सहायता से होती है तो दूसरा यौगिक रूपों वाला काल समूह है (देखिए ३१ ख) ।

यहां हम प्रथम वर्ग के रूपों पर विचार करेंगे ।

(१) तिङन्त या प्रत्यय संयोगी :

(अ) वर्तमान इच्छार्थक—इस काल के प्रत्यय निम्नलिखित हैं :—

पहला वर्ग

	एक व०	बहु व०
उ० पु०	-ऊं	-आं
म० पु०	-ए, ० (शून्य)	-ओ
अ० पु०	-ऐ	-ऐं

दूसरा वर्ग

	एक व०	बहु व०
उ० पु०	-आं	-वां
म० पु०	-० (शून्य)	-ओ
अ० पु०	-वै	-वैं

व्याख्या :—हरि० में वर्तमान इच्छार्थक काल के रूप सिद्ध करने के लिए ऊपर दो वर्ग के प्रत्यय दिए गए हैं। इनमें पहले वर्ग के प्रत्यय आकारान्त धातुओं के अतिरिक्त अन्य धातुओं के साथ जुड़ कर वर्तमान इच्छार्थक के रूप बनाते हैं जबकि आकारान्त धातुओं के साथ केवल दूसरे वर्ग के प्रत्यय लगते हैं तथापि आकारान्त धातुएं उत्तम पुरुष में प्रथम वर्ग के प्रत्ययों के योग से भी वैकल्पिक रूप बनाती हैं। दोनों वर्गों के प्रत्ययों से निर्मित ✓चाल् तथा ✓जा के रूप नीचे दिए जाते हैं :—

✓चाल् : वर्तमान इच्छार्थक के रूप

	एक व०	बहु व०
उ० पु०	चाल्लूं	चाल्लां
म० पु०	चाल्ले, चाल्	चाल्लो
अ० पु०	चाल्ले	चाल्लें

✓जा : वर्तमान इच्छार्थक के रूप

	एक व०	बहु व०
उ० पु०	जां, जाऊं	जावां, जां
म० पु०	जा	जाओ
अ० पु०	जावें	जावें

३३. वर्तमान आज्ञार्थक :—हरि० में वर्तमान आज्ञार्थक के रूप भी उपरिनिर्दिष्ट प्रत्ययों की सहायता से सम्पन्न होते हैं। म० पु० के आदर-सूचक रूप से भिन्न हैं। म० पु० के आदर-सूचक रूपों पर विचार आगे किया जाएगा (देखिए (३५)। यहां वर्तमान इच्छार्थक तथा वर्तमान आज्ञार्थक कालों के सम्बन्ध में इतना जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि रूप समानता होते हुए भी प्रयोग के दृष्टिकोण से एक ही रूप को दो कालों के अन्तर्गत लेना पड़ता है यथा :

(१) तैं जा में ऑप्पे देख ल्युंगा (तू जा में आप ही देख लूंगा)।

(२) जा रं बेव्वे नैं हेल् ठुआ दिए (अरे जा और बहिन को गोबर का तंसला उठवा दे)।

उपरिनिर्दिष्ट दोनों वाक्यों में 'जा' पद विद्यमान है। पहले वाक्य में वर्तमान इच्छार्थक का पद है तो दूसरे में आज्ञार्थक अथवा अनुज्ञार्थक वर्तमान का पद है। अतः इन दोनों को रूप-विचार से एक ही पद मानते हुए भी प्रयोग के विचार से इन्हें दो भिन्न-भिन्न कालों के निर्देश के लिए अथवा दो कालों का अन्तर स्पष्ट करने के लिए हरि० में अलग-अलग प्रत्यय नहीं हैं।

३४. व्युत्पत्ति :—ऊपर हम देख चुके हैं कि हरि० के वर्तमान रूप काल-भेद

व्यक्त करने में असमर्थ हैं। इसका कारण यह है कि म० भा० आ० भा० काल में ही प्रा० भा० आ० भा० काल के आज्ञार्थक तथा इच्छार्थक रूपों में व्यत्यय होने लग गया था और कालान्तर में ये रूप एक दूसरे के इतने निकट आ गए कि उनके रूपों में काल-भेद नहीं रह पाया। म० भा० आ० भा० के उपलब्ध रूपों को देखकर यह धारणा बनती है कि वैयाकरण दोनों कालों में अन्तर मानते थे और लिखित साहित्य में दोनों कालों के अलग-अलग रूपों के होते हुए भी यह कहना ठीक नहीं है कि अमुक रूप म० भा० आ० भा० में आज्ञार्थक है। अतः ये प्रा० भा० आ० भा० के आज्ञार्थक रूप का ही विकसित रूप हैं। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि म० भा० आ० भा० काल में दोनों कालों के रूपों में व्यत्यय हुआ, समानता के कारण वे एक दूसरे के निकट नहीं आए, परन्तु कालों की भिन्नता ने उन्हें अधिक निकट नहीं आने दिया अर्थात् दोनों रूपों में अन्तर रहा, चाहे वह थोड़ा ही क्यों न हो। अस्तु, उन दो रूपों को देख कर प्रयोग के विचार से उन्हें किसी प्राचीनतर रूप के साथ जोड़ देना भी युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, उदाहरणार्थः—प्राकृत में उ० पु० बहु व० का वर्तमान इच्छार्थक का रूप 'चलाम' है और वर्तमान आज्ञार्थक का रूप 'चलामो' है। प्रा० भा० आ० भा० में वर्तमान इच्छार्थक का यही रूप 'चलामः' है तो आज्ञार्थक का रूप 'चलाम' है। इस लिए प्राकृ० चलाम ← सं० चलामः और चलामो ← सं० चलाम मानना उचित प्रतीत नहीं होता। इसका स्पष्ट सा कारण यह कि प्राकृ० आज्ञार्थक रूप -ओ अन्तक है और विकास-क्रम के अनुसार—(अर्थात् अन्तिम विसर्ग) ही -ओ को सिद्ध करती हैं परन्तु प्रा० भा० आ० भा० के आज्ञार्थक रूप में अन्तिम विसर्गों का अभाव है। इस लिए इस रूप को अर्थात् प्राकृ० आज्ञार्थक 'चलामो' को सं० इच्छार्थक 'चलामः' से जोड़ना अधिक संगत जान पड़ता है न कि आज्ञार्थक 'चलाम' को सं० आज्ञार्थक 'चलाम' से। यदि ऐसा मान लिया जाए तो प्राकृ० इच्छार्थक 'चलाम' को सं० आज्ञार्थक 'चलाम' का विकसित रूप मानने में कोई आपत्ति दिखाई नहीं देती। इस लिए हमारा विचार है कि म० भा० आ० भा० के अन्तर्गत प्रा० भा० आ० भा० के दोनों कालों के रूपों में पारस्परिक व्यत्यय हुआ है। सामान्य बोलचाल की भाषा में और भी अधिक व्यत्यय की संभावना को प्रश्रय देते हुए हम यह कह सकते हैं कि हरि० के आधुनिक रूप प्रा० भा० आ० भा० के दोनों कालों के मिश्रण स्वरूप अस्तित्व में आए हैं। अतः ये दोनों कालों के बोधक हैं।

नीचे उपरिनिर्दिष्ट (३२) दोनों वर्गों के प्रत्ययों की व्युत्पत्ति पर विचार किया जाता है :

- (१) उ० पु० (प्रथम वर्ग) एक व० -ऊं ← अप० -उ' ← प्राकृ० -मु, यथा चलामु (वर्तमान इच्छार्थक) या अप० बहु व० हूँ ← प्राकृ० -म्हो (चलम्हो) ← सं० चलामः (वर्तमान निदेशक)।

- (२) उ० पु० (द्वितीय वर्ग) एक व० -आं ← अप० में इसके मुकाबले का

कोई रूप नहीं मिलता। अतः संभव है कि सं० वर्तमान निर्देशक 'चलामि' के लिए प्राकृत में 'चलामि' के साथ-साथ 'चलाई' रूप भी विद्यमान रहा हो जिससे -आं निष्पन्न हो सकता है।

- (३) उ० पु० (प्रथम वर्ग) बहु व० -आं : यह प्रत्यय व्यत्यय के आधार पर सं० -आमि से निष्पन्न दिखाई देता है। वीम्स ने भी इसी प्रकार की संभावना व्यक्त की है।
- (४) उ० पु० (द्वि० वर्ग) बहु व० : -वां : इस रूप का विकास प्रा० भा० आ० भा० के वर्तमान निर्देशक रूप 'चलामः' के -मः म० भा० आ० भा० के -आमो, -आमा से हुआ है। यहां -म्- → -वं- हुआ प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि यह प्रत्यय, चूंकि आकारान्त धातुओं के साथ लगता है, अतः इनके साथ पहले वर्ग का प्रत्यय -आ जोड़ते हुए दो सम्पर्की स्वरों के बीच -व्- श्रुति का सन्निवेश कर लिया गया हो।
- (५) द्वितीय पुरुष एक व० : दूसरे वर्ग के रूपों के साथ कोई प्रत्यय नहीं लगता और पहले वर्ग के रूपों में भी विकल्प से कोई प्रत्यय नहीं लगता। अतः ये रूप प्रा० भा० आ० भा० तथा म० भा० आ० भा० के द्वि० पु० एक व० 'चल' के प्रतिनिधि हैं जिन से अन्तिम 'अ' लुप्त हो गया है।
- (६) म० पु० (द्वितीय पुरुष) एक व० पहले वर्ग में -ऐ प्रत्यय के संयोग से वैकल्पिक रूप सम्पन्न होता है। यह प्रा० भा० आ० भा० के वर्तमान निर्देशक -सि → म० भा० आ० भा० -हि का प्रतिनिधि है जिसमें से -ह्- लुप्त होकर अवशिष्ट -इ पूर्ववर्ती स्वर के साथ मिलकर -ऐ को जन्म देती है।
- (७) अ० पु० एक व० -एँ : -एँ ← म० भा० आ० भा० वर्तमान निर्देशक -ति (यथा, चलति)।
- (८) अ० पु० एक व० -वें (द्वितीय वर्ग) - यह प्रत्यय आकारान्त धातुओं के साथ लगता है अतः उपरिनिर्दिष्ट प्रत्यय -एँ जोड़ते समय सम्पर्की स्वरों के बीच -व्- श्रुति का सन्निवेश कर लिया गया है।
- (९) अ० पु० बहु व० -एँ (प्रथम वर्ग), -वें (द्वितीय वर्ग) —द्वितीय वर्ग में यहां भी प्रथम वर्ग के -एँ के साथ -व्- श्रुति का सन्निवेश किया गया है क्योंकि यह प्रत्यय भी आकारान्त धातुओं के साथ लगता है। -एँ ← म० भा० आ० भा० वर्तमान निर्देशक -हि (अप०) से

आया है जहां साधारण विकास-क्रम के नियमानुसार प्रा० भा० आ० भा० के -अन्ति से -अइं, -इं होना चाहिए था, पर अ० पु० बहु व० -हुं (चलहुं) म० पु० बहु व० -हुं (चलहुं) के सादृश्य पर -इं में 'ह' का आगम हो गया प्रतीत होता है। कालान्तर में यह लुप्त होकर फिर से -इं प्रत्यय रह गया, जिससे हरि० एं रूप सिद्ध होता है।

३५. पीछे (३३) के अन्तर्गत वर्तमान आज्ञार्थक के रूपों पर विचार किया गया था। वहां म० पु० के आदर सूचक रूपों पर विचार स्थागत किया गया था। हरि० में म० पु० आदरसूचक रूप निम्नलिखित प्रत्ययों से बनते हैं :—

वर्तमान आज्ञार्थक (आदरसूचक)

	एक व०	बहु व०
म० पु०	-इए	-इओ
रूपों के उदाहरण :—	✓चाल	चालिओ
	✓जा	जाइओ

३६. व्युत्पत्ति :—उपरिनिर्दिष्ट रूपों की निष्पत्ति आशीर्लिंग के रूपों से हुई जान पड़ती है (आशीर्लिंग के रूप कुर्यात्, दद्यात् आदि बनते हैं)।

एक व० : -या → म० भा० आ० भा० -इय्य → हरि० -इए।

बहु व० : -युः → म० भा० आ० भा० -इयो → हरि० -इओ।

(२) सरल रूपों वाला काल—कृदन्त रूप :

३७. (अ) भविष्यत् आज्ञार्थक—हरि० में भविष्यत् आज्ञार्थक काल के रूप असमापिका से सम्पन्न होते हैं, यथा—जाणां, खाणां, गाणां आदि।

उदाहरण :—उड़ें नहीं जाणां (वहां मत जाना)।

यह रूप प्रा० भा० आ० भा० के भविष्यत् कालीन कृदन्त 'अनीय' से विकास को प्राप्त होकर सम्पन्न हुआ है और भविष्यत् आज्ञार्थक काल का द्योतक है।

३८. (आ) साधारण अतीत—हरि० में साधारण अतीत के रूप निम्नलिखित प्रत्ययों से सम्पन्न होते हैं :—

	एक व०	बहु व०
	पुं० लि०	स्त्री लि०
	पुं० लि०	स्त्री लि०
उ० पु०, म० पु०, अ० पु०	-आ	-ई
	-ई	ए
		-ई

चूंकि ये रूप प्रा० भा० आ० भा० कृदन्त (-क्त) से विकसित हुए हैं और उस भाषा में ये क्रिया जातविशेषणों का काम देते थे, अतः इनमें पुरुष-भेद न होकर

केवल लिंग-भेद विद्यमान है। पुं० लिं० में वचन-भेद भी है परन्तु स्त्री लिं० का वचन-भेद कर्त्ता के वचन द्वारा ही व्यक्त किया जाता है। इन प्रत्ययों से निष्पन्न रूपों के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :

✓चाल्,	चॉल्या (चला)	चॉल्ली	चॉल्ले	चॉल्ली
✓जा	गया	गई	गए	गई

व्युत्पत्ति :— -क्त, -त → -अ → -आ, या ←-य श्रुति के सन्निवेश से स्त्री लिं० प्रत्यय -ई के संयोग से इसी रूप को स्त्री लिं० का रूप और बहु व० के प्रत्यय -ए के संयोग से बहु व० का रूप (पुंलिं० में) बना लिया जाता है, यथा : गतः → गत्र → गया, गए (बहु व० पुंलिं०) गई (स्त्री लिं०)।

विशेष :—यौगिक रूप बनाते समय उपरिनिर्दिष्ट रूपों में स्वर संकोचन हो जाने से गया → ग्या तथा गई → गी, गए → गे रूप रह जाते हैं, परन्तु सर्वत्र नहीं, यथा : चाल्ग्या, चाल्गी, चाल्गे आदि रूपों में स्वर-संकोचन स्पष्ट प्रतीत होता है। परन्तु चॉल्या गया, चॉल्ली गई, चॉल्ले गए आदि रूपों में स्वर संकोचन नहीं हुआ है।

३६. कारणात्मक अतीत :— हरि० में इस काल का प्रयोग केवल घटनान्तरा-पेक्षित अथवा संयोजक प्रकार में होता है, यथा—जें में जाँदा/जाँदी ...।

व्युत्पत्ति :—ये रूप प्राचीन भा० आ० भा० (संस्कृत) के वर्तमान कालिक कृदन्त रूपों से इस प्रकार व्युत्पन्न हुए हैं :—शतृ प्रत्यय -अन्त → -अन्त, अन्तो → -आँदा -आँदी, -दा, -दी।

हरि० की कुछ धातुओं में -आँदा, -आँदी विद्यमान हैं, यथा :—खाँदा, खाँदी, जाँदा जाँदी, रोंदा, रोंदी, पीँदा, पीँदी आदि। कुछ अन्य धातुओं में -दा, -दी प्रत्यय ही लगाए जाते हैं, यथा—वोल्दा, चाल्दा, हाल्दा आदि। इसका सामान्य-सा नियम यह है कि हलन्त धातुओं के साथ -दा, -दी और अजन्त धातुओं के -आँदा, आँदी प्रत्यय लगाए जाते हैं।

ये रूप भी कृदन्त प्रत्ययों से विकसित हुए हैं इसलिए यहां भी लिंग-भेद कायम है, परन्तु पुरुष-भेद यहां भी नहीं पाया जाता।

(ख) यौगिक रूपों वाला काल-समूह

४०. (१) यौगिक रूपों वाला कालसमूह सहायक क्रियाओं के विभिन्न रूपों के साथ सम्पन्न होता है। ✓हो धातु विभिन्न कालों में विभिन्न रूप धारण करके सहायक क्रिया का काम करती है। इस धातु के रूप स्वतन्त्र क्रिया का काम भी करते हैं और यथा आवश्यकता सहायक क्रिया का काम भी करते हैं।

(२) हरि० में दूसरी सहायक क्रिया -गा है। इसे प्रत्यय मात्र भी कह सकते हैं, वह भी इसलिए कि इसका प्रयोग केवल भविष्यत् काल की क्रियायें बनाने के लिए सहायक क्रिया की भांति किया जाता है। वैसे यह स्वतन्त्र क्रिया के रूप में प्रयुक्त नहीं होता। लिंग तथा वचन भेद इस पर भी लागू होता है। इस -गा की व्युत्पत्ति विद्वानों ने संस्कृत गतः → ग अ → गा मानी है।

(३) हरि० में तीसरी सहायक क्रिया -है है। यह भी -गा की भांति केवल सहायक क्रिया मात्र है। इसका प्रयोग संभाव्य वर्तमान के रूपों में होता है। इसकी व्युत्पत्ति विधिलिंग के -एन् → -ए → -ए, -है से हुई जान पड़ती है। यहां हम सबसे पहले ✓हो धातु के विभिन्न कालों के रूपों पर विचार करते हुए एक प्रकार से सहायक क्रियाओं और उनकी व्युत्पत्ति पर दृष्टिपात करेंगे।

सहायक क्रियायें

४१ नीचे ✓हो के उपरिनिर्दिष्ट कालों के रूप दिए जायेंगे, इसके बाद इन्हीं सहायक क्रियाओं से व्युत्पन्न अन्य कालों के रूपों का उल्लेख किया जाएगा।

✓हो (सं० भव् → प्राकृ० हो)।

(साधारण वर्तमान)

	एक व०	बहु व०
उ० पु०	सूँ	सां
म० पु०	से	सो
प्र० पु०	सें	सें

४२. व्युत्पत्ति :- उपरिनिर्दिष्ट रूपों के प्रत्ययों के उद्गम तथा विकास पर पीछे विचार किया जा चुका है (दे० ३४)। 'स-' के सम्बन्ध में यहां इतना ही कह देना पर्याप्त रहेगा कि इसका विकास सं० ✓अस् से है। सं० में ✓अस् तथा ✓भू लगभग समानान्तर क्रियायें रही हैं जिनका प्रयोग सहायक क्रियाओं के रूप में भी होता रहा। इसके अतिरिक्त ✓अस् धातु के और ✓भू धातु के लृट् लकार के रूप एक समान हैं। अतः यहां ✓हो का प्रतिनिधित्व स- (सं० अस्) द्वारा किया जा रहा है।

✓अस् के "अस्मि" आदि रूपों से विकसित रूप कई एक आ० भा० आ० में प्रचलित हैं जिनके लिए प्राकृत के "अस्मिह" आदि रूप विकासक्रम की बीच की लड़ी मिलाने के लिए मिल जाते हैं। दूसरे शब्दों में संस्कृत -स् प्राकृत में -ह हो जाता है। परन्तु हरि० के 'सूँ' आदि रूपों को देखने पर विदित होता है कि अस्ति → अस्थि, अट्ठि, (जिससे नकारात्मक उपसर्ग 'न' लगा कर हरि० ✓नाट् सम्पन्न होता है) तथा सइ आदि कई रूप चलते रहे। इन कई रूपों का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि किसी क्षेत्र विशेष में अस्ति → सइ बना तथा अन्य

रूप आस-पास के क्षेत्र में चलते रहे और पारस्परिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया से विभिन्न रूप एक दूसरे के क्षेत्र में जा घुसे। ऐसे कई एक वैकल्पिक रूपों के उदाहरण आज भी विद्यमान हैं। उदाहरणार्थ—इत्, अड़े, इधं आदि कई एक रूप 'यहां' के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं परन्तु पहले दोनों रूप स्पष्ट तौर से सं० अत्र के ही विकसित रूप हैं। अतः हमारा मत है कि हरियाणा प्रदेश में सं० '✓अस्' के 'अस्ति' रूप से हरि० सं' विकसित हुआ है और इसके आधार पर हम इस प्रदेश की म० भा० आ० भा० में 'सइ' रूप की कल्पना कर सकते हैं।

साधारण अतीत

४३, ✓हो के साधारण अतीत के रूप निम्नलिखित हैं :—

	एक व०		बहु व०	
	पुंलि०,	स्त्री लि०	पुंलि०,	स्त्री लि०
उ० पु०	था	थी	थे	थी
म० पु०	था	थी	थे	थी
अ० पु०	था	थी	थे	थी

साधारण अतीत के अन्य धातुओं के रूपों की भांति यहां भी लिंग-भेद तथा पुंलि० में वचन-भेद विद्यमान है।

४४. 'था' की व्युत्पत्ति :— इसके सम्बन्ध में डा० तिवारी जी लिखते हैं कि कतिपय विद्वानों ने 'था' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—था←म० भा० आ० भा० थाइ, थियो←प्रा० भा० आ० भा० स्थितः, किन्तु इसकी ठीक व्युत्पत्ति इस प्रकार है—सन्त के स्थान पर असन्त→अहन्त→हन्तौ→हतौ→था'।

हमारे विचार में म० भा० आ० भा० के 'थियो' रूप को देखते हुए 'स्थितः' से 'था' का विकास मानना अधिक संगत जान पड़ता है। आज भी मुलतानी भाषा में 'थिआ' रूप विद्यमान है। अतः थिआ→थ्या, था बनाना सरल है और 'थिआ' सं० स्थितः का ही विकसित रूप हो सकता है। इसके अतिरिक्त मेरे मित्र तथा सहयोगी^१ श्री कौशल कुमार जी, एम० ए० का विचार है कि संस्कृत कथा-साहित्य में सं० 'अस्ति' भूतकाल के लिए प्रयुक्त होता था और प्राकृत काल चूंकि कथात्मक साहित्य का काल था अतः इस काल में अतीत के लिए 'अस्ति' का विकसित रूप 'अत्थि' प्रचलित रहा होगा। प्राकृत अत्थि से 'थी' बना जो आज भी पुआधी में लिंग

१. उ० ना० ति० : हरि० उ० वि० पृष्ठ ५०१—५०२।

२. श्री कौशल कुमार जी, हरियाणा के भाषा विभाग में अनुसंधान सहायक के रूप में काम करते हैं और आज कल 'कालिदास' पर शोध-कार्य कर रहे हैं।

तथा वचन का भेद किए बिना बराबर प्रयुक्त हो रहा है। इसके अतिरिक्त 'पुआधी' में 'थी' का 'ती' रूप भी विद्यमान है। हो सकता है कि हरि० ने इसी 'थी' को अपनी प्रकृति के अनुसार लिंग-भेद से 'था' और वचन भेद से 'थे' के रूप में अपना लिया हो।

इच्छार्थक तथा आज्ञार्थक वर्तमान

४५. ✓हो के इच्छार्थक तथा आज्ञार्थक वर्तमान के रूप निम्नलिखित हैं :—

	एक व०	बहु व०
उ० पु०	होऊं	होवां
म० पु०	हो, होवें	होवो
अ० पु०	होवें	होवें

यहां भव्→हो अपने प्राकृत कालीन रूप में विद्यमान रहते हुए अपेक्षित काल के प्रत्ययों से रूप बना रहा है। प्रत्ययों के रूपों पर पीछे (३४) के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है।

कृदन्त रूप

४६. ✓हो के कृदन्त रूप निम्नलिखित हैं :—

भविष्यत् कालीन कृदन्त—होणां (व्यु० के लिए देखिए ३७)।

वर्तमान कालीन कृदन्त—होँदा (व्यु० के लिए देखिए ३६)।

भूतकालीन कृदन्त—होया (व्यु० के लिए देखिए ३८)।

४७. अब हम यौगिक रूपों वाले काल-समूह पर विचार करने के लिए तैयार हैं। इन कालों के रूप बनाने के लिए ✓हो धातु के उपरिनिर्दिष्ट रूप अथवा ४० (२) तथा (३) के अन्तर्गत निर्दिष्ट सहायक क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है।

(अ) तिङन्त रूपों के साथ सहायक क्रियाएं लगा कर—

४८. घटमान वर्तमान (कर्तृवाच्य)—इस काल के रूप इच्छार्थक वर्तमान काल के रूपों के साथ पुरुष तथा वचन के अनुसार ✓हो के साधारण वर्तमान के रूपों के संयोग से निष्पन्न होते हैं, यथा :—

✓चाल्

	एक व०	बहु व०
उ० पु०	चॉल्लूं सूं	चॉल्लां सां
म० पु०	चॉल्लें सें	चॉल्लो सो
अ० पु०	चॉल्लें सें	चॉल्लें सें

२६६

रूप-तत्त्वं

✓जा

	एक व०	बहु व०
उ० पु०	जां सूं, जाऊं सूं	जां सां, जावां सां
म० पु०	जा सें, जावें सें	जाओ सें
अ० पु०	जा सें, जावें सें	जां सें, जावें सें

इच्छाथक रूप निष्पन्न करने के लिए प्रयोग में आने वाले प्रत्ययों पर (३४) के अन्तर्गत तथा ✓हो के साधारण वर्तमान के रूपों की व्युत्पत्ति (४२) के अन्तर्गत दी जा चुकी है। ये रूप दोनों लिंगों में समान रूप से प्रयुक्त होते हैं।

४६. घटमान भूत (कर्तृवाच्य)---इस काल के रूप इच्छार्थक वर्तमान के रूप तथा ✓हो के साधारण अतीत के रूपों के संयोग से बनते हैं, यथा :—

✓चाल

	एक व०	बहु व०
उ० पु०	चॉल्लूं था, थी	चॉल्लां थे, थी
म० पु०	चॉल्ले था, थी	चॉल्लो थे, थी
अ० पु०	चॉल्ले था, थी	चॉल्लें थे, थी

✓जा

	एक व०	बहु व०
उ० पु०	जां था, थी जाऊं था, थी	जां थे, थी जावां थे, थी
म० पु०	जा था, थी जावें था, थी	जाओ थे, थी
अ० पु०	जा था, थी जावें था, थी	जावें थे, थी जां थे, थी

मूल क्रिया के साथ लगने वाले प्रत्ययों के लिए (दे० ३४) तथा 'था' आदि सहायक क्रियाओं के लिए (दे० ४४)।

सामान्य भविष्यत्

५०. सामान्य भविष्यत् (कर्तृवाच्य)---इस काल में इच्छार्थक वर्तमान काल के रूपों के साथ -गा, गी,गे आदि सहायक क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है। इच्छार्थक वर्तमान काल के रूपों की व्युत्पत्ति पर (३४) के अन्तर्गत तथा सहायक क्रियाओं की व्युत्पत्ति पर ४० (२) के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है। इस काल के

रूप निम्नलिखित ढंग से हैं :—

	चाल्	
	एक व०	बहु व०
उ० पु०	चॉल्लूंगा, गी	चॉल्लांगे, गी
म० पु०	चॉल्लेगा, गी	चॉल्लोगे, गी
अ० पु०	चॉल्लेगा, गी	चॉल्लेंगे, गी

इसी प्रकार ✓जा आदि अन्य धातुओं के रूप समझे जा सकते हैं।

५१. संदिग्ध भविष्यत् (आसन्न भविष्यत्)—इस काल के रूप इच्छार्थक वर्तमान (व्यु० के लिए देखिए ३४) तथा सहायक क्रिया 'हैं' (व्यु० के लिए देखिए ४० (३)) के संयोग से बनते हैं, यथा :—

	जा	
	एक व०	बहु व०
उ० पु०	जां, जाऊं हें (मैं जाता)	जां, जावां हें (हम जाते)
म० पु०	जा हें (तू जाता)	जाओ हें (तुम जाते)
अ० पु०	जा हें (वह जाता)	जावें हें (वे जाते)

विशेष :—सहायक क्रिया का रूप कहीं-कहीं 'ए' भी मिल जाता है। इसी प्रकार अन्य धातुओं के रूप समझे जा सकते हैं।

कर्मवाच्य के रूप

५२. उपरिनिर्दिष्ट चारों कालों के रूप निम्नलिखित ढंग से बनाए जाते हैं—
मूलधातु के साथ -इ- प्रत्यय + इच्छार्थक काल के अन्य पुरुष के प्रत्यय (वचनानुसार) और अन्त में कालानुसार सहायक क्रिया। प्रत्येक काल के रूपों के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

घटमान वर्तमान—(लौड्डू) बांडिएं सें (बंटते हैं), (रोट्टी) खाइए सें (खाई जाती है)।

घटमान भूत—(गीत) गाइए थे (गाए जाते थे), (तेरा के) चालिए था (तुम्हारे से क्या चला जाता था)।

सामान्य भविष्यत्—(गीत) गाइएंगे (गाए जाएंगे), (तेरा के) चालिएगा (तुम्हारे से क्या चला जाएगा)।

संदिग्ध भविष्यत्—गाइए हें (गाए जाएं)।

आसन्नभविष्यत्—चालिए हें (चला जाए)।

-इ- की व्युत्पत्ति पर पीछे २९ (२) के अन्तर्गत तथा अ० पु० के रूपों पर (३४) के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है।

(आ) कृदन्त रूपों से बनने वाले काल—

५३. पूर्वकालिक वर्तमान, पूर्वकालिक भूत तथा पूर्वकालिक भविष्यत्—इन तीनों कालों के रूप धातु के असमापिका रूप और कालानुसार सहायक क्रिया के संयोग से बनते हैं। असमापिका के रूप में वचन तथा लिंग के अनुसार विकार होता है तथा सहायक क्रिया भी तदनुकूल होती है।

पूर्वकालिक वर्तमान के उदाहरण :—जाणा से, गाएँ से, खाणी से।

पूर्वकालिक भूत :—जाणा था, गाए थे, खाणी थी।

पूर्वकालिक भविष्यत् :—इस काल में ✓हो के सामान्य भविष्यत् के रूप सहायक क्रिया के रूप में प्रयुक्त होते हैं, यथा :—

जाणा होगा, गाए होंगे, खाणी होगी।

असमापिका के रूपों पर (३७) के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है तथा सहायक क्रिया पर (४० से ४४ तक) पूर्ण रूप से विचार किया जा चुका है।

५४. घटमान संभाव्य वर्तमान :—इस काल के रूप धातु के वर्तमान कालीन कृदन्त के रूप के साथ ✓हो के संदिग्ध (आसन्न) भविष्यत् के रूपों (होऊं हूँ आदि) के संयोग से बनते हैं, यथा :—

✓जा

	एक व०	बहु व०
उ० पु०	जाँदा होऊं हूँ	जाँदे होवां हूँ
म० पु०	जाँदा हो हूँ	जाँदे होवो हूँ
अ० पु०	जाँदा होवे हूँ	जाँदे होवें हूँ

आसन्न भविष्यत् के रूपों के उद्गम तथा विकास के लिए देखिए (५१) तथा कृदन्त रूपों के लिए देखिए (३६) तथा (४६)।

५५. घटमान भविष्यत् के रूप वर्तमान कालिक कृदन्त (व्यु० के लिए दे० ३६ तथा ५६) तथा ✓हो के सामान्य भविष्यत् के रूपों (व्यु० के लिए देखिए ५०) के संयोग से बनते हैं, यथा :—

✓जा

	एक व०	बहु व०
उ० पु०	जाँदा हूँगा	जाँदे होंगे
म० पु०	जाँदा होगा	जाँदे होंगे
उ० पु०	जाँदा होगा	जाँदे होंगे

लिंग तथा वचन विकार कृदन्त तथा सहायक क्रिया के रूपों पर समान रूप

से लागू होता है अर्थात् स्त्रीलिंग में 'जाँदी हूँगी, जाँदी होंगी' आदि रूप बनेंगे।

५६. घटमान संभाव्य अतीत के रूप—मूल-धातु तथा सहायक क्रिया '✓हो' दोनों के वर्तमान कालिक कृदन्त के रूपों के संयोग से बनता है, यथा :—

	एक व०	बहु व०
उ० पु०, म० पु०, अ० पु०	खाँदा होंदा	खाँदे होंदे

यहां भी वचन तथा लिंग भेद विद्यमान है। वर्तमान कालिक कृदन्त रूपों की व्युत्पत्ति आदि के लिए (देखिए ३६ तथा ४६)।

पुराघटित काल समूह

५७. पुराघटित वर्तमान :—यह काल धातु के भूतकालिक कृदन्त तथा ✓हो के सामान्य वर्तमान के रूपों के संयोग से बनाया जाता है। भूतकालिक कृदन्तों की व्युत्पत्ति आदि के लिए देखिए (३८ और ✓हो के सामान्य वर्तमान के रूपों के लिए देखिए ४३)। इस काल के रूप निम्नलिखित ढंग से बनेंगे :—

✓जा

	एक व०	बहु व०
उ० पु०	गया सुं	गए सां
म० पु०	गया से	गए सो
अ० पु०	गया से	गए सें

लिंग तथा वचन विकार केवल कृदन्त रूपों में पाया जाता है।

५८. पुराघटित भूत :—इस काल के रूप भूतकालीन कृदन्त रूपों के साथ सहायक क्रिया के रूप में ✓हो के सामान्य अतीत के रूप लगा कर बनाए जाते हैं :—

	एक व०	बहु व०
उ० पु०, म० पु०, अ० पु०	गया था	गए थे

लिंग तथा वचन विकार कृदन्त रूपों में और सहायक क्रिया दोनों में पाया जाता है। कृदन्त रूप की व्युत्पत्ति के लिए देखिए (३८ तथा सहायक क्रिया की व्युत्पत्ति के लिए देखें ४४)।

५९. पुराघटित संभाव्य वर्तमान :—इस काल में भूतकालीन कृदन्त रूपों के साथ ✓हो के संदिग्ध (आसन्न) भविष्यत् के रूप सहायक क्रिया के रूप में लगाए जाते हैं, यथा :—

	एक व०	बहु व०
उ० पु०	गया होऊं हूँ	गए होवां हूँ
म० पु०	गया होवें हूँ	गए होवो हूँ
अ० पु०	गया होवें हूँ	गए होवो हूँ

लिंग तथा वचन-विकार कृदन्त रूपों में पाए जाते हैं। इन रूपों की व्युत्पत्ति आदि पर भी पहले विचार किया जा चुका है।

६०. पुराघटित भविष्यत् :—इस काल के रूप भूतकालीन कृदन्त रूपों के साथ ✓हो के सामान्य भविष्यत् के रूप लगा कर बनाए जाते हैं, यथा :—

	एक व०	बहु व०
उ० पु०	गया हूँगा	गए होंगे
म० पु०	गया होगा	गए होंगे
अ० पु०	गया होगा	गए होंगे

लिंग तथा वचन-विकार कृदन्त तथा सहायक क्रिया दोनों में पाया जाता है। इन रूपों की व्युत्पत्ति पर भी पहले विचार हो चुका है।

६१. पुराघटित संभाव्य अतीत :—इस काल के रूप बनाने के लिए 'मूल-धातु के भूतकालीन कृदन्त रूपों के साथ सहायक क्रिया ✓हो के वर्तमान कालीन कृदन्त के रूप जोड़े जाते हैं, यथा :—

	एक व०	बहु व०
उ० पु०, म० पु०, अ० पु०	गया होंहा	गए होंदे

लिंग तथा वचन सम्बन्धी विकार सभी कृदन्त रूपों में समान रूप से पाया जाता है। व्युत्पत्ति के लिए देखिए (३८ तथा ४६)।

समस्त अथवा संयुक्त क्रिया पद

६२. पीछे (३० में) बताया जा चुका है कि आ० भा० आ० भा० में क्रियापदों की रचना ने नवीन पद्धति का आश्रय ग्रहण किया है। उसके पश्चात् हम देख चुके हैं कि नवीन काल रचना में सहायक क्रियाएं कितनी सहायक सिद्ध हुई हैं। इसी प्रकार आधुनिक भा० आ० भा० ने ✓आ, ✓जा आदि कई एक क्रियाओं को सहायक क्रिया के रूप में अपनाकर मूल-क्रिया के भाव को अधिक स्पष्ट रूप प्रदान करने के लिए एक सुहावरेदार शैली को अपनाया है। इस शैली के अन्तर्गत क्रियापद एक वाक्य-खंड का सा रूप धारण कर लेते हैं, यथा—'जाएँ के मार् बेंठ्या'। इस पद में मूल-क्रिया ✓मार् है और 'जाएँ के' असमापिका रूप तथा ✓बेंठ के भूतकालिक कृदन्त रूप ने ✓मार् के भाव को स्पष्ट करने का काम किया है।

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस रचना को समस्त पद रचना मानना संगत है या नहीं। इसे समस्त पद मानने में निम्नलिखित बाधाएं दिखाई देती हैं :

(१) यदि यह समस्त पद है तो इसके अन्तर्गत पदों के साथ अपनी अलग विभक्तियां या प्रत्यय कैसे लगे रह सकते हैं। समास में सब का लोप हो जाता है।

(२) इन पदों के बीच बलसूचक प्रत्यय 'ए' तथा नकारात्मक पद भी आ जाते हैं, यथा—जाण् कँ ए मार्ष् बँठ्या, जाण् कँ कोन्नी मार्ष्या ।

(३) सब से बड़ी और महत्त्वपूर्ण आपत्ति यह है कि लिंग तथा वचन-संबंधी विकार केवल अन्तिम क्रिया में ही नहीं पाया जाता प्रत्युत पूर्वपद अथवा पदों में भी पाया जाता है, यथा :

(क) ओ गाया कर्दा होगा ।

(ख) वा गाया कर्दी होगी ।

(ग) वे गाया कर्दे होंगे ।

इन बाधाओं पर विचार करने से पूर्व हमें समस्तपद की परिभाषा पर विचार करना होगा । संस्कृत आचार्य समस्त पद में पद, स्वर तथा विभक्ति की एकता पर बल देते हैं—एकपद्यमेकस्वर्यमेकविभक्तिकत्वं च समास-प्रयोजनम्^१ । परन्तु संस्कृत समस्त-पद-रचना पर सम्यक् रूप से विचार करने पर विदित होता है कि वहां भी उक्त तीनों प्रकारों की एकता सर्वत्र दृष्टिगोचर नहीं होती । वैदिक समस्त पदों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहां एकपदत्व नहीं है और फिर भी वे समस्त पद हैं, यथा : अहर्-दिवा (प्रतिदिन), मातरा-पितरा (मां-वाप), इन्द्रा-वरुणा (इन्द्रवरुण) । संस्कृत का अलुक् तत्पुरुष ऐसा समास है जहां न विभक्ति एकत्व है न स्वरैकत्व, फिर भी इसे समासों के अन्तर्गत माना गया है । अतः केवल पद-स्वर तथा विभक्ति एकत्व पर बल देना उचित प्रतीत नहीं होता ।

यह एक मत है, तो दूसरा मत यह है कि संस्कृत संश्लिष्ट भाषा थी, उसके अन्तर्गत ऐसे अपवादों को स्थान दिया जा सकता था जबकि आ० भा० आ० भा० विश्लिष्ट हैं । इनमें यदि समास की मूल भावना को महत्त्व प्रदान न किया गया तो समस्तपद का महत्त्व ही समाप्त हो जाएगा और सभी पदों को—या जहां जिसका मन चाहे उस पद को—समस्त पद कहा जा सकेगा ।

आ० भा० आ० भाषाओं के क्रियापदों में, अर्थात् ऐसे क्रियापदों में जिन्हें हम समस्त कहने चले हैं, स्वरैकत्व अथवा विभक्ति-एकत्व का अभाव-सा अनुभव होने लगता है । यह स्थिति सर्वत्र नहीं है, परन्तु थोड़ी बहुत होने पर भी ऐसे पदों को समस्त पद बनने देने में रुकावट हो सकती है । इतना होते हुए भी भावों की एकता और क्रियाओं के अर्थ को पूरी तरह से नियंत्रित रखने की शक्ति उन्हें समस्त पद मानने के लिए ही बाध्य करती है । इस तथ्य की जांच ऊपर के तीनों उदाहरणों के विश्लेषण पर हो सकेगी । इनमें मूल क्रिया ✓गा है और ✓कर् व्यक्ति विशेष के स्वभाव अथवा अभ्यास को प्रकट करती है । अतः हमें इन तीनों उदाहरणों में '✓गाया-कर्' को एक पद मान कर चलना होगा । यदि यह पद समस्त-पद की परिभाषा को

१. अनु० उपा० : सा० व्या० (व० क० इ० ए० से उद्धृत) ।

पूरी तरह नहीं निभा पाता तो इसे अथवा ऐसे पदों को संयुक्त क्रिया की संज्ञा दी जा सकती है। इन्हें संयुक्त क्रिया मान लेने पर इनके बीच बलसूचक प्रत्यय 'ए' या नकारात्सक 'कोन्ती' 'नां' आदि रख देने पर कोई आपत्ति नहीं रहती। अतः हम ऐसे पदों को समस्त-पद के स्थान पर संयुक्त-पद कहना अधिक श्रेयस्कर समझते हैं।

आ० भा० आ० भा० की संयुक्त क्रियाओं में सहायक क्रियाएं एक विशेष प्रकार का कार्य सम्पन्न करती हैं। इनके द्वारा व्यक्त होने वाले मूल क्रिया के भाव की हत्या किए बिना उन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता। इस नाते इन्हें समस्त अथवा संयुक्त पद मानना ही समीचीन रहेगा।

६३. हरियाणवी में दो प्रकार की संयुक्त क्रियाएं मिलती हैं। एक प्रकार के अन्तर्गत कुछ संज्ञाएं धातुओं का सहारा लेकर क्रियाएं बनाती हैं, यथा : ✓याद्-आ, ✓छाल्-मार् (छलांग मारना), ✓कूटलिआ-ठा (बुरी तरह कचूमर निकालना) ✓मोरड्-मार् आदि। इन्हें नाम धातुएं भी कहना संगत रहेगा।

६४. दूसरे प्रकार की संयुक्त क्रियाओं में धातु-जात पद ही अन्य धातुओं के सहारे अपने मूल-भाव को किंचित् परिवर्तित रूप में प्रस्तुत करते हैं, यथा : ✓गाया-रुर् संयुक्त धातु 'गाने' के स्वभाव को व्यक्त करती है। हरि० में इस प्रकार सहायक क्रियाओं के रूप में प्रयुक्त होने वाली धातुएं निम्नलिखित हैं :

✓आ, ✓उठ्, ✓कर्, ✓गड्, ✓गाड्, ✓गिर्, ✓छोड्, ✓जा, ✓दीख्, ✓देख्, ✓दे, ✓पट्क्, ✓पड्, ✓पा, ✓फिर्, ✓बण्, ✓बैठ्, ✓मंड्, ✓मर्, ✓मार्, ✓रह्, ✓राख्, ✓लाग्, ✓लिकड्, ✓ले, ✓ल्या, ✓सक्, ✓हांड्, ✓हो।

(इन में से अधिकांश धातुओं के संस्कृत तथा प्राकृत रूप पीछे आ चुके हैं)

आगे इनके प्रयोजन पर विचार किया जाएगा तथा प्रत्येक के साथ प्रयोग में आने वाली अन्य धातुओं के रूपों पर भी विचार किया जाएगा।

६५. सहायक क्रियाओं के रूप में प्रयुक्त होने वाली उपरिनिर्दिष्ट धातुएं विशेष अर्थ में ही प्रयुक्त होती हैं। इस अर्थ पर नीचे विचार किया जाता है। इसके अतिरिक्त इनके साथ आने वाले अन्य धातुओं के रूपों पर भी प्रतिबन्ध होता है। आगे दो अथवा तीन धातुओं वाले समस्त रूपों पर विचार किया जाता है।

दो धातुओं वाली संयुक्त क्रियाएं

६६. संयुक्त क्रिया की मूल धातु का -ण्- प्रत्यय वाला रूप (अर्थात् असमापिका का रूप) निम्नलिखित धातुओं के साथ संयुक्त क्रियाएं बनाता है :

✓चाह्, ✓दीख्, ✓पड्, ✓बण्, और ✓हो।

ये धातुएं निम्नलिखित अर्थ व्यक्त करती हैं :—

✓पड़् तथा ✓हो बाध्यता, यथा—मन्नें तेरे कारणों जाणा पड़गा।
(मैं तुम्हारे कारण जाने के लिए बाध्य होऊंगा)।

भीत्तर बड़ा खोत्तर, टिकट कटाणी होगी। (अन्दर प्रवेश पाने के लिए टिकट कटवानी होगी)।

चाह (इच्छा), यथा—खंदा दे तें जाणा चाहूं सूं। (यदि भेज दो तो जाने की इच्छा है) ओह् पुरकें तें अपणां हूँद वेचणा चाहवे था, इब् का बेरा नहीं। (वह पिछले वर्ष तो अपना मकान बेचना चाहता था, अब का पता नहीं)।

बण् (उपयुक्तता), यथा—तेरा नहीं, तेरे बाप् का जाणा बणोंगा। (तुम्हारी वजाए तुम्हारे पिता जी का जाना उपयुक्त होगा)।

दीख् (संभावना), यथा—मेरी जाण् में तन्नें मरणा दीखे से ज्यांतें तन्नें कुकरम् भावें से। (मेरे विचार में तुम्हें अपने मरने की संभावना है, इसी लिए तुम्हें कुकर्म अच्छे लगते हैं)।

विशेष :—उपरिनिर्दिष्ट उदाहरणों से प्रतीत होगा कि यहां पहली क्रिया जिसे अपना भाव व्यक्त करना है सहायक क्रिया के साथ संयुक्त होते समय संज्ञा का सा रूप धारण कर लेती है। ये रूप असमापिका के रूप निष्पन्न करने के लिए लगाए जाते हैं। इसे संयुक्त क्रियापदों का मुहावरेदार प्रयोग भी कहा जा सकता है।

६७. उपरि निर्दिष्ट संयुक्त-क्रियाओं में प्रयुक्त होने वाली धातुओं के असमापिका रूप की व्युत्पत्ति पर पहले (३७) के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है। अन्तिम धातु के साथ कालानुसार प्रयुक्त होने वाली सहायक क्रिया 'से', 'था' आदि को तीसरी धातु मानना उचित नहीं है क्योंकि उनके अभाव में अपेक्षित काल रचना असंभव है। कालों में प्रयुक्त होने वाली सहायक क्रियाओं पर पीछे विचार किया जा चुका है।

६८. संयुक्त क्रिया में पहली धातु का -अण् प्रत्यय संयुक्त रूप अपने साथ निम्नलिखित धातुओं का चयन करता है :— ✓दे, ✓पा, ✓लग्, ✓मंड्।

ये धातुएं निम्नलिखित अर्थ की द्योतक हैं :

✓दे (आज्ञा सूचक), यथा—टुकेक् मन्नें बी देख्खण् दे (जरा मुझे भी देखने की अनुमति दीजिए)।

✓पा (सकना), यथा—तौह के चढण पावें सें ? (तुम क्या चढ़ सकते हो ?) ।

✓मंड, ✓लग् (प्रारम्भ सूचक), यथा—मेर जायां पौच्छें करण लग्या, मंड्या (मेरे जाने के पश्चात् करना आरम्भ किया) ।

६६. धातु के -अण् प्रत्यय संयुक्त रूप की व्युत्पत्ति— -अण् ← सं० -अन् ।

७०. संयुक्त क्रिया की पहली धातु का -द्- प्रत्यय संयुक्त रूप अर्थात् वर्तमान कालिक कृदन्त रूप अपने साथ निम्नलिखित धातुओं का चयन करता है :—

✓जा, ✓रह, ✓बण्, ✓हो, ✓दीख्, ✓पा, ✓मिल् और ✓आ ।

ये क्रियाएं निम्नलिखित अर्थों को व्यक्त करती हैं :—

✓जा, ✓रह वर्तमान तथा निकट भूत अथवा भविष्यत् में क्रिया के जारी रहने के भाव को प्रकट करते हैं, यथा :—

जो करें सो कर्दा जा (जो करते हो, करते रहो) ।

में न्यूँ भौकदा रह्या, तेरें एक् नहीं गडी (मैं यों ही भौंकता रहा, पर तुम्हारे ऊपर तनिक भी प्रभाव न पड़ा) ।

✓बण्, ✓हो, ✓दीख् दूर होने के भाव को व्यक्त करते हैं, यथा—
दिखाई मन्या दे, चाल्दा हो (दिखाई मत दो, चलते बनो अर्थात् दूर हटो) ।

हाण् की हाण् में भाज्दा बण्या, दीख्या (जरा सी देर में भाग गया) ।

✓दीख्, ✓पा, ✓मिल् क्रिया को जारी रखने के अर्थ में, यथा :—

जद् देखो जद् पढ़ा दीक्खें सें (जब देखो तभी पढ़ता दिखाई देता है, अर्थात् पढ़ने की क्रिया को जारी रखे हुए है) ।

हाण् की हाण् में आया, थम् जाग्दे पाइओ, मिलिओ (अभी अभी आया तुम जागते मिलना अर्थात् जागने की क्रिया को जारी रखना) ।

✓आ (१) पीछे से चली आती परिपाटी को व्यक्त करता है, यथा—दुनियां में न्यूँ वण्दी आवें सें (सृष्टि की यही परम्परा है) ।

(२) पीछे से जारी रहने वाली क्रिया को व्यक्त करता है, यथा—ओह गाँदा आवें सें (वह गाता आ रहा है) ।

७१. क्रिया के -द्- प्रत्यय संयुक्त रूप की व्युत्पत्ति (३९) के अन्तर्गत दी जा चुकी है ।

७२. संयुक्त क्रिया की पहली धातु का -य्- प्रत्यय संयुक्त रूप निम्नलिखित धातुओं का चयन करता है— ✓कर्, ✓जा, ✓चाह् ।

ये क्रियाएं निम्नलिखित भावों को व्यक्त करती हैं :—

✓कर् स्वभाव, अभ्यास आदि को व्यक्त करता है, यथा—ओह गाया करें से (वह गाया करता है)।

✓जा (१) कर्मवाच्य के भाव को व्यक्त करता है, यथा—मत्त किम्मे नां कर्या जा (मुझ से कुछ नहीं किया जाता)।

(२) क्रिया के अभी अभी घटित होने के भाव को व्यक्त करता है, यथा—दरद् की सारी सिर पोट्या जा से (दर्द के कारण सिर पटा जाता है, अर्थात् फटने वाला है)।

✓चाह्—क्रिया के अभी अभी घटित होने के भाव को या इच्छा प्रकट करता है, यथा—टुकेक् दम् खा, ओह इवे आया चाह्वे से (जरा सबर करो वह अभी आया चाहता है अर्थात् आने वाला है)।

७३. क्रिया के -य्- प्रत्यय संयुक्त रूप अर्थात् भूतकालिक कृदन्त की व्युत्पत्ति पर पीछे (३८) के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है।

७४. संयुक्त क्रिया की पहली धातु का —०— प्रत्यय संयुक्त रूप निम्नलिखित धातुओं का चयन करता है :—

✓आ, ✓जा, ✓ले, ✓ल्या, ✓दे, ✓गिर् (✓गेर्), ✓छोड्, ✓धर्, ✓उठ्, ✓पड्, ✓बैठ्, ✓रह्, ✓लिकड्, ✓सक्, ✓पा, ✓मर्, मार्, ✓गड्।

ये क्रियाएं निम्नलिखित रूपों को व्यक्त करती हैं :—

✓ले, ✓ल्या, ✓दे, ✓आ, ✓जा, ✓गिर् (✓गेर्), ✓छोड्, ✓धर्—क्रिया की पूर्णता को प्रकट करती हैं। मास्टर् जी के तड़क् ए तड़क् पढ़ आया। घड़ा चू- गया (चू गया)। रोद्दी टुकड़ा खा ले। सारा काम् कर् गर्या (कर डाला)। रोद्दी घाल् दी (परोस दी)। सारा काम् कर् धर्या।

✓उठ्, ✓पड्, ✓बैठ् (आकस्मिक या अप्रत्याशित आरम्भ)—वा मां ने देख्दे ए रो पड़ी। के कर् बैठ्या ? (अप्रत्याशित कार्य करने की अभिव्यक्ति)।

✓रह् (१) क्रिया का जारी रहना—के कर् रह्या से (क्या कर रहे हो)।

(२) क्रिया की पूर्णता—के खा रह्या से (क्या खा रखा है)।

(३) अभ्यास या आदत को प्रकट करता है—में दिल्ली जा रह्या सूं (पहले गया हुआ हूँ, अतः जाने का अभ्यास है)।

✓लिकड्—अचानक घटित होने के भाव को व्यक्त करती है—कदे मास्टर् जी आ लिकडे (आ निकले)।

✓सक्, ✓पा—सामर्थ्य को प्रकट करती है। चोर् के बिल्स सके से (चोर क्या उपभोग कर सकता है)। खा पाया नां दे पाया।

✓मर्, ✓मार्, ✓गड्—क्रिया की पूर्णता, साथ ही मानसिक खिन्नता प्रकट करते हैं। के बेरा कूण आ मर्या, गड्या। सारी ठोड़् छाण् मारी।

✓राख्—क्रिया की पूर्णता को व्यक्त करता है। यथा—के खा राख्या से ? (क्या खाया हुआ है)।

७५. —०— (शून्य) प्रत्यय की व्युत्पत्ति :—पिछले उदाहरणों में सभी स्थानों पर धातुएं अपने प्रकृत रूप में आई हैं, अर्थात् उनके साथ कोई प्रत्यय जोड़ने की आवश्यकता नहीं हुई। परन्तु इनका यह रूप बहुत विकसित स्थिति का द्योतक है। यहां प्रा० भा० आ० भा० में ल्यप् प्रत्यय जोड़ा जाया करता था जो कालान्तर में -आइय, -आइ, -आय्, -य्, -इ रूप धारण करता चला गया। अन्तिम -य् या -इ के लोप के फलस्वरूप आज धातुएं अपने प्रकृत रूप में रही दिखाई देती हैं। दूसरे शब्दों में इनके साथ —०— (शून्य) प्रत्यय जोड़ दिया गया है।

६७. संयुक्त क्रिया की पहली धातुओं के -ए-, -एं- प्रत्यय संयुक्त रूप अपने साथ निम्नलिखित धातुओं का चयन करते हैं :—

✓जा, ✓रह, ✓राख्, ✓फिर्, ✓हांड्।

ये क्रियाएं निम्नलिखित भावों को व्यक्त करती हैं :—

✓जा—क्रिया जारी रखने के भाव को व्यक्त करता है, यथा—न्यूं करें जा (ऐसे करते चल)। टीक्कड़् पाड़ें जा (रोटी खाते रहो)।

✓रह, ✓राख्—क्रिया की पूर्णता को प्रकट करते हैं, यथा—इत्णा काम करें रहिओ (इतना काम संपूर्ण रखना)। खाट बिछाए राखिए (खाट बिछा कर तैयार रखना)।

✓फिर्, ✓हांड्—यह भी क्रिया की पूर्णता को प्रकट करते हैं, यथा—ओह् सभ ते लड़े हांड्डे, फिरे से (लड़ा हुआ है)।

७७. -ए-, -एं की व्युत्पत्ति :—शतृ -अन् + एव = अन्नेव → -ए, एं (?)।

दो धातुओं से अधिक धातुओं वाली संयुक्त क्रियाएं

७८. हरि० में किती किसी स्थान पर दो से अधिक क्रियाएं भी संयुक्त हो जाती हैं। सहायक क्रियाओं का अर्थ भी ज्यों का त्यों रहता है, उदाहरणार्थ ✓खा मूल क्रिया के साथ ✓ले सहायक क्रिया पूर्णता व्यक्त करती है। ✓दे जोड़ देने पर खाने की क्रिया की समाप्ति अथवा पूर्णता को स्वाभाविक तथा सहज बना रहने देने के लिए अनुरोध व्यक्त किया जाता है। इस प्रकार निष्पन्न ✓खा लेण् दे संयुक्त क्रिया पद से कालानुसार रूप संपन्न किए जा सकते हैं। इसके साथ चौथी धातु ✓कर् जोड़ने पर पूर्वोक्त भाव और नियंत्रित हो जाता है।

ध्यान रहे कि पीछे दो संयुक्त क्रियाओं के अध्ययन में दिए गए धातुओं के पूर्वापर रूपों पर वैसा ही प्रतिबन्ध यहां भी रहेगा।

कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

पहली धातु का संयोगी प्रत्यय	दूसरी धातु का रूप	तीसरी धातु जिससे कालानुसार रूप बनाए जाएंगे	उदाहरण
—० (शून्य)	जाण (स्वर संकोचन से जण) । लेण (स्वर संकोचन से लण) । देण (स्वर संकोचन से दण) ।	दे	सो जण (जाण) दिआ होंदा । पाणी पी लण दे । पीह [*] से दे दण दे ।
—० (शून्य)	जाया, लिया, दिया,	कर्-, जा-	दे जाया करेगा । पी लिया करेगा । कर दिया जा सें आदि ।
-य्	जा	सक्-	गाया जा सकें सें । गाया जा सकेंगा । गाया जा सकेंगा ।
-इ	हाँड्डे, फिरे हाँड्डें, फिरें	जा-	रोट्टी खाँदा हाँड्डे जा सें, रोंदा फिरे जा सें ।
-इ	जाया, रह्या	कर्-	खाँदी जाया करे से । गाँदी रह्या करे सें ।
-एँ, -ए -एण, -न्	जाया, रह्या लाग्	कर्- जा-, रह्-	पढ़ें जाया करेगा । गां दूइ देण लाग् रही सें । पाणी उबलन लाग् ग्या होगा ।

साधारणतः तीन धातुओं से अधिक धातुओं से बहुत कम काम लिया जाता है,
अतः इसे अधिक संयुक्त होने वाली धातुओं के दो एक उदाहरण ही पर्याप्त रहेंगे :—

१ -एण-	२ लाग्, लग्	३ जाया	४ कर्-	जाण लाग् जाया करे थी ।
-य्-	जाण	लग्	जा-	भोला रिताया जाण लाग्, लग् ग्या सें ।

इन सब रूपों की व्युत्पत्ति तथा विकास पर पहले विचार किया जा चुका है ।

७६. धातुओं की आवृत्ति :—अपेक्षित बात पर अधिक बल देने के लिए सामान्यतः शब्दों की आवृत्ति से काम लिया जाता है । इसी प्रकार संयुक्त धातुओं में पहले पद की आवृत्ति कर दी जाती है या उसके साथ समानार्थक अथवा सहचर धातुएं जोड़ दी जाती हैं । ऐसी सहचर धातुओं में ध्वनिज पद भी हो सकते हैं । इनके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

खाए-खाए जा सें, बोल्लए-बोल्लए लाग् गया, करें-कराए जा, कूद-पीद ले, बता-बता दे (केवल बता दे), धरू-ढक्ले, हाँड्डे-फिरें जाया कर, पढ़-लिख लिआ कर, कुछ खाया-पीया होगा, रोदटी पो-पा ले, हाँड-हूँड ले, घूम-घाम् आया, चालू-चूलू गया आदि ।

सातवां अध्याय

क्रिया-विशेषण

१. संज्ञा आदि से निर्मित क्रियाविशेषण :—हरियाणवी में कुछ एक प्रत्ययों के संयोग से संज्ञा, विशेषण, धातु अथ च कृदन्त पदों को क्रियाविशेषणों का रूप दे दिया जाता है। इस प्रकार निर्मित क्रिया-विशेषण-पद सामान्य विशेषणों जैसे प्रतीत होते हैं। वस्तुतः विशेषण और क्रियाविशेषण अपनी अपनी सीमा का उल्लंघन करते हुए एक ही पंक्ति के सवारों के समान दिखाई देते हैं। क्रियाविशेषण बनाने वाले प्रत्ययों के सम्बन्ध में २.१.६ के अन्तर्गत पूर्ण रूप से विचार किया जा चुका है।

२. सर्वनाम-जात-क्रिया विशेषण :—सर्वनाम-जात-क्रियाविशेषणों को सुविधा की दृष्टि से तालिका के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

सर्वनाम-जात-क्रिया विशेषणों की तालिका

	निकटवर्ती संकेत वाचक	दूरवर्ती संकेत वाचक	सम्बन्ध वाचक	प्रश्न वाचक
काल वाचक	इब् औडवर्	—	जद् जिब् जोडवर्	कद् किब् कोडवर्
स्थान वाचक	इत्, अडै, अठै, आडै यहां	उत्, उडै, ओडै, ओठै वहां, वां	जित् जा जडै, जठै	कित् कडै, कठै, कांह, कां
दिशा वाचक	इतोहड् ईघान् ईघै, न्यूघान्	उतोहड् ऊंघान्, उघै	जितोहड् जीघान्, जीघै	कितोहड् कीघान्, कीघै
रीति-वाचक	न्यूं, न्यों न्यूक्कर	ऊं, ओं	जूं, ज्यूं, जूक्कर, ज्यूक्कर	क्यूं, क्यूक्कर

३. सर्वनाम-जात-क्रिया-विशेषणों की व्युत्पत्तियां :—इन क्रियाविशेषणों की व्युत्पत्तियां नीचे दी जाती हैं :—

(१) इब्, जिब्, किब्—इनमें सर्वनाम के अंग 'इ-', 'जि-', 'कि-' पर सर्वनामों के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है (दे० २.५.२०)। 'ब्' की उत्पत्ति डा० चैटर्जी ने प्राकृ० 'ब्' से मानी है, यथा—एवं→एब्ब।

(२) 'जद्' और 'कद्' क्रमशः 'यदा' और 'कदा' से बने हैं।

(३) ओड्वर्, जोड्वर्, कोड्वर् में सार्वनामिक अंग 'ओ-', 'जो-', 'को-' के लिए देखिए (२.५.२०)।

शेष पदग्राम हैं :— -ड्- तथा -बर्। -ड्- ← प्राकृ० स्वार्थे -ड, -बर्-←सं० वार।

(४) इत्, उत्, जित्, कित्—सार्वनामिक अंग 'इ-', 'उ-', 'जि-' तथा 'कि-' के लिए देखिए (२.५.२०)—

-त् ← सं० -तः यथा—इतः, कुतः आदि।

(५) अडें, आडें, उडें, ओडें, जडें, कडें तथा अठें, आठें, उठें, ओठें, जठें कठें इन पदों के सार्वनामिक पदग्रामों पर सर्वनामों के अन्तर्गत विचार हुआ है। पदग्राम -ड् और -ठ् ← सं० -त्र यथा अत्र, यत्र, कुत्र आदि।

(६) यहां, कहां, कां, वहां, वां, जां—सार्वनामिक अंगों की उत्पत्ति सर्वनामों के अध्याय में देखी जा सकती है। पदग्राम -हां, 'यहां', 'वहां' में पूरी तरह विद्यमान है। परन्तु जां, कां आदि रूपों से हकार ध्वनि का लोप हो गया है और कांह में वर्णविपर्यय से हकार ध्वनि पीछे चली गई है। -हां ← इह अथवा सं० स्मिन्।

(८) इतोहड्, उतोहड्, जितोहड्, कितोहड्—इत्, उत्, जित्, कित् पर उपर विचार हो चुका है। दूसरा पदग्राम 'ओड्' ← हिन्दी 'ओर' है और हकार ध्वनि का स्वतः आगम हो गया है। हिन्दी 'ओर', हरि० 'ओड्' की व्युत्पत्ति संदिग्ध है।

(९) ईघें, ऊघें, जीघें, कीघें—इनमें इंह, ऊंह, जींह, कींह आदि सर्वनामों के अन्तिम 'ह्' ने कठोर होकर 'घ्' का रूप धारण कर लिया है तथा 'ए' अधिकरण कारक का चिह्न है। इंह, ऊंह आदि की व्युत्पत्ति पर सर्वनामों के अन्तर्गत विचार हुआ है।

(१०) ईघान्, ऊघान्, जीघान्, कीघान्, न्यूघान्—यहां ईघ्- आदि के साथ कर्म-कारक का परसर्ग ने जुड़ा हुआ है जो स्थानवाची भी बन जाता है। उसका अन्तिम 'घ्' लुप्त हो गया है।

(११) न्यूं, न्यों, ऊं, ओं, जूं, ज्यूं, क्यूं—सार्वनामिक अंगों के लिए सर्वनामों का अध्याय देखा जा सकता है। 'न्यूं' में 'न्-' तथा अन्य पदों में अनुस्वार संस्कृत 'एवम्' के पदान्त 'म्' से आई है यथा एवम् → एव्वं → इव्वं → -इउं।

अन्तिम रूप के साथ 'य्-' श्रुति सन्निवेश से 'यू' तथा अनुस्वार के पूर्व प्रतिबिम्ब से 'न्यू' सम्पन्न होता है।

(१३) न्यूक्कर, जूक्कर, ज्यूक्कर, क्यूक्कर—सार्वनामिक रूपों के लिए देखिए (२.५.२०)।

दूसरा पदग्राम कर् ← सं० √कृ + प्राकृ० ल्यप्, करिय → करि → कर्।

४. क्रिया-विशेषणों में निश्चय और अनिश्चय की ध्वनि :—सर्वनामजात क्रिया विशेषणों के साथ 'ए' (और जिन क्रियाविशेषणों के अन्त में 'आं' है उनके साथ 'हे') के संयोग से निश्चय की ध्वनि व्यक्त की जाती है। इसे बलसूचक प्रत्यय की संज्ञा भी प्रदान की जा सकती है। इसके उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

इवे (अभी), जदे, जिवे (जभी ← जब ही), इते (यहीं), जाहे, अड़ेए, ओड़ेए, जड़ेए आदि।

परन्तु 'कद्', किन् किंतोह^३ आदि प्रश्नसूचक क्रियाविशेषणों के साथ प्रयोग करने पर निश्चय और उपेक्षा दोनों भावों की व्यंजना होती है :—

(१) कदे थ्या जा ? (कभी हाथ आ जाओ ?) अर्थात् अवश्य हाथ आओगे, अतः निश्चय।

(२) मेरी ओड़ त कदे जा (मेरी ओर से कभी जाओ) उपेक्षा।

इसके अतिरिक्त तालिका में निर्दिष्ट क्रिया-विशेषणों से पूर्व 'चाहे' लगा कर अनिश्चय और उपेक्षा का भाव प्रकट किया जाता है और 'ए' संयुक्त प्रश्नसूचक क्रिया-विशेषणों से पूर्व 'चाहे' लगा देने पर उपेक्षा के भाव को बलसहित प्रकट किया जाता है।

उदाहरण :—चाहे जद् (अनिश्चय और उपेक्षावाची), चाहे जिव; चाहे जित् (चाहे जहां); चाहे इव् (चाहे अब), चाहे कदे (चाहे कभी), चाहे किते (चाहे जहां)।

५. 'ए' और 'हे' हिन्दी 'ही' ← सं० हि के रूपान्तर हैं।

चाहे ← √चाह ← प्राकृ० चाहइ ← सं० चक्षते।

६. क्रियाविशेषणों के साथ परसर्गों का प्रयोग :—संहित भाषा संस्कृत के 'कुतः' 'ततः' आदि अव्यय किसी विभक्ति अथवा परसर्ग की अपेक्षा किए बिना 'को' और 'से' दोनों विभक्तियों का अर्थ घोषित करते थे, परन्तु आ० भा० आ० भा० के सर्वनाम जात क्रि० वि० अव्यय केवल 'को' के द्योतक ही रह गए हैं, अथवा इसी बात को यों भी कहा जा सकता है कि इनके पीछे 'को' परसर्ग की अपेक्षा नहीं रहती, परन्तु 'से' की अपेक्षा बनी रहती है। इसी प्रकार हरि० में 'से' के पर्यायावाची परसर्ग 'ते' की अपेक्षा बनी रहती है, यथा—किन् ते या कित्ते, जित्ते, उत्ते, उड़ते, अड़े ते, हरियाणवी—३६

कद् ते, कितोहड् ते आदि। इसी प्रकार 'तक' के अर्थ में कालवाचक और स्थान-वाचक क्रि० वि० के साथ 'तोड़ी' परसर्ग का प्रयोग किया जाता है।

७. त और 'तोड़ी' पर संज्ञाओं के अध्याय में कारक चिह्नों और परसर्गों के अन्तर्गत विचार हो चुका है।

८. क्रियाविशेषणों की आवृत्ति :—(क) संस्कृत के 'यत्र तत्र' की पद्धति पर हरि० में भी क्रि० वि० की आवृत्ति की जाती है, यथा :—

कदे-कदे, जद्-कदे, किते-किते, जित्-किते, जद्-जद्, जित्-जित्, इत्-इत्, न्यू-न्यू।

(ख) क्रिया-विशेषणों की आवृत्ति करते हुए उनके बीच में निषेधात्मक अव्यय 'न' या 'नां' भी पाया जाता है—

कदे न कदे या कदे नां कदे, किते न किते, या, किते नां किते, आड़ें न ओड़ें, अठें नां उठें।

९. क्रिया-विशेषणों के रूप में प्रयुक्त होने वाले अव्यय :—काल, स्थान; दिशा और रीतिवाचक अन्य अव्ययों की सूची नीचे उद्धृत की जाती है। ये अव्यय प्रा० भा० आ० भा० और म० भा० आ० भा० में या तो क्रिया-विशेषण ही थे अथवा कतिपय अन्य पद थे, जो कालान्तर में क्रि० वि० अव्यय बन गए।

(क) कालवाचक अव्यय

- (१) आज् ← अज्ज ← अद्य।
- (२) काल्ह ← सं० कल्यम् ← प्राकृ० कल्लं, कल्लिह।
- (३) तुरत ← सं० तुरते वर्तमान कालिक कृदन्त, तुरत्, त्वरिते, पा० तुरति → प्राकृ० तुरै, तुवरन्त, त्वरन्त।
- (४) तड़के (कल), (तड़का के साथ 'ह' प्रत्यय लगा कर)।
- (५) नित् ← नित्यम्।
- (६) म्हेस या हमेस् ← हमेशा هميشه।
- (७) रोज् या र्होज् ← रोज् روز।
- (८) फेरु ← सं० स्फुर् + ल्यप् = स्फुरि → फिरि → फिर, फेरु।
- (९) आगे ← अग्रे ← सं० अग्रे।
- (१०) पाँछें ← सं० पश्च।
- (११) परसू ← सं० पर + श्वस्।
- (१२) तरसू ← सं० त्रि + श्वस्।
- (१३) सदा ← सं० सदा।
- (१४) कदे बी ← कदापि।
- (१५) बारम्बार और बार-बार ← सं० वारंवारम्।

(ख) स्थानवाची

- (१) नेड़ें ← निकट → निगड → निअड → नेड + ऐ ।
 (२) धोरें ← सं० धुरि (?) ।
 (३) पाह्^x, पा ← सं० पार्श्व → पास → पाह्^x → पा ।
 (४) दूर ← सं० दूरम् ।
 (५) पार् ← सं० पारं, पारे ← पा० पारं, प्राकृ० पार ← हरि० पार् ।
 (६) आर्-पार् ← अवार-पार ।
 (७) बार्, बाह्^x ← सं० बहिः ← प्राकृ० बाहि, बाहिरअ ।
 (८) भीत्तर् ← सं० अभ्यन्तर ← पा० अब्भन्तर ।
 (९) नजीक ← नजदीक ^{نزدیک} ।
 (१०) तलें ← सं० तलः ← प्राकृ० तथा पा० तल ।
 (११) उरें ← सं० अवरे ।
 (१२) परें ← सं० परे ।
 (१३) उरॉह्न^x ।
 (१४) परॉह्न^x ।
 (१५) आँगो ।
 (१६) पाँछे ।

(ग) रीतिवाचक अव्यय

- (१) खास्कर् ← खासकर ।
 (२) जणूं ← सं० जानातु ← जाणउ ← जणों, जणूं ।
 (३) भट्-पट् ← भटिति-पटिति ← भटि-पटि ← भट्-पट् ।
 (४) ठीक ← सं० स्थिरक ।
 (५) तोलु ← सं० उत्तापिलः ← उत्ताविल ← उतावल → तावला → तोला ।
 (६) अलबत्तु ← अलबत्तः ^{البت} ।

(घ) परिमाणवाचक अव्यय

- (१) ओर ← सं० अपर, अवर ।
 (२) भोत् ← सं० बहुत्वम् ← पा० बहुतं ← प्राकृ० बहुत ।
 (३) जादा ← ज्यादा ।
 (४) कम, कमती ← कम ^{کم} ।
 (५) किम्मे ← सं० किम् ।
 (६) बत्ती ।
 (७) टुकेक, ज़रा → ज़रा (^{١, ٢}) ।

निषेधसूचक अव्यय तथा स्वीकारात्मक अव्यय

(१) निषेधसूचक :—न, नां, नहीं, नहीँ, नांह, नीं, नांहीं इन सबका विकास संस्कृत 'नहि' से हुआ है।

कोन्नों, कोन्या अर्थात् कोई नहीं।

मत्, मत्नां, मत्नीं इनका विकास संस्कृत 'मातावत्' से हुआ है।

(२) स्वीकृति सूचक :—हम्बेँ←सं० आम वै; हां←सं० आम ;
जरूर→जरूर , ضرر ।

१०. हरि० में निम्नलिखित पदों का प्रयोग भी क्रि० वि० अव्यय की भांति किया जाता है—जाण कें, देख कें, भाल कें आदि।

यह रूप धातु पदों के साथ, जिनका रूप ल्यप् प्रत्यय के लोप पर ऐसा रह गया है, सं० कृ के ल्यप् प्रत्यय से निर्मित करिय→करि→कर् रूप लगा कर, किया जाता है।

११. क्रिया-विशेषणों के वाक्यांश :—उपरि निर्दिष्ट अव्ययों के पारस्परिक मेल से अथवा अव्यय और अन्य पदों के मेल से क्रियाविशेषणों के वाक्यांश बनते हैं, यथा :—

ओर् किते, कदे नां, किते नां, इब् कें, पुर् कें, कदात् नां, किम्मे नां,
कदे नां, नांह तें, नहीँ तें, और जादा, कमती बत्ती।

१२. इत्णां, उत्णां, जित्णां, कित्णां आदि सर्वनाम-जात-विशेषणों का प्रयोग क्रिया-विशेषणों के रूप में भी किया जाता है। सच तो यह है कि क्रिया-विशेषण और विशेषणों में पहचान करनी असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाती है।

उदाहरण :—इत्णां रपइआ कमाया (विशेषण)।

बालक इत्णां रोया (क्रिया-विशेषण)।

आठवां अध्याय

संयोजक

१. दो शब्द, वाक्य अथवा वाक्यांशों को मिलाने वाले अव्ययों को संयोजक कहते हैं। 'ओर', 'अर्', 'या', 'अक्', 'चाहे' आदि इसी श्रेणी के अव्यय हैं।

२. संयोजक अव्ययों का वर्गीकरण :—

संयोजक अव्ययों का वर्गीकरण दो आधारों पर किया जा सकता है—

(१) उनकी अपनी संरचना के आधार पर।

(२) संयोज्य विषय के आधार पर।

(१) संरचना के आधार पर संयोजक अव्यय तीन प्रकार के हैं :—

(क) एक पद-ग्रामीय संयोजक अव्यय—ऐसे अव्यय जिनकी संरचना में एक ही पदग्राम मिलता है, इस श्रेणी में अणगे, यथा—ओर, अर्, बी इत्यादि।

(ख) बहु पद-ग्रामीय संयोजक अव्यय—इस श्रेणी के अव्ययों के निर्माण में एक से अधिक पदग्रामों का योग होता है। चूंकि ये प्रत्ययों के योग से बने हुए पद होते हैं, इस लिए इन्हें यौगिक संयोजक अव्यय भी कहा जा सकता है। 'चाहे'—चाह् + ए के संयोग से बना है और मूलतः यह एक क्रियापद है जिसका अर्थ है 'तुम चाहते हो या वह चाहता है', परन्तु संयोजक के रूप में यह एक अव्यय ही है जिस का अर्थ है '-या' यही स्थिति 'जाण् + ऊं' = जाणू → जणू अर्थात् में 'जानू', पर संयोजक अव्यय के रूप में इसका अर्थ है—'मानो कि'। इस प्रकार के पद बहु-पद-ग्रामीय संयोजक अव्यय कहलाते हैं।

(ग) सापेक्षक अव्यय—इस श्रेणी के अव्ययों के दो भाग होते हैं—एक भाग वाक्य के आरंभ में आता है तो उसका दूसरा अनुपूरक भाग सामान्यतः वाक्य के मध्य में आता है। (देखिए आगे आश्रित वाक्य संयोजक अव्यय)

(२) संयोज्य वस्तु के आधार पर मूलतः इन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

(क) आश्रित वाक्य संयोजक—इनमें से प्रथम श्रेणी के अव्यय दो समान

पदों, वाक्यों अथवा वाक्यांशों को जोड़ते हैं जबकि दूसरी श्रेणी के अव्यय केवल आश्रित वाक्यों को जोड़ने के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। इनमें समान-वाक्य-संयोजक के आगे चार भेद किए जा सकते हैं—

(अ) समुच्चय बोधक । (आ) प्रतिषेधक ।

(इ) विभाजक । (ई) अनुधारणात्मक ।

आगे इस विभाजन के आधार पर हरियाणवी के प्रत्येक संयोजक अव्यय पर विचार किया जाएगा ।

(ख) समान वाक्य संयोजक अव्यय ।

३. हरियाणवी में समुच्चय बोधक अव्यय निम्नलिखित हैं :—

ओर्, अर्, र्—अपर→अअर→अर→र् ।

अपर→अअर→अवर→ओर् ।

वी←अपि । यथा—राम ओर् स्याम्, या राम् अर् स्याम्—में ओर् तें या में अर् तें या में र् तें ।

टिप्पणी :—हरियाणवी में 'ओर्' का बहुत ही कम प्रयोग होता है। संज्ञाओं को जोड़ने के लिए 'अर्' का प्रयोग अधिकतर होता है और 'र्' का प्रयोग बिल्कुल नहीं होता। सर्वनामों को उपर्युक्त किसी भी संयोजक से जोड़ा जा सकता है परन्तु यहां अधिकतर 'र्' का प्रयोग किया जाता है।

४. हरियाणवी में अधिकतर प्रचलित 'प्रतिषेधक अव्यय' केवल 'पर्'←सं० परं है, यथा तूँ^x जा तें से पर् या ठीक् कोन्या (तुम जा तो रहे हो पर यह ठीक नहीं है)। कहीं कहीं निम्नलिखित का प्रयोग भी प्रतिषेधक अव्यय के रूप में मिल सकता है—

लेक्कन् ← फा० लेकिन لیکن बल्कन् ← अ० बल्कि बल्क यहां लेकिन के सादृश्य के आधार पर अन्त में 'न्' आ गया है। मगर् ← फा० मगर مگر, वॉक्की←फा० वाकी وائی ।

५. हरियाणवी के विभाजक अव्यय निम्नलिखित हैं :—

क् ← सं० किम् या अथ किम् → हरि० अक् → क् ।

अक् ← सं० अथ किम् ।

उदाहरण :—कूण बडा ? में क् तें, या, में अक् तें ।

या ← फा० या, यथा—तें या में ।

चाह : व्युत्पत्ति के लिए देखिए (२.७.५) ।

उदाहरण :—खा चाहे पी । चाहे खा चाहे पी ।

के ← सं० किम्, यथा—के माणस् के लुगाई सभ की रा पड़ेगी (आदमी हो या स्त्री सभी की राय पड़ेगी) ।

नां, नें ← सं० न। यथा—नां तें नां में, या, में नां तें, या, नें में नें तें।

६. हरियाणवी में अनुधारणात्मक संयोजक अव्यय केवल 'तें' ही है—

तें ← सं० तदा या ततः, ओहू^x नां आया तें में जांगा (वह नहीं आया तो मैं जाऊंगा)।

टिप्पणी—कहीं कहीं 'तें' के स्थान पर इसका प्रतिरूप 'ज्यां तें' भी मिल सकता है।

(२) असमान पद संयोजक अव्यय :—

७. हरियाणवी में असमानपद संयोजक निम्नलिखित हैं :—

० (शून्य) अक्, के, जूं या ज्यूं, जे या जें, जणूं, जें--तें, चाहे—पर।

उदाहरण :— ०, अर्थात् शून्य (कि) ओहू^x बोल्त्या, तें मेरा किस्में नाहीं लाग्दा (वह बोला कि तुम मेरे कुछ नहीं लगते)।

यहां कोई संयोजक अव्यय न होने से 'शून्य संयोजक' समझा जा सकता है। इसके स्थान पर 'के' या 'अक्' का प्रयोग भी हो सकता है।

जूं या ज्यूं (जिससे), कार् जूं या ज्यूं गुजर चॉल्लें। जणूं (मानों)।

बॉज्या ए नंगाड़ा रणजीत् का जणूं हॉक्यम् आया (रणजीत अर्थात् योधा का नंगाड़ा इस प्रकार बज उठा मानों कोई बड़ा भारी राजाधिराज आया हो, आ रहा हो)

चाहे—पर, चाहे सारे छिक् लें पर् तोंह^x नां छिक्।

जें—तें = (यदि—तो)।

जें तोंहू^x आ गया तें पिटेगा (यदि तुम आ गए तो पिटोगे)।

८. व्युत्पत्ति :—तें के लिए देखिए २.८.६।

जें = यदि → जद् → जें।

नौवां अध्याय

विस्मयादि बोधक अव्यय

१. इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषा मानव मात्र की आत्माभिव्यक्ति का उपयुक्त तथा सशक्त साधन है किन्तु जब कभी वह हर्ष, भय अथवा इसी प्रकार की अन्य भावनाओं से अत्यधिक उद्वेलित हो उठता है तो उसकी आन्तरिक मन इतनी तेज़ी के साथ और एक विचित्र ढंग से कार्य करता है कि उसकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति एक संकेत मात्र बन कर रह जाती है—संकेत जो कि समस्त भावनाओं को एक या दो शब्दों में ही अभिव्यक्त कर छोड़ता है। ऐसे शब्द अथवा शब्दों के समूह को सामान्यतः 'विस्मयादि बोधक अव्यय' की संज्ञा प्रदान की जाती है। इस अभिव्यक्ति में चाहे वाक्य की सी पूर्णता विद्यमान नहीं होती, फिर भी यह एक स्वतः पूर्ण अभिव्यक्ति होती है और कभी कभी एक वाक्य खण्डात्मक अनुपूरक अभिव्यक्ति भी इसका अनुसरण किया करती है।

२. विस्मयादि बोधक अव्ययों का सामान्य परिचय ही प्रस्तुत किया जाया करता है क्योंकि भावनाओं का सागर इतना विशाल है कि उसकी प्रत्येक तरंग को साकार अभिव्यक्ति का रूप देकर एक ही स्थान पर प्रस्तुत करना संभव प्रतीत नहीं होता। उपभाषाओं के विषय में यह तथ्य और भी अधिक कठिन प्रतीत होता है क्योंकि उपभाषाएं किसी भी साहित्यिक भाषा की अपेक्षा इस दृष्टि से अधिक समृद्ध हुआ करती हैं। तथापि इस अध्याय में हरियाणवी के विस्मय आदि बोधक अव्यय-मूल अव्यय—के प्रत्येक उदाहरण पर विचार करने का प्रयास किया गया है। अन्य प्रकार के उदाहरण भी यहां पर्याप्त मात्रा में मिलेंगे तथापि आवृत्ति मूलक विस्मयादि बोधक अव्यय को सोमित करना सर्वथा असंभव जान पड़ता है।

३. सावधानी के विचार से विस्मयादि बोधक अव्ययों के सम्बन्ध में एक बात और कह देनी आवश्यक प्रतीत होती है कि विस्मयादि बोधक अव्ययों में उच्चारण की दृष्टि से एक विशेष प्रकार का बलाघात रहा करता है। यदि इन्हें संदर्भ अथवा स्थान का ध्यान रखे बिना वैसे ही पढ़ लिया जाए तो भावाभिव्यक्ति एक दम भिन्न भी हो सकती है। कई एक स्थितियों में उच्चारण के समय प्रयुक्त बलाघात भी पर्याप्त नहीं होता और वहां बोलने वाले के ठीक-ठीक अभिप्राय को जानने के लिए हमें मुखकृति की ओर भी ध्यान देना पड़ता है।

उपर्युक्त कथन को पुष्टि के निमित्त हरियाणवी 'ऐ' का उदाहरण लीजिए :—

ऐ

(१) सामान्य स्वर—स्वीकारात्मक, अपनी बात जारी रखिए, मेरा ध्यान आप की ओर ही है।

- (२) उच्चारोही विलम्बित स्वर, परन्तु नम्र—प्रश्न सूचक ।
- (३) उच्चारोही विलम्बित, कठोर और तीव्र स्वर—भल्लाहट, और नकारात्मक ।
- (४) कण्ठ्य हकारात्मक ध्वनि से पूर्व आकस्मिक अन्त—उदासीनता द्योतक ।
- (५) व्यवधानसहित साधारण अवरोही स्वर—आश्चर्य अथवा दुविधा द्योतक ।
- (६) अवरोही एवं आरोही—अनुमोदन सूचक ।
- (७) उच्चारण पर एक विशेष प्रकार का बल देते हुए रह-रह कर साधारण स्वर—व्यवधान अपेक्षित है, ताकि दूसरा पद अपना तर्क प्रस्तुत कर सके ।

(न) सामान्य स्वर परन्तु अन्त में किंचित् विलम्बित—ठीक है, देख लूंगा ।

टिप्पणी :—अन्तिम उदाहरण का अभिप्राय केवल मुखाकृति से ही स्पष्ट होता है। ऐसा सामान्यतः दो व्यक्तियों की बात-चीत के बीच ही होता है। बात-चीत का संदर्भ और मुखाकृति ही वास्तविक अभिप्राय का परिचय दे सकते हैं। यदि मुखाकृति अन्यथा है तो इसका अर्थ 'हंसी—मजाक' भी हो सकता है।

४. विस्मयादि बोधक अव्ययों की संरचना—संरचना की दृष्टि से विस्मयादि बोधक अव्ययों को तीन विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है—(१) मूल अव्यय (२) यौगिक (३) आवृत्तिमूलक अव्यय अथवा वाक्यखंडात्मक ।

- (१) मूल अव्यय—इस वर्ग में ऐसे अव्यय सम्मिलित हैं जो मूल-रूप से हर्ष, भय, शोक आदि भावों की अभिव्यक्ति के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। इस तथ्य के अधिक स्पष्टीकरण के लिए 'स्याबास्' और 'निमस्ते' शब्दों को लीजिए। 'स्याबास्' (फा० शाबाश) मूलतः विस्मयादि बोधक अव्यय है और इसके साथ '-ई' प्रत्यय के संयोग से 'स्याबासी' संज्ञा बनती है। 'निमस्ते' (सं० नमस्ते) हरि० में मूल आदर सूचक अव्यय है। संस्कृत में भी इसका प्रयोग इस अव्यय के रूप में हो सकता है, पर वहां यह मूल अव्यय न रह कर वाक्य-खंडात्मक अव्यय ही रहेगा। हरियाणवी में इसका प्रयोग संज्ञा के रूप में भी होता है, यथा—'कौक्कें न मेरी निमस्ते कहिओ'। परन्तु उदाहरण से ही स्पष्ट है कि यह शब्द एक भाव का द्योतक है जो मूल रूप से अव्यय है और तत्पश्चात् उसी भाव के लिए संज्ञा भी है। इसलिए हमने इसी प्रकार के अन्य उदाहरणों को 'मूल-अव्यय' की श्रेणी में रखना अधिक संगत समझा है।

- (२) यौगिक—इस श्रेणी में ऐसे शब्द सम्मिलित हैं जो मूलतः संज्ञा, क्रिया अथवा क्रिया विशेषण हैं अथवा प्रत्यय के संयोग से बनाए जाते हैं—जैसे- ‘आँच्छा’ मूलतः विशेषण है परन्तु विस्मयादि बोधक अव्यय के रूप में भी प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार ‘ले’ मूलतः क्रिया रूप है।
- (३) आवृत्तिमूलक या वाक्यखंडात्मक—इस श्रेणी में ऐसे ‘मूल अव्यय’ आते हैं जिन की बार-बार आवृत्ति होती है या, दो या अधिक अव्यय समस्त पद का रूप धारण करते हैं यथा—‘राम्-राम्’, ‘ए राम्’ ‘आँरी ?’ इत्यादि।

५. व्युत्पत्ति :—प्रत्येक मूल विस्मयादि बोधक अव्यय के सामने उसकी व्युत्पत्ति निर्दिष्ट की गई है। यौगिक विस्मयादि बोधकों के लिए संबंधित अध्याय देखा जा सकता है। आवृत्तिमूलक अथवा वाक्यखंडात्मक विस्मयादि बोधक के सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि साधारणतः भाषा के प्रचलित रूप से ही वाक्यांश अथवा मुहावरे ग्रहण किये जाते हैं और उनकी सहायता से वाक्यखंडात्मक विस्मयादि बोधक की रचना होती है, उदाहरणार्थ संस्कृत के ‘हा हतोऽस्मि’ बोधक के लिए हरियाणवी में इसका पर्यायवाची वाक्यखंड ‘हा रं मरग्या’ या ‘हा मरग्या रं’ ले लिया गया है। यहां ‘हतोऽस्मि’ का समानार्थक ‘मरग्या’ ले लिया गया है। इसलिए ‘हतोऽस्मि’ के विकासात्मक रूपों का अवलोकन सर्वथा निरर्थक सिद्ध होगा। जहां तक क्रिया रूप ‘मरग्या’ का सम्बन्ध है, इस दिशा में क्रिया सम्बन्धी अध्याय पर्याप्त समझना चाहिए।

६. नीचे हरियाणवी के विस्मयादि बोधक अव्ययों की अर्थविचार से वर्गीकृत सूची प्रस्तुत की जाती है :—

(क) सम्मति सूचक :—

(१) मूल सम्मति सूचक अव्यय निम्नलिखित हैं—

आं←सं० आम् → प्राक० आम्, हां←सं० आम् → आम्
→ प्राक० आम्, हूँ←सं० हुम् → प्राक० हूँ, ऊं←सं० हुम्
→ प्राक० हूँ।

सम्मति सूचक हैं, ऐं←सं० हुम् → प्राक० हूँ→हं→हैं→ऐं।

क्रोध अथवा असम्मति सूचक :—

हैं←सं० हम् → प्राक० हं→हैं, जी←सं० आर्य→प्राक० अज्ज
→जी, ओ←सं० उ→प्राक० उ, आहो (हां), ओत् (हां)।

(२) यौगिक सम्मति सूचक अव्यय :—

जरूर←फा० जरूर, आँच्छा या आँच्छ्या, ठीक्, बेसक्क्।

(३) आवृत्तिमूलक अथवा वाक्यखंडात्मक सम्मति सूचक :—

भोत् खूब्, भोत् आच्छ्या, भोत् ठीक्, हां जी, आहो जी,
आच्छ्या जी, जी! न्यूं की न्यूं से !!

(ख) नकारात्मक अव्यय :—

(१) ध्यान देने योग्य बात है कि ऐं और हूं तथा ऊं और हूँ पृथक्-पृथक् रूप से मूलतः सम्मति सूचक अव्यय हैं किन्तु जब ये दोनों मिल जाते हैं और अन्तिम अनुनासिक एक ऋटके के साथ आकस्मिक रूप से समाप्त होती है तो ये मूल-नकारात्मक-अव्यय में बदल जाते हैं, अर्थात् ऐं-हैं, ऊं-हूँ असम्मति सूचक अव्यय हैं। हरियाणवी में केवल ये ही मूल-नकारात्मक-अव्यय हैं (प्रा० में केवल 'हं' ही इस बात का द्योतक रहा है)।

(२) यौगिक :— नां, नीं, न्हीं, नीहं।

(३) आवृत्तिमूलक अथवा वाक्यखण्डात्मक :—

कोन्नीं या कोन्या—कोई नहीं, नां ते या नांहं ते (नहीं तो), नांहसरी, नां सरी, मूल् वो नां, जम्माए नां (बिल्कुल नहीं), क्यूकरे कोन्यां (किसी तरह भी नहीं), नां भई, नां जी, नां री, नां र।

(ग) अनुमोदन सूचक :—

(१) मूल-अव्यय :—

स्याबास—फा० शाबाश, वेसक या वेस्यक—फा० वेशक, ओ (बहुत अच्छे ?), ओह (बहुत अच्छे ?), वाह^x।

(२) यौगिक अव्यय :—

खूब्—न्यू!, अच्छे!

(३) आवृत्तिमूलक अथवा वाक्यखण्डात्मक अव्यय :—

स्याबास्-स्याबास्, स्याबास्-रै-स्याबास्, वाह-वा, क्या कहणें, न्यूं एं, भोत् अच्छे, भोत्ते आँच्छ्या, कच्मल् कटगे, जोर् काम्यल्, गजब् ढा दिआ, वाह र ऐंन्डी खोप्पर; लाग्दार, चाले पाड़् दिए। मखा न्यूं रै मखा न्यूं।

टिप्पणी :—अनुमोदन सूचक अव्ययों के साथ हर्षोन्मीलित मुखाकृति तथा नेत्र, ओष्ठ, सिर आदि अंगों का संचालन और तालियां बजना आदि बहुत ही स्वाभाविक क्रियाएं हैं।

(घ) घृणा अथवा विरक्ति सूचक :—

(१) मूल अव्यय :—

हुं ← सं० हुम् → प्राकृ० हुं, उई, अह ← सं० अहह → प्राकृ० अहह, छी, ओए ← सं० अपगते → प्राकृ० ओ, थू, आक्-थू, हाए, हिस्त, ई, हप्।

(२) यौगिक अव्यय :—

राम्, दूर्, भई, हट्, भाज् ।

(३) आवृत्तिमूलक या वाक्यखण्डात्मक :—

चाल्-चाल्, उई-उई, राम्-राम्, थू-थू, थुड़ी-थुड़ी, हाए हाए, छी-छी, हत्तेरी, हत्तेरेकी, मर्या मर्या कित्ते का, नांसरी तै नांसरी ।

टिप्पणी :—इस भाव की अभिव्यंजना के साथ नाक, ओष्ठ आदि का सिकुड़ना रूपी स्वाभाविक क्रियाएं भी साथ-साथ होती हैं ।

(ङ) विस्मय बोधक :—

(१) मूल अव्यय :—

आ←सं० आ→आ→प्राकृ० आ, ओह, ओहो←सं० अहो→प्राकृ० अहो→अप० उहु। हम्बे ! (वस्तुतः), हँ ! ऐं ! उई ।

टिप्पणी :—लगभग सभी की व्युत्पत्तियां ऊपर दिखाई जा चुकी हैं । विस्मय के कारण उच्चारण में अन्तर आने से ये अव्यय विस्मय का बोध कराते हैं ।

(२) यौगिक :—

ले, साचें, साच्यां ।

(३) आवृत्तिमूलक या वाक्यखण्डात्मक :—

उई उई, हाए-हाए, राम्-राम्, हरे राम्, हरे-हरे, बाप्-रे बाप्, वल्लहे (वाह ले), कोड़ बणी । या के बणी ।

(च) प्रश्नसूचक :—

प्रश्नसूचक मूल अव्यय लगभग वही हैं जो ऊपर निर्दिष्ट किए जा चुके हैं अर्थात् ऐं, हँ, ऊं, आहो (सं० हंहो → प्राकृ० हंहो, हंभो → हूँ आदि अर्थ-भेद के लिए उच्चारण में अन्तर आ जाता है (देखिए ६.३) :—

यौगिक: के, क्यूकर, कयूं ।

प्रश्नसूचक अव्ययों के उदाहरण सामान्यतः कम ही मिलते हैं क्योंकि इस भाव की अभिव्यक्ति के लिए अधिकतर सांकेतिक भाषा का प्रयोग ही किया जाता है विशेषतः उस समय जबकि गुप्त वार्ता अभिप्रेत हो ।

(छ) यंत्रणा अथवा मनः कष्ट द्योतक—

ऊं ← सं० ऊम् ।

आ ← सं० आस् → प्राकृ० आ० ।

हाए या हा (सं० हा → प्राकृ० हा० → हा ।

ओ, ओह ← सं० अहो → प्राकृ० अहो ।

आय् या हाय् ← सं० हा ।

- (२) यौगिक - राम् ; हा रें, मर् गया ।
- (३) आवृत्तिमूलक अथवा वाक्यखंडात्मक अव्यय—आए रें, हाए रें, हाए री, आए री, हाए री मा, ए मा मा-री, हाए राम्, हा राम्, हरे राम्, मर्ग्या रे, मर् गर्ग्या रें ।
- (ज) हर्ष सूचक—सामान्यतः अनुमोदन के माध्यम से ही हर्ष अथवा हर्षातिरेक अभिव्यक्त किया जाता है अथवा इसे यों भी कहा जा सकता है कि हर्षातिरेक ही अथवा हर्षोल्लास की तोत्र अभिव्यक्ति ही अनुमोदन का आधार है । इसलिए इस भावाभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होने वाले अव्यय अनुमोदन सूचक अव्यय ही समझने चाहिए ।
- (झ) करुणा द्योतक—मनः कष्ट अथवा करुणा की भावना को बिलगाना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है । सामान्यतः एक ही अव्यय किंचित् उच्चारण-भेद से दोनों भावों को अभिव्यक्त करता है ।
- (ञ) सम्बोधन के लिए प्रयुक्त होने वाले अव्यय :—
- (१) मूल अव्यय :—
ए←सं० ए→प्राक्० ए, ओ←सं० ओ→प्राक्० ओ, हो←सं० हो→प्राक्० हो, आं हो←सं० हं हो→प्राक्० हं भो, हं हो→आं हो, रे, री-, पूस (बिल्ले के लिए), तो, तोए (कुत्ते के लिए), बरें (बैल के लिए), एड़े (भैंस के लिए), चेह् (बकरी के लिए), मखा, जी, ए, हे (सं० हे) अरें, ओल्लक (सं० अलक्ष्य) ।
- (२) यौगिक :—
दिखे, भागवान् । आओ (बन्दर बुलाने के लिए), ले (बन्दर भगाने के लिए) ।
- (३) आवृत्तिमूलक—पशुओं के सम्बोधनवाची अव्यय सभी आवृत्तिमूलक हैं । कुछ अन्य उदाहरण निम्नलिखित हैं :—
आं री, आं रें, आं रे, ए री, अरें रें, री जी या जी री, हीओ-हीओ (गऊ के लिए) ।
- (ट) सन्तोष की भावाभिव्यक्ति के लिए :—
खैर् (फा० संज्ञा खैर) और क्रि० वि० आँच्छा का प्रयोग किया जाता है । इस लिए इनको यौगिक अव्ययों की संज्ञा प्रदान की जा सकती है ।
- (ठ) अनुकार सचक :—एक ही ध्वनि की आवृत्ति से इनकी रचना होती

है, अतः इन्हें आवृत्तिमूलक अव्ययों की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। कुछ एक उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

हा—हा, ही—ही, हु—हु ।

खिर्-खिर्, घुरड़-घुरड़, सुरड़-सुरड़ ।

गबलू-गबलू, गरलू-गरलू ।

७. आदर अथवा नमस्कार आदि के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्द तथा दूसरी ओर से आशीर्वाद के वचन भी इसी वर्ग में आते हैं। आशीर्वाद के लिए साधारणतः क्रिया के रूपों का प्रयोग किया जाता है।

आदरसूचक :—राम्-राम् । निमस्ते (सं० नमस्ते) । अदेस् (सं० आदेश) साधु के लिए, नराण् (सं० नारायण) । डिंडोत् (दंडवत्), दंडोत् । पालांगां—पायलागूं (पांव पडूं), पायां पडूं जी (सामान्यतः स्त्री वर्ग इसका प्रयोग करता है) ।

आशीर्वाद : जीता रें, खुस रें, रॉज्जी रें, लधो-बधो, दूधे न्हाओ पूते फलो, हजारी उमर हो, आदि ।

परिशिष्ट

१. हरियाणवी में फारसी ध्वनियों का विकास ।
२. हरियाणवी के नमूने—लोक गाथाएं तथा गीत ।

परिशिष्ट १

फारसी ध्वनियों का विकास

१. मुसलमानों के साथ-साथ फारसी ने भारत में पदार्पण किया। दिल्ली कई सदियों तक मुसलमानी राज्य की राजधानी रही। फारसी का प्रचार राजदरबार और धीरे-धीरे जन-जीवन में दिन प्रति दिन बढ़ने लगा। फारसी के पश्चात् उर्दू को राजदरबार की भाषा बनने का श्रेय मिला और वह अंग्रेजों के कई सदियों के राज्य काल में भी अपने सिंहासन पर पूर्ववत् आरूढ़ रही। उर्दू में भी अरबी-फारसी शब्दावली का साम्राज्य रहा। इसके अतिरिक्त मुसलमान लोग इस भू-भाग में पूरी तरह से बस गए थे। इस तरह एक ओर फारसी बोलने वालों के गहन सम्पर्क से और दूसरी ओर राज्याश्रय से फारसी ने आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की जड़ों में घर कर लिया। फारसी के माध्यम से अरबी तथा तुर्की तक के शब्द हमारी सामान्य बोल-चाल की भाषा में आ गए हैं। इस लिए हरियाणवी में फारसी ध्वनियों का विकास-क्रम खोजना नितान्त आवश्यक जान पड़ता है।

२. फारसी आर्य परिवार की भाषा है। ईरान की प्राचीन भाषा तथा प्राचीन फारसी और संस्कृत में बहुत साम्य है। फा० शीर (सं० क्षीर), फा० रोज़ (सं० रोचः), फा० शव (सं० क्षपा) जैसे अनेक उदाहरण इन दोनों भाषाओं को एक ही परिवार की भाषाएं मानने के लिए बाध्य करते हैं जिनके तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर किसी प्राचीनतर रूप की कल्पना सहज ही की जा सकती है।

३. साहित्यिक फारसी का ध्वनि-समूह अत्यन्त सरल है। 'क' तथा 'ग' के तालव्यीकृत उच्चारण को अलग ध्वनिग्राम मानते हुए फारसी में कुल २४ ध्वनिग्राम हैं। यद्यपि फारसी ने अरबी की प्रभूत शब्दावली और लिपि को अपनाया है, तथापि इसके कलेवर में अरबी की कई ध्वनियां स्थान न पा सकीं। दूसरे शब्दों में, अरबी-शब्दावली का लिखित रूप ज्यों का त्यों अपना लिया गया, परन्तु उसका उच्चारण ज्यों का त्यों न रखा जा सका। फारसी के उच्चारण में अरबी ح और फारसी ه का उच्चारण समान है। इसी प्रकार फारसी में अर० ط, ض, ذ का उच्चारण ٭, ث तथा ص का ٭, ط का ٭ तथा ٭ का ٭ के समान होता है। ع तथा ٭ का फारसी में अभाव है।^१

फारसी में (अलिफ़) के साथ ज़ेर, ज़बर, पेश आदि लगा कर विभिन्न स्वरों की रचना की जाती है। लिखित प्रणाली अभाव होते हुए भी इनका अध्याहार

१. दे० हि० उ० वि०, पृष्ठ ५३०—५३१।

कर लिया जाता है। संक्षेप में फा० में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ तथा ए, ओ और सन्धि-स्वर 'ए इ' तथा 'ओ उ' विद्यमान हैं। आधुनिक फारसी में ए → ई और ओ → ऊ में परिणत होता जा रहा है।

सुविधा के विचार से फारसी ध्वनियों का चार्ट नीचे दिया जा रहा है :—

फारसी ध्वनियाँ

कण्ठनालीय (श्वासनालीय)	कण्ठ्य	तालव्य	दन्त्य तथा दन्तमूलीय	दन्तोष्ठ्य	ओष्ठ्य
स्पृष्ट	—	क (ک) ग (گ)	—	त् (ت-ط) ड् (د)	प् (پ) ब् (ب)
घृष्ट	—	—	च् (چ) ज् (ج)	—	—
नासिक्य	—	क्, ग् से पूर्व ङ् (ن)	—	न् (ن)	म् (م)
कम्पन-जात	—	—	—	र् (ر)	—
पार्श्वक	—	—	—	ल् (ل)	—
ऊष्म	ह (ه-ح)	ख् (خ) घ् (غ-ق)	श् (ش) झ् (ژ)	स् (ث-س-ص) ज् (ز-ض-ظ)	फ् (ف) व् (و)

४. जैसे फारसी ने अरबी की शब्दावली को अपना लिया परन्तु उच्चारण को नहीं, इसी प्रकार हरियाणवी ने भी फारसी तथा फारसी के माध्यम से आए हुए अन्य विदेशी शब्दों को अपना लिया है परन्तु उन्हें अपने सांचे में ढाल कर ही। दूसरे शब्दों में, उनका विदेशीपन पूरी तरह झाड़ दिया गया है।

स्वर

५. सामान्य दृष्टि से स्वरों का अध्ययन इतना महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता, और विशेषतः इसलिए भी कि हरि० स्वरों और फा० स्वरों में कोई अन्तर या टकराव भी नहीं है। दूसरे, स्वराघात के कारण स्वरों का निर्बल होकर लुप्त हो जाना, यथा—(नाखून ناخن → नखून, नाजायज़ ناجا → नजेज़, नाराज़ ناراض → नराज़, रोज़गार روزگار → रुजगार, नौशादर نوشادر → नसदर आदि), या आदि अक्षर का लोप यथा—(इहाता احاطه → हात्था, आराम آرام → राम्, अफीयून افیون → फीम् आदि), स्वरागम (यथा—दखल دخل → दखल्, दर्ज درج → दरज़, अर्क عرق → फीम् आदि), स्वरव्यत्यय (यथा—अखबार اخبار → इक्बार्, आचार آچار → इचार), आदि के सामान्य उदाहरण सभी स्थानों पर सभी भाषाओं में समान रूप से मिलेंगे।

१. उ० ना० ति० : पृष्ठ ५३१ (हि० उ० वि०)।

हमारे विचार में स्वरों के संबन्ध में निम्नलिखित उल्लेखनीय बातें ही भाषा की प्रकृति पर प्रकाश डाल सकेंगी।

(१) फा० में दीर्घ स्वर आ, ई, ऊ आदि तो होते हैं परन्तु वहां इन का ह्रस्व उच्चारण नहीं होता। हरियाणवी ने अपनी मूलभूत प्रकृति के अनुकूल इनका ह्रस्व उच्चारण भी कर लिया है और इसके फलस्वरूप आगामी व्यंजन का द्वित्व भी हो गया है, यथा—करामात كرامات → करॉम्मत्, खातिर خاطر → खॉत्तर्, खालिस् خالص → निखॉल्लस्, नौकर نوكر → नौक्कर्, दोजख دوخ → दोज्जक् आदि।

(२) फा० की —o— (मध्यवर्ती अघोष 'ह-') का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अस्तित्व रहा जान पड़ता है और इसके कारण हरि० ने इसे स्वरों के औरस्यीकरण की प्रवृत्ति के अन्तर्गत स्थान देते हुए फा० (फा० के माध्यम से आने वाली अन्य विदेशी भाषा) के शब्दों के —o— से पूर्ववर्ती स्वर का औरस्यीकरण कर दिया है, यथा :—

परहेज پرهيز → परेहज्, पहलवान پهلوان → पेहलवान्, खाहिश خواهش → खॉहस्, जहर زهر → जेहर्।

(३ क) —o ने सामान्यतः -आ को जन्म दिया है, परवाह پروا → पर्वा ख्वामखाह خواه مخوا → ख्वामखां, नतीजा (?) نتیجه → नतीज्जा, नजला ناله → नजला।

(३ ख) ح का लोप हो गया है, तफरीह تفریح तफरी, रुह روح → रू।

(४) अर० के ع तथा ه फा० में ही स्थान न पा सके थे। वहां इनका लिखित रूप विद्यमान था और संभवतः ये समीपवर्ती स्वरों में बदल चुके थे। हरियाणवी में इनकी स्थिति निम्नलिखित रूप से है :—

(क) ع (आरम्भिक ع) ने जेर, जबर, पेश आदि सहचर चिह्नों द्वारा व्यक्त होने वाले स्वर का रूप धारण कर लिया, यथा :—

उम्दा عمدا → उन्दा, अक्ल اقل → अक्कल्, इक्कल्, अर्क عرق → अरक्, आम عام → आम्, इलाज علاج → इलाज्, एब् عيب → ऐब्।

(ख) —ع— की ध्वनि का साधारणतः पूर्वापर स्वर के साथ समीकरण हो गया है, यथा :—

दिलजमई دل جمعی → दिलजमी, कतई قطعی → कत्ती, जमाअत جماعت → जमात्।

विशेष :—शऊर شعر → सहूर बना। फिर धीरे धीरे स्वर विपर्यय के कारण -उ- अपने स्थान से हट कर पहले अक्षर पर आ पहुँचा और -ह- स्वरहीन होने पर निर्बल पड़ता चला गया। अब इसका रूप सूहूर् है।

(ग) —ع सामान्यतः -आ में बदल गया है, यथा :—

दफा-अ دفع → दफा, नफा-अ نفع → नफा, जिला-अ ضلع → जिला।

(घ) , की ध्वनि ने फा० में -य्- या -इ- की सी ध्वनि अपनाई होगी ।
-य- हरि० की प्रकृति के अनुकूल नहीं है । अतः -य्- या -इ- ध्वनि
का लोप हो गया या वह पूर्ववर्ती स्वर के साथ मिल कर -ए- के
रूप में बदल गई :—

दायरा دایره → दारा, पांचा پانچ → पांचा, फायदा فایده →
→ फाँदा, कायल کایل → काल, आजमाइش آزمائش
→ अज्मास्, गुंजाइश گنجائش → गुंजास्, जायका ذائقه → जाका ।

अर्द्ध-स्वर ' ' तथा 'व'

६. फा० के ى तथा , एक ओर व्यंजनों का काम देते हैं तो दूसरी ओर जेर-
जवर आदि की सहायता से स्वरों का काम देते हैं ।

आदि ى :— पद का आदि ى सदैव य्- का काम देता है । यद्यपि य्- हरि०
की प्रकृति के अनुकूल नहीं है तथापि याद, یاد यावा دایه, या ۱۲ आदि कई एक पदों
में यह व्यंजनों का त्यों विद्यमान है परन्तु कई एक अन्य स्थानों पर इसने अपना स्वरूप
बदल लिया है, यथा :—

यतीम یتیم → अतीम्, यकीन् یقین → अकीन्, यक्का ۵۵۲ → इक्का ।

۷. -ى- तथा -ی- मध्य तथा अन्त्य 'य्' का या तो लोप हो जाता है या वह
'ए' में बदल जाता है । इसके अनेक उदाहरण मिल सकते हैं । कुछ उदाहरण नीचे
दिए जाते हैं :—

लोप के उदाहरण :— दुनिया دنیا → दुनियाँ, नीयत نیت → नीत्, कफायत
کفایت → किफात्, मायूस مایوس → माऊस्, जियादा زیادہ → जादा, मियाद میاد
→ मिआद् राय رائے → रा, चाय چای → चा ।

-य्-, -य्- → -ऐ-, -ऐ- :— تے → तै, फ़ैसला فیصلہ → फ़ैसला ।

८. 'व्' (و) की स्थिति भी 'य्' के लगभग समानान्तर है, अर्थात् :—

व् → व् — वजन وزن → वजन्, वरज़िश درزش → बर्जस्

वअदः ۵۵۳ → वाँदा, वासितः واسطه → वास्ता ।

व → ब् — वक्त وقت → बखत्, वबा ۱۲ → बबा, बबाल ۱۲ → बबाल्,
वर्क ورق → बरका, वहम ۱۲ → बहम् ।

व → उ — वकील وکیل → उकील्, वजीफा ۱۲ → उजीफा, वज़ीर وزیر → उजीर्,
वर्दी وردی → उड़दी ।

व → अ — केवल एक उदाहरण — वसूल ۱۲ → असूल ।

९. -व्- तथा -व्- मध्य तथा अन्त्य व् (و) :—

-व्- → -व्- : तस्वीर تصویر → तस्वीर्, नव्वाब نواب → नबाब् ।

-व्- → ० : बेवकूफ ۱۲ → बेकूप, ख्वाँचा ۱۲ → खोम्चा, ख्वाहिश

خواهش → खौहस्, तनख्वाह ۱۲ → तन्खा ।

-व- → -उ : दीवार, دیوار → दुआल, जवान, جوان → जुआन, जवाब, جواب → जुआब, जवाहिर, جواهر → जुहार।
 -व् → पूर्ववर्ती स्वर से मिलकर ओ—गिरदावर, گردآور → गिरदोर्, जानवर, جانور → जनोर्।

१०. फारसी (तथा फारसी के माध्यम से आने वाले) व्यंजनों की सामान्य स्थिति हरियाणवी में निम्नलिखित रूप से है :—

ب = व्, پ = प्, خ = ख्, ف = फ्, م = म्, ن = न्,
 ل = ल्, د = द्, ङ = च्, ر = र्, ط = त्, ك = क्,
 گ = ग्, ی = य्, و = व्, ح-ه = ह्, ص-ش-س = स्,
 ج-ظ = ज्। फा० ; का कोई शब्द हरि० में नहीं पहुँचा है।

११. फा० ध्वनिग्रामों ने हरि० पदग्रामों में उपरिनिर्दिष्ट सामान्य रीति से स्थान पाया है, तथापि निम्नलिखित परिवर्तन उल्लेखनीय हैं :—

- (१) आदि-क- सामान्यतः क्- में बदल गया है परन्तु बाद में हकार ध्वनि आने पर वह ख्- में बदल गया है, यथा :—
 कबाहत, کتاحت → खुबात्।
- (२) मध्य तथा अन्त्य 'क-' कहीं कहीं 'ख्' में या 'ग्' में बदल गया है :—
 क → ग् : खानकाह, خانقاه → खानगा, तकाजा, تقاضه → तगाँदा।
 क → ख् : बंदूक, بندوق → बंदूख्, संदूक, صندوق → संदूख्।
- (३) र् → ड् उर्दू, اردو → उड्दू, वर्दी, وردی → उड्दी, कुर्क, قرق → कुड्क्, यारी, یاری → याड़ी।
- (४) न् → म् : अफीयून, افیون → खोम्चा, خوانچه → खोम्चा^x।
- (५) म् → न् : उम्दा, عمدہ → उन्दा, इस्तहान, استهان → इन्तो^xहण्।
- (६) न् → ण् : कमीना, کمینہ → कमीण्, इस्तहान, استهان → इन्तो^xहण्।
- (७) न् → ल्ह् : नाश, ناعش → ल्हास्।
- (८) र् → ल : दीवार, دیوار → दुआल्।
- (९) र् → ल् : दारचीनी, دارچینی → दाल्चीन्नी।
- (१०) ज → ज → द : तकाज, تقاضه → तगाँदा, कागज, کاغذ → कागद् कलाबाजी, قلابازی → कलाबाँदी।
- (११) ल् → ल् : खलजान, خلجان → खल्भाण्, जाअल, جمل → जाल् (काली जाल्—कपटी)।
- (१२) -य- → -व- : किराया, کرایہ → किरावा।

स्वतः अनुनासिकता

१२. भा० आ० भा० में स्वतः अनुनासिकता की प्रवृत्ति रही है। यह प्रवृत्ति म०

भा० आ० भा० से ही आ० भा० आ० भा० में आई है। इसके उदाहरण निम्न-लिखित हैं :—

तोहमत توہمت → तोहमंद, दुनिया دنیا → दुनियां,
फैसला فیصلہ → फैंसला, खुशामद خوشامد → कुसामंद ।

घोषत्व तथा अघोषत्व

१३. सामान्यतः $\text{خ} = \text{ख}$ तथा $\text{ف} = \text{फ}$ में बदलते हैं। इसी आधार पर हम अनुमान लगा सकते हैं कि सामान्यतः ये ख तथा फ में बदले होंगे परन्तु अब इनके स्थान पर क्रमशः क् तथा प मिलता है। दूसरे शब्दों में ये अघोष व्यंजन हो गए हैं, यथा :—

दस्तखत دستخط → दस्तक्, दोजख دوزخ → दोज्जक्, वेवकूफ بےوقوف → वेक्कूप,
चख् चख् چخ چخ → चक्-चक्, बख्श بخش → बक्स्, खुशामद خوشامد → कुसामंद ।

१४. जैसे कुछ ध्वनियों से हकार का लोप हो गया है वैसे कई एक अन्य स्थानों पर हकार ध्वनि का आगम भी हुआ है, यथा :—

जल्सा جلسہ → मिल्सा, जुकाम مکام → जुखाम्, जेब جیب → जेभ् ।

१५. अत्यन्त विचित्र बात यह है कि हरि० में फारसी के माध्यम से आने वाले शब्दों के पदान्त ت का लोप हो गया है, यथा :—

दरखास्त درخواست → दरखास्, बरखास्त برخواست → बरखास्,
बरदाश्त برداشت → बरदास्, याददाश्त یادداشت → यौदास् ।

परिशिष्ट २

ठेठ हरियाणवी के नमूने

(१) एक जाट् अर् गौहड़

जाट् था। जाट् नें कूकड़ी^१ बोई। वे कूकड़ी रोज् की रोज् गौहड़् चर् जाँहा। तो जाट् कहण लॉग्या अपणें घर जा के, कूकड़ी बेरा नी कोण् खा जा सें। उस् नें के^२ काम् कर्या जा के, लहुक् के देख्या के गौहड़ कूकड़ी खाण् आया। जाट् नें उस् के घेसल^३ मार्या। गौहड़् गध् पड़्या। पड़तेए गौहड़् के गेल्ली बच्चे थे दो, अर् गादड़ी थी, तो फेर उस् नें (जाट् ने) जिस् बखत् मार्या ओ गौहड़् बोल्या—‘भाग् जा, मेरी स्याम् सुन्दरी गेलें कलिअर्^४ ला के’, राम् लाल् की दूही^५ दूट्टी पड़ी कूकड़् खा के।

(२) अक्कल् बड़ी क् ग्हेंस्

एक् रॉज्जा था। ओ सारे पंडतां ने बुला के पूछ्दा के कोए इसी काँहणी^६ सुणाओ जो कदे^७ बी ना सांपड़ें। सारे पंडत् अपणे गरंथां की बान् सुणाँहे-सुणाँहे हारगे। एक् दन् पंडतां नें आप्पस् में^८ रा^९ करी के के करणा चहिए। इतणें में^{१०} एक् जाट् आ गया। भाई, तम् के मिसकोट् करो सो। जाट् ते बाँहमण् कँहण लगे, भाई, रॉज्जा इसी बात् पूछें सें जो सारी उमर् नहीं सांपड़ें। जाट् बोल्या या तो थोड़ी सी बात् सें। राज्जें के पाँह^{११} मन्नं ले चाल्लो। बाँहमण् राज्जें के दरबार में जाट् नें ले गे। रॉज्जा कँहण लॉग्या—इसी बात् सुणाओ जो सारी उमर् खतम् नां हो। जाट् बोल्या, म्हाराज् में सुणां धूंगा पर आप् नें हुँकारा^{१२} भरणां पड़ेंगा। जिस तरिआं में कहुंगा उसे तरिआं^{१३} आप् नें बोलणां पड़ेंगा। भली कही। जद्^{१४} में कथा सुणाऊं थम् न्युं कहिओ—‘भली कही, खूब कही, ओर कहो, हूँ। रात् नें जाट् कँहण लॉग्या—मन्नं बाजुरा बोया था। फेर^{१५} ओ एक् बिलात्^{१६} का होग्या, फेर मन्नं

१. मकई का भुट्टा। २. क्या। ३. मोटा, डंडा। ४. बच्चे। ५. लगा कर।
६. कमर। ७. कहानी। ८. कभी। ९. समाप्त होने। १०. राय। ११. पास।
१२. हुं-हुं का शब्द। १३. तरह। १४. जब। १५. फिर। १६. बालिश्त।

नुला^१ काँढ़या। बाजरा बड़ा हो गया। फेर मन्ने मिरटे काँढ़े। फेर मन्ने काट के ओ चूँढ़या^२। फेर गाह के कोट्ठा भर लिया। कोट्ठे में एक छोट्टा सा मोख् राख् दिआ। उस मोख्^३ में ते एक चिड़ियां आवे अर् एक दाणा काँढ़े फुर। रॉज्जा बोल्या-भली कही, खूव कही, हूँ। जाट बोल्या दाणा काँढ़े अर् फुर। रॉज्जा बोल्या-आँगो, ओर के बात्। जाट बोल्या म्हाराज्, कई बरस्यां में इस् कोट्ठे के दाणे चिड़ियां संपड़ा देगी, जद् आँगो बात् चॉल्लेगी। इवे^४ तो बाजरा भोन् पड़्या से। रॉज्जा हार् मान् गया। अर् कैङ्ग लॉग्या अक् जाट इव् में इसी बात् कदे नहीं सुण्गा। सारे बाँहमण्यां न न्याम्^५ दे के अपणें घरां भेज् दिआ। जाट अपणें घरां चॉल्ल्या गया। इहें बिद्वान् पढंतां का एक जाट ने मरणा ते जीण कर् दिआ अर् रॉज्जा ते पिंड छुटा दिआ^६। अक्कल् बड़ी क् म्हेंस्^७। जाट में अक्कल् बडी थी।

(३) बाणिआ के बड़गे चोर

एक् बाणिआ था। उस के बड़गे चोर। बाणिआ बोल्या-बाणनी देखिओ आज् आपणें चोर बड़गे। में वोल्लू जूकरे^८ बोलिओ। बाणनी बोल्ली-आँच्छ या। बाणिआ बोल्या-बाणनी, अपणी वा सवा लाख की गूट्ठी^९ कित्^{१०} धरी से। बाणनी बोल्ली रोले^{११} नां करे चोर सुण लेंगे। वे तो मन्ने चोक्कस् धर् राँक्खी से^{१२}। फेर वी^{१३} वता ते कित् धरो से। कोट्ठे में परांत् से। वा मूँद्धी मार राँक्खी से^{१४}, उस के नीच्वे थाली, उस के नीच्वे कटोरा, कटोर के नीच्वे कुल्ही^{१५}, कुल्ही, में वा गूट्ठी धरी से। चोरां न सोचची। पहले सवा लाख की गूट्ठी ठाओ^{१६}। चोर ने जा के वा कुल्ही उधाड़ी। उसमें हाथ दीआ तो बीच्छू लड़ग्या। बाणिएं ने उस कुल्ही में बीच्छू रोक् के ने धर् राँक्खा था। चोर बोल्या-मर् गया रे, मर् गया। बाणिआ बोल्या-मेरी गूट्ठी से आंगला^{१७} के थूक् ला के पहर ले^{१८}। चोर पत्ते तोड़ गया^{१९}।

(४) गौहड़ की सो अक्कल् अर् गादड़ी की एक

एक् गौहड़ था। एक थी गादड़ी। दोनू पाणी पीण गए। रॉह में गादड़ी

१. नुलाव। २. बीन लिया। ३. सुराख। ४. अभी। ५. बहुत। ६. इनाम। ७. पीछा छुड़ा दिया। ८. भैंस। ९. घुसेंगे। १०. वैसे ही। ११. अंगूठी। १२. कहां। १३. शोर। १४. भी। १५. उलट कर रखी हुई। १६. मिट्टी का बर्तन विशेष। १७. उठाओ। १८. उंगली। १९. पहन ले। २०. नौ दो ग्यारह हो गया।

बोल्ली ले गाँहड़, तेरें माँह सो अक्कल् सें अर् मेरे माँह एक् । पाणी पीण् बखन् सेर् मिल ग्या । गादड़ी बोल्ली, गाँहड़, तें अपणी सो अक्कल् लड़ा ले नहीं तें सेर् खा जा गा । सेर् जू जू पास में आवें, गाँहड़ की धींगी बंधें^१ । गाँहड़ बोल्या मेरी तो अक्कल् काम नहीं करदी तें अपणी एक् अक्कल् लड़ा, तें जू^२ म्हारी जान बच् जा । गादड़ी बोल्ली-जेठ, तें म्हारा फेंसला कर् दे । सेर् बोल्या, के फेंसला करूं । गादड़ी बोल्ली, मेरे तीन बच्चे सें । गाँहड़ केह^३ दो मेरे, में कहूँ दो मेरे । चाल, मेरे घुर^४ पे चाल, अर् मेरा फेंसला कर् के नें आ । गादड़ी ने गाँहड़, तें केह^५ दिआ अक् तें पहलम् घुर में बड़ जाइओ अर् बाँह^६ नां लिक्ड़िओ^७ । गाँहड़, घुर में बड़ ग्या । गादड़ी बोल्ली उन्नं^८ तें तीन्नूं बच्चयां पे कब्जा कर लिआ । में भीतर जा के बुलाके ल्याऊं गादड़ी बी घुर में जा बड़ी । भीतर घुर में बड़ के बोल्ली—जेठ, हम नें तें अपणां फेंसला आपे^९ कर् लिआ । मेरे एक् बालक् ओर् हो ग्या । दो मेरे, दो गाँहड़ के । गादड़, इसा स्याणा हो सें अक् जानवर के सिरदार सेर् की अक्कल् बी मार दी । सेर् लंखाँदा^{१०} ए रह ग्या ।

(५) मूरखयां के चेल्यां की गत्

एक् गाँहड़ अर् गादड़ी चॉल्ले जां थे । राँह में सेर् का बीड़^१ आ ग्या । बोल्ली-में तें इत्ते बालक् जॉम्मुंगी । गाँहड़, बोल्या इत् तें सेर् का बीड़ सें । गादड़ी उते ब्या गी । गाँहड़, बोल्या, कोए बिध् बणाणी पड़ेंगी । गाँहड़, टीले पे जा वेह्या साँहमी^२ तें सेर् आवे था । गाँहड़, बोल्या, गादड़ी बालक् क्यूं रोवें सें । गादड़ी बोल्ली सीह का मांस माँगो । आवे एक् सेर् चॉल्या-ल्याऊं मार के नें । सेर् सोच्चण लॉग्या । इसा कोण आ ग्या । मेर तें बड़डा जो मेरा खाँज्जा^३ खावें । सेर् भाज लिआ । राँह में बाँह^४ मिल ग्या । बाँह, बोल्या-मोस्ता, क्यूं भाज लिआ । सेर् बोल्या-बोल्ले मत् नां, मेरे बीड़ मं कोए इसा बली जनोर् आ रह्या सें अक् जो मेरा मांस चाँहवें सें । बाँह बोल्या, ओडेते कोए गादड़ी ब्या रही सें । तें मेरे अर् अपणां गल् में जेवड़ी^५ बांध ले । सेर् बाँह दोन्नूं

१. भयातिरेक से कंपकंपी छूटना । २. तो जिस से । ३. बिल । ४. निकलना । ५. स्वयं ही । ६. देखता । ७. जंगल । ८. ढँग । ९. सामने से । १०. खाद्य (भोजन) । ११. रस्सी ।

चाल पड़े। गौड़^१ बोल्या, रामकली की मां—बालक^२ क्यूं रोवें। सीह^३ का मांस माँगी। अर्^४ काल्ह^५ ल्याया था। ओ तें बॉस्सी-तिबॉस्सी हो लिआ। इन्न^६ तौज्जा चाहिए। सेर् इन्णीं सुण^७ के भाज^८ लिआ। बाँद^९ उस की गेल लटक्या लटक्या चॉल्या गया। मूरूख्यां नें चेल्ला कर् के इसी ए गत^{१०} हो सें। सेर् की खौत्तर बाँदर की जान खपगो। गौड़^१ अर्^४ गादड़ी बीड़ में राम^३ तें रहण लॉगे। अक्कल कारण^{११} अपणी जान बचा ली। गौड़^१ की स्याणपत्^{१२} न के पौहचें से जिन्न^६ सेर् की बी अक्कल मार दी।

(६) सेर् अर्-बौहमण

एक् सेर् था। पीजर^१ में रोक^२ रॉख्या था। एक् बौहमण^३ चॉल्या जा था। सेर् बोल्या, भाई जाण-आले, मन्न^४ काढ दे। बौहमण^३ बोल्या, तें मन्न^४ खा जा गा। ओ बोल्या—मेरे तेरे बीच राम^५। में तन्न^६ कोन्नी खाऊं। सेर् बोल्या—में कई दिन्यां तें भूखा सूं, तें मन्न^४ काढ दे। बौहमण^३ नें पीजर^१ तें सेर् काढ दिआ। सेर् बोल्या—में तन्न^६ खाऊंगा। बौहमण^३ बोल्या—तन्न^६ धोखे आली कार^७ करी मेरे तें। धोखा बुरी बात से। सेर् कंहण^८ लाग्या, अक् में भूख तें अक्कल-बॉक्कल^९ हो रह्या सूं। बौहमण^३ कंहण^८ लाग्या, अक् किसे तें फेंसला हो लेण दे। एक् बलद् पे गया, बोल्या—भाई, मन्न^४ यो पीजर^१ तें काढ दिआ। इब^{१०} इन्न^६ मेरे तहीं खाणा चाहिए अक् नहीं। बलद् बोल्या—अक् खाणा जरूरी सें। काल^{११} सिर^{१२} आल^{१३} का के इत्वार^{१४}। जद् में हल^{१५} में चॉल्लू था, मन्न^४ दाणां-घास् खुआ दिया^{१६} कर्दे। इब^{१०} में बूढ़ा हो गया, अर्^४ में घर^{१७} तें काढ^{१८} दिआ। जरूर खा ले। उस ने कह्या आँछ्या भई, एक् तें ओर् पूछ ले। रौह^{१९} में एक् गां मिल गो। गऊ तें कंहण^८ लाग्या, अक् मन्न^४ यो पीजर^१ तें काढ्या था। यो मन्न^४ इब^{१०} खा सें। खाणा चाहिए। गो-मौत्ता बोल्ली—जरूर खाणा चाहिए। क्यूंकर^{२०} अक् में जद् दूद् छू थी अर्^४ बॉच्छे-बॉच्छी जॉम्मू थी, जिव^{२१} मन्न^४ आँछी तरां घास् दाणा मांडडी^{२२}।

१. कल। २. गति; हालत। ३. आराम। ४. बुद्धिमत्ता। ५. काम।
६. व्याकुल। ७. खिला दिया। ८. निकाल दिया। ९. कैसे। १०. चाट-खली-
विनौले आदि।

दें थे। इब् में^१ बूँडठी होगी अर् में^२ घर तें काढ़ दी। न्यून काले^३ सिर् आलें का कदे इत्वार नहीं करणां। इस् नें जरूर खा ले। बॉह्मण^४ बोल्या—एक् नें ओर् पूछ ले—तीन् आड़ होवें^५। इत्णे में^६ एक् गाँहड़ और मिल गया। बॉह्मण बोल्या—यू पीजरें में^७ रुक् रह्या था, मन्नें^८ काढ़ दिआ। इब् यू मन्नें^९ खा से, खाणा चाहिए? गाँहड़ बोल्या—थारी से अटपटी^{१०} बात्, मेरी समंभ में^{११} आँदी ए नां। चाल् उस पीजरें के धोरें चाल् के फेंसला हो गा। में^{१२} थारा फेंसला कर चुंगा। सेर् गाँहड़ अर् बॉह्मण तोन्नूं पीजरें के पौह आगे। सेर् पीजरें में^{१३} बाड़ दिआ। आँगो ताला ला दिआ। अर् ताली पहलड़ी^{१४} ठोड़^{१५} धर् दी। न्यून बॉह्मण की जान वची, अर् सेर् धाड़ण^{१६} ला-ग्या।

(७) आप् मर्या जग् पर्लो^१

एक रॉज्जा था। सिकार खेल्लण जा रह्या था। रॉह् में^२ गाँहड़ मिल गया। रॉज्जे नें गोली मारणी चाही। गाँहड़ बोल्या—म्हाराज् मनें^३ मत् मारिओ। में^४ मर्या ते पर्लो हो जागी। रॉज्जा केहण लाग्या—गाँहड़ तेरे मरण ते पर्लो क्यूँकर हो जागो। ओ बोल्या—म्हाराज्, आप् मर्या जग् पर्लो। राज्जे नें हथिआर् फांक^५ दिए अर् तप् करण चॉल्या गया।

(८) बुध्वार् की काहणी

एक् बूँडठी थी। उस के वेदटी थी। वे पीस्यां पीस्या करदी^१। उस की मां बोल्ली—वेदटी में^२ ते जाऊं बाहर्, चून-आला^३ आवे ते पाइआ^४ चून काढ़ के उस का दे दीओ। वेदटी बोल्ली—चून रॉक्खूं गी ते बेरा नीं भग्वान् के करेगा। में^५ ते राख्दी नां। बॉह्^६ ते मां आई। वेदटी चून लेग्या। वा बोल्ली, हां लेग्या। बोल्ली, वेदटी पाइआ चून राख्या था? ना मां, मनें ते कोन्नी राख्या। आँच्छ्या, रांड् की रांड् तनें^७ इसे गरीब घर व्याहूँगी जिब् तन्नें^८ बेरा पॉदटेगा^९। नाई बॉह्मण बुला के

१. रोक, यहां अर्थ है 'सीमा'। २. पेचदार। ३. पहली। ४. जगह। ५. दहाड़ने। ६. प्रलय। ७. फैंक। ८. पिसाई का आटा पीसा करती। ९. आटे वाला। १०. पाव। ११. पता लगेगा।

अरू कह दिआ जो कोए मिले उस के सगाई कर आइओ, चाहे किसे ए गरीब त गरीब माणस् हों, अरू भूँड्डे ते भूँड्डे हों। भगवान् कुँते का भेस भर् केने^१ आए खड्या होया। उस ते सगाई होगी। अरू कई दिआ फल^२ दिन् का व्याह उघड्या^३ से आ जीओ^४ बरात ले केने^५। सगाई कर के आए जद^६ वूँडडी बोल्ली-कर आए सगाई। हां कर ते आए पर^७ दुरज्जे^८ वॉहर्^९ ते कुत्ता मिला। हम ते कुत के-ए सगाई कर आए। आँच्छया भाई, कुत्ते ते ए सही। इस् के भाग^{१०}। लीलगरा^{११} के गई, बोल्ली अक् बुध्मणी का चोला-पोम्चा^{१२} रंग द्यो। वेह बोल्ले-म्हार ते किरसन् जी का आ रह्या से। हम ने ते फुरसत् नहीं। जिस् के जावे जिस् काम ने, ओहे नाद जा^{१३}। हम ने ते फुरसत् नहीं। जा ए निर्भाग^{१४}, तेरा ते इसा भाग से। तेरी ते कोए चीज^{१५} बी नहीं ओददा^{१६}। भों-भों करदी कुत्ता की बरात आगी ! जिमा-भुठा के^{१७} फेरे दे दिए। कुत्ते गेल्ली छोहरी घाल्दी। दुरज्जे^{१८} वॉहर्^{१९} आके बोल्ल्या ओ कुत्ता, दिखे में आपू भगवान् सू, अपणी किरण खिडाङगा^{२०}, ते डरिओ मत नां। वा बोल्ली म्हाराज भोत् आँच्छया। जा के ने महल् में तार दी। छे कोट्या की ताली दे दी, सात^{२१} की दी नहीं। पड़ोसिआं के गई। आ हे किरसन् जी की लाडली, ते ते भोत्ते प्यारी किरसन् जी ने। हां बेब्वे, छे कोट्या की ताली दे राँकखी से। सातमें कोट्ठे की ते दे राँकखी नां। ते के लाडली^{२२} जो साँतू कोट्या की ताली नाँह दी, जो कुछ माल मामूला से ओ ते सातमें कोट्ठे में ए से। आँस्सण पोट्टी ले केने जा पड़ी^{२३}। वॉहर्^{२४} ते आए किरसन् जी। बुध्मणी क्यूं पड़ी। म्हाराज मेरी नां वूँझो में थम् ने किसी लाडली, जे तम् ने सातमें कोट्ठे की ताली नहीं दी। बुध्मणी लेगी ते पिछ्तावे गी नहीं लेगी ते पिछ्तावे गी। बोल्ली म्हाराज ल्यूंगी। उस ने ताली दे दी। कोट्ठा खोल के देख्या—मां कीड्या की कुंड में पड़ी से। बोल्ली, म्हाराज थम् किसे जमाई ? मेरी मां कीड्या की कुंड में पड़ी। बुध्मणी अपणी करणी ते^{२५} पड़ी। रोज पाइआ चून

१. बुरे से बुरे। २. वेश धारण करके। ३. अमुक, फलां। ४. निकला है।
 ५. 'जाइओ' का संक्षिप्त रूप। ६. जब। ७. नीलगरों। ८. विवाह के समय पहनने के कपड़े। ९. इनकार कर जाए। १०. जिम्मे लेता। ११. भोजन करवा कर।
 १२. दरवाजे। १३. बिखेल्गा। १४. प्यारी। १५. रोष करके गिर गई—कोप भवन को चली गई। १६. कर्मों से।

कादया करदी, ठगों-भग्गी, भूतूफान् का खाया करदी। म्हाराज् किम्में बी हो, मेरी मां ने इस् अङ्गों तें कौड्हो। ओ बोल्या—तेरा भाई बुध् से। उस् पे बुध्-आँट्ठम् का फल् से। जें ओ फल् दे दे तें तेरी मां कीङ्ग्यां की कुंड तें लिक्ड़ जा। में अप्णे भाई के जांगी। बुध्मणी, कोन्नी देगा तेरा भाई। तें जा के नें के करेगी? देवे तें कोन्नी ओ। नां म्हाराज्, में तें जांगी। गौड्डी जुड़ा के अर्, बहल् में बैठ के नें चॉल्ली गई। बुध्मणी आई, बुध्मणी आई। तार ल्यो हे। वा बोल्ली—मेरा भाई तारण् आवेगा जद् उतरुंगी। भाई बोल्या—आ हे बाँहण्, घरां चाल्। वा बोल्ली, भाई घरां जद् चॉल्लुंगी जद् तें मेरी बात् नें मॉन्ने गा। ओ बोल्या, वेब्बे, के बात् बोल्ली, भाई अप्णी मां कीङ्ग्यां की कुंड में पड़ी से। बुध्-आँट्ठम् का फल् देवे तें वा लिक्ड़ें। नां ए वेब्बे, में तें कोन्नीं थूं। आं रे भाई, मेरी मां तेरी मां के दो सें। ओ बोल्या वेब्बे दो हों चाहे एक्, अप्णीं करणीं तें पड़ी से। वा घरे आगी। किरसन् जी बोल्या ल्याई? वा बोल्ली कोन्नी दीआ। में कहूँ था, नहीं देगा। मन्ने नहीं कह् दिआ था अक् अप्णी करणीं तें पड़ी से। अच्छ्या, एक् काम् कर। बुध् की व्ह के बालक् होगा, अर् उस् के में इवे दरद् ठा थूंगा। किसे दाई तें बालक् पेदा नहीं होगा। तें भेस् बदल् के नें चॉल्ली जाइओ अर्, बचन् भर्वा लीओ। तेरे जाण सेत्ती बालक् पेदा हो जागा फेर ओ बुध्-आँट्ठम् का फल् दे देगा। वा बोल्ली, आच्छ्या म्हाराज्। सेंसण का भेस् भर् के नें भाई के गई। आं ए वेब्बे, क्याह् की भीङ् हो रही से। में बी देख ल्यूं। ओ बोल्या, वेब्बे बहू के बालक् ए नहीं हौदा। एक् दाई आवे अर्, एक् दाई जावे। देख के बोल्ली के जो इस् का मरद् वचन् भर् ले तें बालक् में पेदा करा थूं। ओ बोल्या, एक वचन्-दो वचन्, तीसरा वचन्, नौट्ठूं अर्, कोड्ढी बणके नरक् पड़। उस् ने पेर का गूट्ठा पेद् के लाया अर्, म्यां म्यां करद् बालक् टपक् पड़्या। ओ बोल्या ले सेंसण, बुध्-आँट्ठम् का फल्। बोल्ली, ए भाई, में तें तेरी भाण् बुध्मती सूं। में तें बुध्-आँट्ठम् का फल् लेण् आई थी। देखले रे, मां पर तें दीआ नां बहू वास्तें दे दीआ। कलजुग् में बहू इसी प्यारी लॉगों गी। आ के किरसन् जी ने दे दिआ। उस् की मां कीङ्ग्यां की कुंड तें लिक्ड़ गी।

१. गंदगी। २. हे सखियों, उतार लो। ३. काहे की, कैसी।

हे बुध महराज, जिसी इस् की मां कीड़यां की कुंड तें काँड्ढी, इसे तरां सभ् नं काढिओ। बुरा करे उस नें बी काढिओ।

(९) पोद्दे की काहणी

एक् पोद्दा पोद्दी थे। घोड़े के पां तल^१ आक नें खुर तें पोद्दी मरगी। पोद्दा बोल्या, में रॉज्जे नें मारण जां। रॉज्जे नें मेरी पोद्दी मारी। आँगो उस नें सेर मिल्या। सेर बोल्या-पोद्दे, कित् जा से। पोद्दा बोल्या—

सीस्सां की मनं बेल^२ जुड़ाई, मोंडडक्^३ जोड़े जां,

रॉज्जे नें मेरी पोद्दी मारी, में उन्नं^४ मारण जां।

सेर बोल्या-भाई, में बी चॉल्लूंगा। पोद्दा बोल्या-बड़ जा मेरे कान् में^५। आँगो गया, नदी मिली नदी बोली, रे पोद्दे कित् चॉल्या। ओ बोल्या-सीस्सां की—आदि। वा बोल्लो-में बी चॉल्लूंगी। पोद्दा बोल्या-बड़ जा मेरे कान् में^६। वा बी कान् में बड़ गी। आँगो नें एक् कीड़ी मिली। वा बोल्लो—पोद्दे कड़े चॉल्या? उस नें फेर न्यूंर^७ कइया—सीस्सां की—आदि। वा बोल्लो—में बी चॉल्लूंगी। बड़ जा कान् में^८। फेर आँगो गया। आँगो उन्नं^९ गाँहड़, माँम्मां मिल्या। माँम्मां बूझण लॉग्या—रे पोद्दे कड़े चॉल्या, उन्नं^{१०} फेर, वाहे बात् दुरहा दी^{११}—सीस्सां की—आदि। फेर ओ उन्नं^{१२} बी कान् पें टांग के रॉज्जे के जा पौहूच्या। रॉज्जे के नोकरां तें कह्या—रॉज्जे न खबर कर, द्यो, अक् थम् नें मेरी पोद्दी मार गेरी^{१३} अर पोद्दा थम् नें जान् तें मारण नें आया से अर अक् थम् लड़ाई ओद ल्यो। रॉज्जे नें उन्ह की बात् सुणीं अर बोल्या—मार, द्यो साल नें, गेर द्यो हॉत्थी के आँगो, खा जागा। उन्नं^{१४} कान् तें काढ के नें कीड़ी छोड़ दी। वा हॉत्थी के सँड के जा लड़ी। हॉत्थी तें सांप सूघ ग्या^{१५}। रॉज्जा बोल्या—जाओ इब् साल नें जेल में गेर द्यो। आप्पे पां पीद् के मर जागा। उन्नं^{१६} अपणे कान् तें काढ के नें सेर छोड़ दिआ। सेर नें नोकरां पें हाथ फेरणा सुरु कर दिआ।

१. जानवर विशेष। २. पांव नीचे। ३. शीशों वाली बैल गाड़ी। ४. मँडक।
५. बैठे ही, (यों ही)। ६. वही बात दोहराई। ७. मार डाला। ८. मर गया।
९. हाथ साफ करना।

वे सारे भाज् गे। अर्, बोल्ले—म्हाराज्, बचाओ हम् तें सेर् नें खा लिए।
 सेर् रोज्जे के पिंज् रे माँह^१ रुका दिआ^२, अर्, कइया-भाई, पोहे नें जीत्तर खोत्तर
 फोज्-फरड़ा त्यार् कर ल्यो। फोज्-फरड़ा त्यार् हो गया। पोहे नें कान् तें काढ्
 कें नें नदी छोड़् दी। सारी फोज् इतोहड़-उतोहड़^३ नें बँहगी। जिव् खलबली
 मिचगी तें गाँहड़ काढ् मार्या^४। गाँहड़ रुक्के मार के बोल्या^५—म्हाराज् थारा
 तें किम्में बिगड़ नां, बोज्मां का खो हो जागा^६। थम् नें इस् की पोही मार दी। इस्
 के बदले अप्णी छोहरी का डोला फेर दे। रोज्जा हाथ जोड़ के मजूर करण नें
 त्यार् हो गया। लड़की का डोला चला दिआ। इस् तरां सुला-सफाई^७ होई।

अक्कल नें रोज्जे वर्ग्या के छक्के चला दिए^८ चाहे यूँ कह्यो के उस् के बी दस्त
 चालगे अर् अप्णी छोहरी दे दी।

लोक गीत

(१)

पहले आवें री माँत्ता सग-सगी^१,
 पाँछे हल् हल् ताप्, सच्ची सेढ् मसाणिआ^२।
 हाड़ खिणें-खिण^३ माँत्ता नीक्लें,
 मोत्ती के हुणिआर्^४, सच्ची सेढ् मसाणिआ।
 मेर् करंगी री माँत्ता आप्णी^५,
 पोल्लें जूं झड़ जा^६, सच्ची सेढ् मसाणिआ।
 तन्न^७ ध्यावे री माँत्ता दो जणे,
 एक् पुरस् ढूँजी नार्, सच्ची सेढ् मसाणिआ।

(२)

माँत्ता तें जस्वंती मेरी मां, यो जस् लेणें नें।
 मइआ घड़ी ए घड़ी जस् ले, बालक् बख्सण नें।
 मइआ काला सा कुत्ता तेरे बार, न्योत् जिमावण नें।

१. रुका दिया। २. इधर-उधर। ३. निकाल कर भेजा। ४. जोर जोर से
 बोला। ५. गरीब मारे जाएंगे। ६. संधि। ७. छुड़ा दिए। ८. कंपकंपी। ९. सिद्ध।
 १०. श्मशान की अधिष्ठातृ देवी। ११. फोड़ फोड़ कर। १२. समान। १३. कृपा।
 १४. भाड़ियों के पत्तों के समान।

मइआ बूँड्ठी-कुआरी तेरे वार^१, न्योन् जिमावण नें ।
 मइआ हरियल पीपल तेरे वार, छांह मुकावण नें ।
 मइआ भंगी का लड़का तेरे वार, भाँडू देणें नें ।
 मइआ कुम्हरों का लड़का तेरे वार, कुंडारे^२ ल्यावण नें ।
 मइआ भिस्ती का लड़का तेरे वार, मसक् छुटावण नें ।
 मइआ याणो-स्याणे तेरे वार, धोक् लगाणें नें ।
 मइआ तें जस्वंती मेरी मां, यो जस् लेवण नें ।

(३)

क्याहें का^३ तेरा पालणां^४, क्याहें की बट र्ही डोर^५, मुलाओ म्हारी सज्नीं,
 सिरि राम् मुलें पलणां, मुलाओ म्हारी सज्नीं । टेक् ।

आगड्^६ चंदन् का पालणां, रेस्सम् घल् र्ही डोर, मुलाओ—
 दूर खेल्हण मत् जाइओ रे ललणां, दूर बड़े बड़े हाऊ,
 देख् डरें तेरे ताऊ, मुलाओ—

एक लुगाई म्हारें आंगणें^७ री आई, होल्लर^८ के नजर लगाई, मुलाओ—
 मूंह बोल्ले नां आँख्यां खोल्ले, दूद गेरें ललणां, मुलाओ—
 नूण-राई उतार दिसोधां^९ मइआ, दूद पीवें री ललणा, मुलाओ—
 पीली-पीली टोप्पी उस की, पीला-पीला कुड़ता,
 पीला-पीला पहरें गहूणां^{१०}, मुलाओ म्हारी सज्नीं,
 सिरि राम् मुलें पलणां, मुलाओ म्हारी सज्नीं ।

(४)

पथ्वारी^{११} ए तें पथकी ए राणी
 भूल्यां नें रोहें बसेर्यां^{१२} नें पाणीं बिछड़यां नें आण मिलाइओ, हो राम् !
 पथ्वारी ए तें सीज् सुहाँगण जूं अन्-धन पाइआं,
 पथ्वारी ए तें सीज् कुआरी जूं घर-वर पाइआं,
 पथ्वारी ए तें सीज् सपूती जूं पूँत्त-घर पाइआं,
 पथ्वारी ए तें सीज् ए बूँड्ठी बेंकुंठे बाँस्ता पाइआं ।

१. बाहर, द्वार । २. मिट्टी के छोटे छोटे कूंडे । ३. काहे का । ४. झूला ।
 ५. डोरी, रस्सी । ६. अग्रवती । ७. बच्चा । ८. दूध डालता है । ९. यशोदा ।
 १०. जेवर । ११. जीवन पथ की अधिष्ठातृ देवी । १२. बसने वालों को ।

(५)

तैं चोड़ा^१ तैं चाकरा^२ तैं बिरहमां का पूत,
तेरी डाली सीज्यां तैं सदा पावें सुख,
जोआं की क्यारी चणे भरी उस नैं सीज्जें रौद्धा प्यारी,
पीपल सीज्जण नैं चली कुल अण्ण की लाज,
पीपल सीज्यां हर मिलें एक पंथ दो काज ।

(६)

तुलसां^३ माँत्ता तैं सुखदाँत्ता
बिड़ला^४ सीज्जूं तेरा, तैं कर निस्तारा मेरा ।
किरसन जी का काँद्धा देइओ,
पाटम्बर^५ की धौत्ती देइओ,
बैकुंठे बाँस्सा देइओ, हो ज्या निस्तारा मेरा ।

(७)

बड़ सीज्जूं बड़ाला^६ सीज्जूं, सीज्जु बड़ की डालही,
आप् किरसन जी भरोक्खे बैट्ठे सीज्जें रौद्धा प्यारी ।

(८)

गढ छोड़ रुक्मण बार् आई चोरी^७ तैं छाई तेरे साज नैं
साजनां नैं हम दान चांगे च्योरी तैं राखां थारी उण्णमणी^८
एक थर हर थर हर गड्वां^९ री काँण्या
काँप्पी सें कुस् की^{१०} डालिआं
एक तैं क्यूँ काँण्या मेरा लक्खी^{११} हो बाबल^{१२}
होई ए धरम् की बारिआं ।

(९)

सिकरी^{१३} में चढ गया चांद आज पूरणमाँस्सी हो लई^{१४}
साँस्सु नैं दीआ नां टूक में निरणवाँस्सी^{१५} सोगई

१. चीड़ा । २. चक्कर वाला, घेर वाला अर्थात् फला-फूला । ३. तुलसी । ४. बिरवा ।
५. पीताम्बर । ६. बड़ वाला अर्थात् बड़ का छोटा पौधा । ७. चंवरी । ८. शोभा के लिए ।
९. उज्ज्वल । १०. लोटा । ११. कुशा । १२. लखपति, अच्छा ।
१३. पिता । १४. शिखर । १५. हो ली । १६. बिना अन्न खाए ।

बखते पीस् लीआ चून् में पीआ धोरें^१ आ गई
 कोण कड़े की बदकार^२ में कौन्ची रें नौद् जगा दिआ
 कोण किस के भर्तार मेरी बखन् पड़ी में^३ नाद् गया
 गल् में^४ तो घौल्लूं पीआ ओढ़णां^५ हाथ्यां में^६ घौल्लूं जंजीर
 रोहतक् नें कर, घूं चाल-दा बड़ला बीरा^७ सें थाणेदार
 तेरी कौद् करा घूं साल की, इव कें तो गोरी^८ हम नें छोड् द्यो
 फेर रहूँ तौब्बेदार इव, कें तो गोरी छोड् द्यो।

(१०)

राम् राम् हे जौट्टां की
 हो दाँदा तन्नें पालांगां^१, तन्नें क्यूँक्कर जाणी जौट्टां की।
 ऊँच्चे ऊँच्चे तिगन^२ पहरें, आँगी पहरें पौट्टां की,
 मन्नें न्यूँक्कर जाणी जौट्टां की।
 राम् राम् हे बणिए की
 हो दाँदा तन्नें पालांगां, तन्नें क्यूँक्कर जाणी बणिए की।
 सिङ्पड् सिङ्पड्^३ चाल् चौल्ले खसबो आवें धणिए की,
 मन्नें न्यूँक्कर जाणी बणिए की।
 राम् राम् हे बाँहमण की, हो दाँदा तन्नें पालांगां,
 तन्नें क्यूँक्कर जाणी बाँहमण की।
 पतले पतले माँड्डे पोए^४, धमक्^५ लगावें दाँहमण^६ की
 मन्नें न्यूँक्कर जाणी बाँहमण की।
 राम् राम् हे नाई की
 हो दाँदा तन्नें पालांगां, तन्नें क्यूँक्कर जाणी नाई की।
 पीड्डे बँट्ठी बँट्ठी मुस्काव तलें तलें मुर्गाई सी,
 मन्नें न्यूँक्कर जाणी नाई की।

१. पास। २. बदमाश। ३. मुसीबत के समय। ४. शिरस्त्राण। ५. बड़ा
 भाई। ६. पत्नी। ७. बन्दगी, नमस्कार। ८. कैसे। ९. घघरी। १०. ऐसे।
 ११. पाँद घिसटाते हुए। १२. पकाए। १३. दमक। १४. बड़ी घघरी।
 हरियाणवी—४०

(११)

हे लत्ते कपड़े काढ़ के पाँहां नें धरदा होगा
 न्यूं तें में बी जाणू गई भीतर नें बड़दा होगा
 थर थर तें मेरा गात् कांबदा सीङ्ढी पर तें पङ्गी
 मेरी नण्डू | बोल्ली भोँभी कड़ डिगरगी^१
 ऊँपर चढ़ के देख नण्डू जी तेरा बीरा आँदा होगा
 काँद्धे ऊँपर गोल् बिस्तरा कॉल्ली पाँदा होगा
 रस्ते के मंह राम् लेटड़ी^२ उठे न्होँदा होगा
 हाँथ्यां के मांह कंधा सीस्सा मांग सजाँदा होगा
 बाँग्यां के मंह मत् ना जाइए सेंन मार ताँकैगा^३
 सण्क्तरा^४ सा गात् नार् कोए आग बाल् सिक् लेगा^५
 गाल्यां^६ में मत् ना जाइए नार, कोए परदेस्सी ताँकैगा
 सण्क्तरा सा गात् नार् कोए आग बाल् सिक्लेगा
 हरी कन्नी लाल् कन्नी या कन्नी असमोन्नी^७
 इसी बीर^८ न कोए मत् कहिओ या से बीर बिगोन्नी^९ ।

(१२)

जघां देख माली बाग् लुआ^{१०} दे छोदटी बड्डी क्यारी हो
 तर्हां तर्हां के फूल बाग् में खसबो^{११} न्यारी^{१२} न्यारी हो
 काँड्यां^{१३} की बड्बेरी^{१४} नें मेरा सारा लहंगा पाड़ दिआ
 में सर्मोही बोल्ली कोन्या अप्णां बखत् विचार लिआ
 संग की सहेल्ली बूज्खण लॉगी के ढंग से ए भाए तेरा
 फीक्का चेहरा छाई उदोस्सी के कँहग्या हे भर्तार तेरा
 ओ परदेस्सी के कँह जां थे दो घंटे तें डटे नहीं

१. चली गई । २. कष्ट पाता होगा । ३. आराम देह छोटा तालाब । ४. तकेगा ।
 ५. सन उतारने के बाद बची हुई सीखें । ६. आग जला कर तपेगा । ७. गलियों ।
 ८. शरीर । ९. आसमानी रंग । १०. स्त्री । ११. बेगानी, पराई । १२. लगवा
 दे । १३. सुगन्ध । १४. अलग अलग । १५. कांटों । १६. बेरी का बुझ ।

बखत् ऊठ के चॉल्लण, लॉगो सरण, सरण^१ मेरी काया बली^२
 सात् ढाल^३ की सात् मिठाई वे भोलें में घाल लई
 मेरे नाम की चार, नरंगी मेरी जेभ^४ में घाल दई
 कल्कत्ते के टेस्सण, ऊँप् रेल् खखाट^५ की आण, डटी
 करण, सिंग का दिल घबरा गया उन्ने जान खपा ए दई
 सात् ढाल की सात् मिठाई वा लोग्यां ने खा ए लई
 मेरे पति की सोरण, काया वा कॉग्यां ने खा ए लई
 पत्ला पत्ला छेल गाभरू इसा नणंद तेरा भाई री
 क्यूँकर कर् ल्यूं सबर, मरे का में बोल्ली ना बतलाई री ।

पहेलियां

(१)

घेर-घिराली^६ घेर-घिराली पोरी पोरी रस् ।
 बताणा हो बता नां रपइए दे दे दस् ॥ (जलेबी)

(२)

सांप् बरगा^७ पड़्या गांडला^८ दही बरगा भेस^९ ।
 बताणा हो बता नहीं छोड़ म्हारा देस् ॥
 (हंसली-एक आभूषण)

(३)

आँगा ऊँचा पाँछा नीँचा ।
 घर घर हाँड्डे रहॉम्मी^{१०} लुच्चा ॥ (कुत्ता)

(४)

ढई^{११} थी तो फूट्टी नहीं टुकड़ होगे चार ।
 बत्तिस् होगी ठेकरी चॉत्तर करें बिचार ॥
 (आठ आने का सिक्का)

१. जलने पर पैदा होने वाला ध्वनि । २. जली । ३. तरह । ४. जेब ।
 ५. तेजी को व्यक्त करने वाली ध्वनि । ६. गोल-गोल । ७. जैसा । ८. गांठ वाला ।
 ९. वेष । १०. हरामी । ११. गिरी ।

(५)

छोट्टी सी मीमनी^१ ।रॉज्जे गेल्ली जीमणी^२ ॥ (मक्खी)

(६)

छोट्टी सी चम्ची चम्-चम् करे ।

लाख् रपइआं का काम् करे ॥ (सूई)

(७)

पौहड़ां पे^३ - ते बुगले^४ आए ।

हरी टोप्पी लाल् भुगले ल्याए ॥ (हरी मिचं)

(८)

सौन्नं का मेरा अंग-अंग^५ सौन्नं का सरीर ।न्यूं नहीं बेरा पाट्दा मरद् से क् वीर^६ ॥ (वरटा)

(९)

चोट्टी चोहर चार किनारे ।

इनणीं बड्डी दिल्ली दो बण्जारे ॥ (सूर्य-चन्द्र)

(१०)

एक् बगड्^७ में बांस-बसोल्ली एक् बगड् में कूआं ।

एक् बगड् में आग्लोङ्गी एक् बगड् में धूममां ॥ (हुक्का)

बांगरू के नमूने

(१)

एक् गोगो राणी थी, गोगो ने^८ मन्नें पांख् दिआ,पांख् ले में कीक्कर टांग्या, कीक्कर ने मनें^९ सूल् दी,

सूल् ले में कूई खदाई, कूई ने मनें पाणी दिआ,

पाणी ले में डोलां सीज्जी, डोलां ने मनें धान् दिए,

धान् ले में राजा पर गई, राजा ने मनें घोड़ा दिआ,

घोड़ा ले में डूम पे गई, डूम ने मेरे बाप् दाँदे का नाम लिआ ।

१. बच्ची । २. बच्चों के कुर्ते । ३. प्रत्येक अंग । ४. स्त्री । ५. मुहल्ला, आंगन ।

(२)

एक् गंवार, किसे दन् सेंहर, में गया। उस ने एक् हल्वाई की दकान पे, खड़या हो के हल्वाई तें पूछ्या, यू काला काला के धर्या ऐ। हल्वाई बोल्या—जा जा, तेरे जिसे घरोए आदमी आवें ऐं। मगज् मार के चले जां ऐं, लेण देन् की बात नी करें। गंवार बोल्या—पीसे तो भतेरे ऐं तोह् मन्नें इस् का सुआद् बता कितो लगगे। दकनदार नें थोड़ा सा फोड़ के उस की हथेलीं पे धर दिआ। उस नें चाट के कह्या—एक् सेर, तोल् दे बई, क सुआद् ऐ। लहुआई नें एक् सेर, तोल् के उस तें दे दिआ अर, पूछ्या तोंह कोण से गेऽस रें। ओ बोल्या—तन्नें इस् बात तें के लेणा, पीसे बता कितरो छूं। दोन्नूं की आपस् में घणी देर, तक् बात चीन् होंददी रही। दोन्नो ई एक् दूसरे तें मिल के खुस् होए, क्यूंक् उस नें तो पीसे मिल गे उस ने मिठेई मिल गी।

(३)

करोंद का अचार :—इस मां तीन छटांक् नमक् पा दे तो फिर उस नें तीन दिन् के बाद जरा-जरा सका ले। बस् फिर इस् मां हींग अर, तेल अर, मसाल्ला—जीरा, सोंफ, कलौंजी, मेथी, धणियां, इन् सारी चीजों नें कट्ठी भून ले। करोंदे एक् सेर हों उन्ह मां छटांक् तेल पा दे। यो अचार साल छोड़ दस् साल रख लो। बिगडदे नीं करोंदे।

(४)

आंले का अचार :—आंला नें पाणी मां गेर दे, नमक् के, अर, तीन दिन् के बाद उन्हां नें काढ ले। बस् जरा कपड़े तें पंभू के धणियां नमक् मिरच् अर हल्दी अर आध सेर, तेल दो सर आंलों मां। हिलांदे रहो।

(५)

मोमो की साँसू इसा काम करे जिस बखत् कोए कथा होवे उसे बखत् दरवज्जे तें बहार बैठ जा, अर जो कोए पूछे उस नें वा कहें, अक् मन्नें राम का नां नी सुहाँदा मन्नें। अर बहू के पूछणे पे न्यूं कहें, अक् तन्नें सत्यानास् कर दिआ मेरा कथा कर कर के अर जिस बखत् दीवा बी जल वा न्यूं कहें, अक् दूणा करें। मेरा घर, माता का ए। इस् में कोए राम का नां नी लेणां अर पाँछे तें न्यूं कहें, इन्नें सगे नें अपणी बेटी मेरे ब्याह के मेरा सत्यानास् करा। अर मेरे

घर में^१ रोज् भजन् गावे । मन्नं सारी सिम्धणां देखी पर, मॉम्मो की साँस्सू बर्गी
एक् नी देखी दुनिआं मां ।

अहीरवाटी उपभाषा के नमूने

(१)

एक् चमारां को छोहरो^२ थो तो उंह कं गड़बड़ हो गई तो उंह का बाप नें
पंडन् से बूझ्यो के म्हारा छोरा कं के होयो । देखो न पंडन् जी । उंह नें बतायो
के थारा छोरा कं नगरकोट आली ज्वालामाई नें बिठोक्^३ करदी से । तो उंह का
बाप बोल्यो के म्हाराज् बताओ तो के करणो चाहिए । म्हाराज् जी बोल्यो के भाई
तूं न्यूं कर के ज्वाला को नाम् को कुछ करणो मंजूर कर ले । तो ओ बोल्यो
के के करणों चाहिए । म्हाराज् जी बोल्यो के सवा रपियो नालीर, चूंदड़ी ज्वाला कं
नाम् की धर द्यो, थारो छोहरो ठीक हो जागो । उंह नें धर दी । छोहरो ठीक्
हो ग्यो ।

(२)

एक् ऊंट थो, एक् गाढ़ो थो । दोन्नों आपस् में^४ दोस्त था । गाढ़ो बोल्यो,
चलो भई कचरे खाण् चालां । ऊंट बोल्यो चाल् भई । बीच में^५ एक् पाणी की
नदी आवे थी । गाढ़ो ऊंट पर बैठ लिओ अर, ऊंट नदी का मांह कं लिक्ड़ गयो ।
दोन्नों बाड़ी में^६ जाय कं कचरा खाण लाग्यो । गाढ़ो तावलो सो धाप गयो पर, ऊंट
ना धोंग्यो । गाढ़ो कँहण् लाग्यो भई मेरा मन् में^७ तो हुट-हुटी आवे से । ऊंट
बोल्यो, भाई थोड़ी सी देर डट जा, में^८ बी धाप ल्यूं सूं । फेर, बोल लिं पर, गाढ़ो
मान्यो नहीं अर जोर जोर, ते हुटहु-हुटहु करण लाग्यो । बाड़ी आला जाग्याया ।
गाढ़ो तो भाज् कं बाड़ में^९ बड़ ग्यो पर, ऊंट नें लहुकण नें जघां ना पाई । बाड़ी
आला नें आय कं ऊंट खूब पीदयो । बिचारो ऊंट पिद् कं नदी कने चलयो गयो ।
फेर, गाढ़ो बी ऊंट कने^{१०} गयो । भई मन्नं^{११} बठा ले । ऊंट नें गाढ़ो अप्णे ऊप्पर
बठा लिओ । नदी का बीच में^{१२} जाय कं ऊंट बोल्यो, भई मन्नं^{१३} तो लुटलुटिआ आंवे
सें । गाढ़ो बोल्यो—भाई में^{१४} डूब जाऊंगो । ऊंट बोल्यो—भाई जब तूं नहीं मॉन्यो

इब् में न्हीं मॉन्नूं, अर उंद नदी में लोट गयो। गाड्डो वह गयो।

(३)

एक् गाड्डो थो, एक् गाड्डी थी। दौन्नूं जंगल में रह्या करें था। एक् दिन् गाड्डी तें न्यारो अपणी भूख मिटावण खोत्तर चाल पड़्यो। एक् भाड़ी में माल्ह की माखियों को छात्तो थो। गाड्डा ने ऊंह में^xह तें सहत् खूव खायो। घर आय के गाड्डी से कहण लाग्यो—आज तो भोत् अच्छी चीज खाई। गाड्डी विचारी बाड्यां में चूही-चाही खाय के आई थी। दूसरे दिन् गाड्डी ने गाड्डो अपणे साथे ले गयो। दूसरे दिन् माल्ह की माखियां का भरोस्सा में ततिआं का छाता में अपणो मुंह घुसा दिआ अर ऊंह के भोत् घणे ततिआ लड़ गया। फेर गाड्डो गाड्डी तें बोल्हो—या तो हठिओ जीवें नां या जीव तो रस् पीवें नां।

सहायक सामग्री

- | | |
|---|----------------------------------|
| १. सामान्य भाषा विज्ञान | डा० बाबूराम सक्सेना |
| २. तुलनात्मक भाषा शास्त्र अथवा
भाषा विज्ञान (१९५१ संस्करण) | डा० मंगल देव शास्त्री |
| ३. भाषा विज्ञान (१९५१ संस्करण) | डा० भोलानाथ तिवारी |
| ४. हिन्दी भाषा का इतिहास
(१९४६ संस्करण) | डा० धीरेन्द्र वर्मा |
| ५. हिन्दी भाषा और लिपि
(१९५७ संस्करण) | डा० धीरेन्द्र वर्मा |
| ६. हिन्दी का उद्गम तथा विकास
(१९५६ संस्करण) | डा० उदय नारायण तिवारी |
| ७. राजस्थानी भाषा की रूपरेखा
(संवत् २००८ संस्करण) | पुरुषोत्तमलाल माणरेरिया |
| ८. भोजपुरी भाषा और साहित्य
(१९५४ संस्करण) | डा० उदयनारायण तिवारी |
| ९. प्राकृत प्रकाश | डा० ए० सी० ऊलनर |
| १०. हेमचन्द्र शब्दानुशासनम्
(१९३१ संस्करण) | हेमचन्द्र सूरि |
| ११. दक्खिनी हिन्दी
(संवत् २००० संस्करण) | डा० बाबूराम सक्सेना |
| १२. प्राकृत विमर्श (१९५४ संस्करण) | डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल |
| १३. पाइत्र सद् महण्णवो
(सं० १९७६, ८०, ८२ तथा ८५ संस्करण) | पं० हरगोविंद दास त्रिकम चन्द सेठ |
| १४. पुरानी हिन्दी (संवत् २००५ संस्करण) | पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी |
| १५. हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का
वैज्ञानिक अध्ययन | श्री शमशेर सिंह नरूला |
| १६. हिन्दी कारकों का विकास | डा० शिवनाथ |
| १७. ब्रजभाषा वनाम खड़ी बोली
(१९५६ संस्करण) | डा० कपिलदेव सिंह |

सहायक सामग्री

१८. पाणिनीय शिक्षा
 १९. लघुमाध्यन्दिनीय शिक्षा
 २०. प्राकृत प्रकाश
 २१. प्राकृत मंजरी
 २२. प्राकृत व्याकरण (शब्दानुशासन)
 (१९३१ संस्करण)
 २३. तारीख ज़बाने उर्दू डा० मसऊद हुसैन
 २४. आवेहयात मुहम्मद हुसैन आज़ाद
 २५. हिन्दुस्तानी लिसानियात मही उद्दीन कादरी ज़ोर
 २६. पंजाब में उर्दू महमूद शेरानी
 २७. ब्रजभाषा का व्याकरण डा० धीरेन्द्र वर्मा
 २८. हिन्दू, उर्दू और हिन्दुस्तानी पद्मसिंह शर्मा
 (१९५१ संस्करण)
 २९. पंजाबी और हिन्दी का सामान्य भाषा विज्ञान (सं० १९८२ संस्करण) दुनीचन्द
 ३०. उर्दू हिन्दी कोष रामचन्द्र वर्मा
 (१९४८ संस्करण)
 ३१. सबरस सम्पादक : अबदुल हक
 ३२. दक्कन में उर्दू नसीर उद्दीन हाशमी

अन्य विविध पुस्तकें

३३. ग्रामीण हिन्दी डा० धीरेन्द्र वर्मा
 ३४. हरियाणा के लोकगीत श्री एम० एस० रंधावा और देवीशंकर
 ३५. गोडोत्पत्ति गौडपादाचार्य श्री परमेश्वराचार्य
 ३६. मनुस्मृति
 ३७. पाणिनिकालीन भारतवर्ष डा० वासुदेव शरण अग्रवाल
 (१९५५ संस्करण)
 ३८. भारतीय अनुशीलन प्रो० जयचन्द्र विद्यालंकार
 ३९. हरियाणा प्रदेश का लोक साहित्य डा० शंकर लाल यादव

सहायक सामग्री

लेख

हरियाणो की भाषा

पं० स्थाणुदत्त शर्मा

(भाषा विभाग पंजाब की १९५८ की
लेखक गोष्ठी में पढ़ा गया निबन्ध)

बांगरू की ध्वन्यात्मक संरचना

डा० जगदेव सिंह

(भाषा विभाग पंजाब की १९६२-६३
की लेखक गोष्ठी में पढ़ा गया निबन्ध)

पंजाबी दुनिया-उपभाषा-अंक

(अक्तूबर, नवम्बर ५५)

पंजाबी ते लहंदी

डा० हरदेव बाहरी

(भाषा विभाग पंजाब की १९५८-५९ की

पत्रिका)

लेखक गोष्ठी में पढ़ा गया निबन्ध)

A Select Bibliography

LINGUISTICS

- | | |
|---|----------------------------------|
| 1. Language (1948 Edn) | <i>Leonard Bloomfield</i> |
| 2. An Introduction to Descriptive Linguistics (1955 Edn) | <i>Gleason</i> |
| 3. A course in Modern Linguistics (1958 Edn) | <i>Hocket</i> |
| 4. Introduction to comparative Philology (1962 Edn) | <i>P. D. Gune</i> |
| 5. Origin and Development of Bengali language | <i>Dr. S. K. Chatterji</i> |
| 6. Indo Aryan and Hindi (1942 Edn) | <i>Dr. S. K. Chatterji</i> |
| 7. A Grammar of the Hindi Language (1938 Edn) | <i>Rav. S. H. Kellog</i> |
| 8. Linguistic Survey of India (1916 Edn) | <i>George Grierson</i> |
| 9. Hindustani Phonetics (1930 Edn) | <i>Dr. Mohiuddin Qadri</i> |
| 10. Comparative Grammar of Modern Languages of India (1872 Edn) | <i>John Beams</i> |
| 11. Comparative Grammar of Prakrit by Pischel-Translated into Hindi | <i>Subhadra Jha</i> |
| 12. Verbal composition in Indo Aryan (1948 Edn) | <i>Ram Chandra Naryan Vale</i> |
| 13. Historical Grammar of Apabhramsa (1948 Edn) | <i>Ganesh Vasudev Tagre</i> |
| 14. Historical Grammar of Inscriptional Prakrits (1948 Edn) | <i>Madhukar Annand Mahendale</i> |
| 15. Evolution of Awadhi (1937 Edn) | <i>Babu Ram Saksena</i> |
| 16. Dhvani Vicara (1955 Edn) | <i>N. G. Kelkar</i> |

A SELECT BIBLIOGRAPHY

17. Introduction to Hindi and Punjabi (1960 Edn) *T. R. Sharma*
18. A comparative phonology of Hindi and Punjabi (1961 Edn) *V.B. Arun*
19. Punjabi Grammar (1896 Edn) *E. P. Newton*
20. Sanskrit English Dictionary (1956 Edn) *Monier William*
21. Comparative and Etymological Dictionary of Nepali Language (1931 Edn) *R. L. Turner*
22. Jatu Glossary *E. Joseph*

BOOKS ON HISTORY (For Haryana)

23. Gazetteers of Rohtak (1910), Hissar (1872), Jhind (1872), Phulkian States, Delhi (1908) and Dujana State (1908).
24. Imperial Gazetteer of India, (Provincial Series) Punjab (1908 Edn).
25. A Dynastic History of India. Vol. II *H.C. Ray*
26. Epigraphic Indo. Muslamica *Gulam Yazdani*
27. Settlement Report on the Revenue of Hissar Distt. (1863-54) *Munshi Amin Chand*



22. 23 / 24
25 26 27 28 29 30 31 32 33 34 35 36 37 38 39 40 41 42 43 44 45 46 47 48 49 50 51 52 53 54 55 56 57 58 59 60 61 62 63 64 65 66 67 68 69 70 71 72 73 74 75 76 77 78 79 80 81 82 83 84 85 86 87 88 89 90 91 92 93 94 95 96 97 98 99 100

